विचार मासिक

सद्विचार की वर्णमाला में
सदाचार का प्रवर्तन

वर्ष ३; अंक १२; अप्रैल १९७४
वीर निर्वाण संवत् २५००;
वैशाख २०३१

संपादन : डॉ. नेमीचन्द जैन
प्रबन्ध : प्रेमचन्द जैन
सज्जा : संतोष जड़िया
संयोजन : बाबूलाल पाटोदी

वार्षिक	: दस रुपये
विदेशों में	: अठारह रुपये
एक अंक	: एक रुपया
प्रस्तुत अंक	: पांच रुपये

☐

इस अंक का मुद्रण
नई दुनिया प्रेस, इन्दौर

☐

प्रकाशक
हीरा-भैया-प्रकाशन,
१४, भोपाल कम्पाउण्ड,
सरवटे बस-स्टेशन के सामने,
इन्दौर ४५२००१, म. प्र.

एक कला-समीकरण

तीर्थंकर के सज्जाकार श्री संतोष जड़िया से जब यह कहा गया कि उन्हें मुनिश्री विद्यानन्द-विशेषांक के लिए आवरण तैयार करना है तब उन्होंने एक ही अहम सवाल किया: जैन मुनि, या मुनिश्री विद्यानन्द ?' मैं जड़िया के कला-मर्म को पहिचान गया। उनकी आँखों ने मुनिश्री विद्यानन्दजी में जैन मुनि के साधारणीकरण के ही दर्शन किये थे। वे मुनिश्री में तीर्थंकर की वीतरागता, जिसका न तो बैल चिह्न है और न ही बन्दर, अपितु जो सामान्य है, जिसमें भेद-विज्ञान तो है किन्तु भेदक कुछ भी नहीं है, ही देख सके। उन्होंने एक समीकरण प्रस्तुत किया : मुनिश्री विद्यानन्द=मोक्षमार्ग अर्थात् रत्नत्रय+शिलाखण्ड+मुनित्व के सामान्य प्रतीक पिच्छी और कमण्डलु; और इन सबको परम्परित रंगों के संयोजन में बांध दिया। इस तरह संपूर्ण आकृति आकार होने के साथ ही निराकार भी है; वह सामान्य मुनित्व की परिदर्शिका होने के साथ ही मुनिश्री विद्यानन्दजी के व्यक्तित्व की, उनकी आधी सदी की विचार एवं साधना-यात्रा की प्रतिनिधि भी है। हिमालय से लेकर मैदानों तक हुए उनके मंगल विहारों की प्रतिच्छाया तो वहाँ है ही, साथ ही पुद्गल से आत्मतत्त्व के विखण्डन की साधना भी इन रंगों और आकारों में प्रकट हुई है। सम्यक्त्व का त्रिक भी अपने समग्र वैभव के साथ शीर्ष पर स्थापित है। जैन सिद्धान्तों का इतना सूक्ष्म अंकन, जो मोक्षमार्ग के संपूर्ण माध्यमों को व्यक्त करता हो, इस तरह कहीं और देखने को नहीं मिलता। रंग और रेखाओं के कलश में जैन तत्त्वदर्शन को जिस कौशल के साथ यहाँ संजोया गया है, वह स्मरणीय है। —संपादक

क्या/कहाँ

विद्यानन्द-खण्ड (७-१२२)

महावीर-खण्ड (१२३-१७०)

जैनधर्म-खण्ड (१७१-२२४)

सालगिरह : एक गुलदस्ते की

मुनिश्री विद्यानन्दजी का पच्चासवां वर्ष संपन्न करना और इक्यावनवें वर्ष में पग रखना एक लोकमंगलकारी प्रसंग तो है ही, मानवता के लिए शुभ शकुन भी है। उनका आधी शताब्दी का यह जीवन एक समर्पित व्यक्तित्व का वैविध्य से भरा जीवन है। उनकी वाल्यावस्था से लेकर अवतक के जीवन की प्रमुख घटनाओं की समीक्षा जव हम करते हैं तव लगता है जैसे वे केवल जैनों के ही नहीं देश की शताब्दियों में विकसित आध्यात्मिक मान्यताओं के जीवन्त इतिहास हैं। उनकी अवतक की विचार-यात्रा का हर पड़ाव लोकजीवन को कोई-न-कोई दिशा देने के लिए प्रकाशस्तम्भ वनकर प्रकट हुआ है, उसका संवल वना है। उनके विभिन्न नगरों में हुए प्रवचनों ने भारत की अन्तरात्मा को जगाया है और लोकजीवन को प्रवुद्ध किया है। गौर से नजर डालने पर हम देखते हैं कि मुनिश्री का अवतक का जीवन मात्र व्यक्तिगत उठान पर केन्द्रित नहीं है अपितु एक समरस आध्यात्मिक साधना के साथ ही अनासक्ति और अपरिग्रह की उत्तम प्रयोगशाला भी सिद्ध हुआ है। ज्ञान को लेकर भी उन्होंने ग्रन्थीय और स्वानुभविक प्रयोग किये हैं। निर्ग्रन्थ होकर ग्रन्थों का जो अभीक्ष्ण पारायण उन्होंने किया है और परम्परा की जो युक्तियुक्त व्याख्याएँ की हैं, उनसे अन्धविश्वासों की नींव हिली है और आदमी को प्रखर मनोवल प्राप्त हुआ है। भारतीयता को जो नयी वितति मुनिश्री के उदार चिन्तन से प्राप्त हुई है, उसे राष्ट्र का इतिहास कभी भूल नहीं पायेगा।

संत्रस्त लोकजीवन और सुलगती समस्याओं के वीच मुनिश्री की यह सालगिरह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इन सुनहले क्षणों में हमें मुनिश्री के जीवन-तथ्यों और उनके विचार-मन्थन को गौर से देखना चाहिये। उनकी अनैकान्तिनी मुद्रा निश्चय ही हमें कई समाधान दे सकती है और कई कठिनाइयों के वीच भी किसी आसान राह को हम पा सकते हैं।

मुनिश्री की कुछ आस्थाएँ हैं जो उन्हें लीक-लीक चलने वाले मुनियों से अलग करती हैं। वे दिगम्वर परम हंस हैं; अनासक्त, अपरिगृहीत। उन्हें संसार से चाहिये ही कितना? विन्दु-सा आदान और सिन्धु-सा प्रदान उनकी जीवन-सन्तति है। अंजलि लेना और दरिया देना उनकी रोजमर्रा की चर्या है। यही कारण है कि इस उदारचेता सन्त के माध्यम से शताव्दियों से पक रहा विश्वधर्म आज पूरी समर्थता से आकार ग्रहण करना चाहता है। उनके द्वारा उद्घोषित विश्वधर्म नया नहीं है, शाश्वत है। धर्म के पास नया कभी कुछ होता ही नहीं, जो होता है सनातन होता है। किसी भी वस्तु का नया होना कई खतरों से घिरा है, जिनमें से एक है उसका पुराना होना। यही वजह है कि मुनिश्री के सारे प्रवर्तन "उत्पादव्ययध्रौव्य" के सूत्र-चक्र पर चढ़े हुए हैं; न नये, न गये; सदैव, सनातन, एक-जैसे। उनकी तत्त्वदृष्टि का मर्म यही है, यहीं है। एक गहरी निर्ग्रन्थता और आकिंचन्य उनकी हर सांस में वुने हुए हैं। इस निर्लिप्तता के साथ गहरे-गहन सामाजिक

वात्सल्य का निर्वाह लोगों को आश्चर्य में डाल देता है; किन्तु जो सघन वत्सलता और करुणा मुनिश्री के आचरण में दिखायी देती है वह उनके भीतरी अँवे में पक रही निर्ममता की ही परिणति है। ममत्व का शून्य पर पहुँचना ही उसका अधिक प्रगाढ़ और विस्तृत होना है। मुनिश्री की ममता एक नये आयाम पर आकर विश्व-वात्सल्य में आकृत हुई हैं। अपार करुणा के कारण ही अब उनका अपना जीवन उनका अपना कहाँ है, वह तो संपूर्ण विश्व में व्याप्त जीवन-जैसा कुछ हो गया है। हिमालय पर चढ़कर जिसने संपूर्ण भारत और विश्व के भाग्य-विधान को देखा हो, उसके विश्वव्यापी होने की स्थिति को हम किसी कोशिश पर नकार नहीं सकते।

जैनाचार्यों और मुनियों की परम्परा में मुनिश्री विद्यानन्द की ओर जब हम देखते हैं तो ऐसा लगता है मानो इस महामुनि की जीवन-यात्रा में सारे आचार्य, उपाध्याय और मुनि समवेत प्रतिच्छायित हुए हैं। मुनिश्री यदि मात्र जैनों के ही हों तो हम उनकी चर्चा करना भी पसन्द न करें; किन्तु वे अपने जीवन-चिन्तन में जैन होने से पूर्व अत्यन्त मानवीय हैं और इसीलिए भिन्न भी हैं। ऐसे कई उदाहरण हैं जब कोई मुनि तो है, किन्तु मानवीय नहीं है; ऐसे में मुनित्व की पराजय है। जब मुक्ति के लिए मानवत्व अवश्यम्भावी है तो मुनित्व के लिए तो वह है ही। विद्यानन्दत्व की महत्ता इसमें है कि वह अपनी चर्या और विचार-यात्रा में केवल जैन नहीं है, संपूर्ण भारतीयता के समवेत पुंज है। १९७० ई. में मुनिश्री ने हिमालय की जो पद-यात्रा की और सांस्कृतिक समन्वय की जिस गंगोत्री को उन्मुक्त किया, वह अविस्मरणीय है। उसने वर्तमान युवापीढ़ी को मानव के चान्द्र तल-आरोहण से भी अधिक प्रभावित किया है। विस्मयकारी यह है कि मुनिश्री कभी यह देख ही नहीं पाते कि उनकी सन्निधि में जो बैठा है वह जैन है, हरिजन है, खेतिहर है, श्रमिक है, प्राध्यापक है, या कुलपति है। उनकी दृष्टि इतनी पारगामी है कि वह हर आदमी में बैठे आदमी को देख लेती है और वहीं पहुँचकर उसे प्रभावित करती है। वह तलाशते ही यह हैं कि जो पास बैठा है वह क्या चाहता है, उसकी मानवीय ऊर्जा कितनी है और उसे मानवता के कल्याण में कितना मोड़ा जा सकता है, इसीलिए उनकी दृष्टि में भेद-विज्ञान तो निवास करता है, भेद नहीं ठहरता ; जैनधर्म में भी भेदविज्ञान का महत्त्व है, भेद महत्त्वहीन है। मुनि विद्यानन्द परम जैन श्रमण हैं, हर तरह से फकीर यानी निर्ग्रन्थ। उनकी वैश्विक दृष्टि मुसलमान, हिन्दू, सिक्ख, ईसाई, और पारसी में कोई फर्क नहीं कर पाती। उनकी विचार-यात्रा संप्रदायातीत है, संकीर्णताओं को अतिक्रान्त करती, अत्यन्त पावन।

उनकी विचार-यात्रा की प्रमुख विशेषता यह है कि वे विकास की महत्ता को स्वीकार करते हैं। उन्हें जड़ता और प्रमाद अस्वीकार है। वे किसी एक स्थिति को, जिसका विकास संभव है, मंजूर नहीं कर पाते; इसीलिए विकास को वे धर्म मानते हैं और हर अस्तित्व को पुरश्चरण की प्रेरणा देते रहते हैं। वे अनुक्षण ऊर्ध्वग हैं अतः जीवन की उदात्त ऊर्ध्वगामी शक्तियों में उनकी गहन आस्था है। समय के एक-एक क्षण और समय (आत्मा) के एक-एक ऊर्जाकण का वे उसकी संपूर्णता में उपयोग करना चाहते हैं, यही कारण है कि उन्हें वे लोग बिलकुल नापसन्द हैं जो समय के मूल्य को नहीं समझते और जिन्हें समय की शक्तियों की पहिचान नहीं है। वे समय की सही पकड़ को विकास की आत्मा मानते हैं

और उसका उसकी समग्र ऊर्जस्विता में इस्तेमाल करना चाहते हैं। प्रवचन में उनका विश्वास है, भाषण में नहीं; वे अपना कहा हुआ जीवन में ज्यों-का-त्यों घटित देखना चाहते हैं; यानी जो घटा चुकते हैं उसे ही वाणी पर लाते हैं। उनकी अनैकान्तिनी वाणी में भारत की विगत ढाई हजार वर्षों की चिन्तन-यात्रा की एक सार-पूर्ण झलक दिखायी देती है। उनके प्रवचनों में होने वाली भीड़ें उल्लेखनीय हैं, कोई भी वक्ता इतनी बड़ी भीड़ को पाकर उन्मादी हो सकता है; किन्तु मुनिश्री की वाग्मिता इसलिए महत्त्व की है कि वह भीड़ में भी उन्हें अकेला रखती है और अकेले में भी समुदाय के बीच रख सकती है। वें वाग्मी–निर्लिप्त–निष्काम सन्त हैं। दिगम्बरत्व की यही तो विशेषता है कि वह एकान्त में भी अनेकान्त की आराधना कर सकता है और अनेकान्त में भी एकान्त का अनुभव कर सकता है। वह बह्वर्थवादी होता है, किन्तु किसी एक अर्थ, या मुद्दे पर रुक जाने को वह सार्थक नहीं मानता। मुनिश्री शब्द की अपेक्षा उसके अर्थ और संदर्भ पर ध्यान रखते हैं, इसीलिए "एकान्त" "भीड़" "अनेकान्त" इत्यादि सारे शब्द उन्हें दिक्कत में नहीं डाल पाते। भला जो शब्द को परेशानी में डाल सकता हो, उसे शब्द परेशानी में कैसे डाल सकते हैं ? गहरी पेठ होने के कारण मुनिश्री हर स्थिति को अपने अनुरूप और हर स्थिति में यदि आवश्यक हुआ तो उसके अनुरूप होने-ढलने की क्षमता रखते हैं। उनकी वैचारिक सहिष्णुता उदाहरणीय है।

एक अजीब बात है। यह जानते हुए भी कि विद्यानन्दजी जैन मुनि हैं सभी संप्रदाय, वर्ग और पेशे के लोग उनसे पूरी उन्मुक्तता के साथ मिलते हैं और जी-खोलकर विचार-विमर्श करते हैं। मुनिश्री भी प्रायः सबसे बिना किसी भेदभाव के स्थित्यतीत होकर मिलते हैं। यह नहीं कि उनसे मिलने या उनके दर्शन करने कोई एक प्रदेश या भाषा आती हो प्रायः सारा भूगोल और संस्कृतियाँ उनके दर्शनार्थ पहुँचती हैं। इसके पीछे उनके व्यक्तित्व का यही चुम्बक काम करता है कि वे रूढ़ या परम्परावादी नहीं हैं, स्वाभाविक हैं और हर आदमी को स्वाभाविक होने की सलाह देते हैं। स्वभाव ही धर्म है। इस वाक्य को मुनिश्री के जीवन में चरितार्थ देखा जा सकता है।

मुनिश्री की इस इक्यावनवीं सालगिरह को हम एक गुलदस्ते की सालगिरह कह सकते हैं। वे गुल नहीं हैं, एक सम्मोहक गुलदस्ते हैं, रंगविरंगे फूलों के स्तवक। अनेकान्त और गुलदस्ते में कोई फर्क नहीं है। दोनों वैविध्य को मानते हैं, और उसे एक ही बन्धन में समेटने की क्षमता रखते हैं। जिस तरह एक गुलदस्ता कई महकीले-सुरभीले रंगों और आकृतियों के फूलों को एक साथ लेकर अपने व्यक्तित्व की रचना करने में समर्थ है ठीक वही स्थिति मुनिश्री की है; वे वैविध्य की पर्याय-सत्ता को मानते हैं और अपनी अनैकान्तिनी प्रतिभा से उसे समायोजित रखते हैं। वे कई परस्पर-विरोधी शक्तियों और दृष्टिकोणों के समायोजन हैं, इसलिए हमने उनकी सालगिरह को एक स्तवक की वर्षग्रन्थि का संबोधन दिया है।

हो सकता है कुछ लोगों को ऐसा लगे कि मुनिश्री विद्यानन्द सबको प्रसन्न रखने के लिए हर हमेश किसी फारमूले की खोज में रहते हैं, और उनका विश्वधर्म इसी तरह का कोई फार्मूला हो। यह उन लोगों का भ्रम है। सचाई यह है कि आप चाहे जो कीजिये, सब लोग प्रसन्न कभी हो ही नहीं सकते, और फिर मुनिश्री को ऐसी कौन-सी गरज है जो वे दुनिया-भर के धर्मों को इकट्ठा करके अलग से कोई खिचड़ी पकायें। वे तो इस बात के उज्ज्वलतम प्रतीक हैं कि जब हम दुराग्रह से विरक्त हो जाते हैं और अपनी स्वाभाविक ऊर्जा में श्वास लेने लगते हैं तो जो धर्म करवट लेकर सामने आता है, वही विश्वधर्म है। विश्वधर्म कोई सम्मिश्रण नहीं है, वह समझौता भी नहीं है। वह 'कुछ इससे, और कुछ उससे' की परि-

णति भी नहीं है, वस्तुतः वह आत्मा की निर्मल अवस्था का ही उद्रेक है। यदि आप स्वभाव में आ जाएँ तो ऐसी स्थिति में आत्मा का जो विकिरण (रेडिएशन) होगा वही विश्वधर्म की आधार-भूमियाँ तैयार करेगा।

मुनिश्री जिस परम्परा की सन्तति हैं, उसमें अन्धविश्वासों और आडम्बरों के लिए कोई स्थान नहीं है। वहाँ जो जिया गया है, वही कहा गया है और आगे चलकर वही पूरी तरह उपलब्ध भी हुआ है। इस परम्परा में सिद्धान्त के साथ जीना ही महोपलब्धि है। आज जो अराजकता छायी हुई है वह सिद्धान्त के साथ न जीने के कारण है; यानी सिद्धान्त है, किन्तु उसके साथ जीने की कोई स्थिति नहीं है। वस्तुतः विधायक के लिए आज सिद्धान्त है ही नहीं; जब विधान या शास्त्र की यह अपंगावस्था थी तब महावीर उठे थे और उन्होंने शास्त्रकारों को इस द्वैत के लिए ललकारा था; अतः आत्मक्रान्ति ही मूल में समाज-क्रान्ति है, इस मर्म की खोज ही मुनिश्री की इक्यावनवीं सालगिरह है।

मुनिश्री का जीवन सूरज की तरह का निष्काम और तेजोमय जीवन है। वे दृष्टा हैं, दृष्टि हैं; वे देखते हैं, और अन्यों को समग्रता में सामने खड़ी स्थिति को देखा जा सके इतना मांज देते हैं। सूरज उषःकाल से सायंकाल तक अरुक यात्रा करता है। वह अपनी किरण-अंगुलियों से छूता-भर है, किन्तु यदि आप उसकी इस छुहन से अस्पृष्ट रह जाते हैं तो वह रोष नहीं करता, वह तो निष्काम अपनी राह निकल जाता है। ऐसे में भी उसके मन में न कोई आकुलता होती है और न कोई रोष; इसके विपरीत होता है दुगना उत्साह। इसी तरह धरती पर अरुक चलते रहना मुनिश्री का काम है। वे अपनी तीर्थयात्रा पर अविराम चल रहे हैं अंधेरे को अस्वीकारते और उजेले की अगवानी करते। जीवन के मध्याह्न में आज उनकी प्रखरता बराबर बढ़ती जाती है। उनकी कामना है कि लोग आगे आयें और प्रकाश को झेलने के लिए अपना व्यक्तित्व बनायें। मुनिश्री प्रकाश पर न्योछावर व्यक्ति हैं, उनका सारा जीवन आत्मानुसन्धान पर समर्पित है। वे जो भी लोककल्याण करते हैं, या उनसे होता है वह छाछ-मात्र है उनकी अखट-अविराम साधना की, असली नवनीत तो उनका आत्ममन्थन है जो लगभग उन तक ही सीमित है। हमें जो मिलता है वह मठा है, नवनीत जो उनके पास है, जो हमें मिल सकता है, अक्सर शब्दातीत ही होता है। इसलिए आज हम जो उनका उद्ग्रीव पग देखरहे हैं इक्यावनवें वर्ष की ओर, वह उनकी आत्मकल्याण-साधना का ही एक निष्काम अध्याय है।

विश्वधर्म मुनिश्री विद्यानन्दजी का कोई पृथक् प्रतिपादन नहीं है। वह भारतीय परम्परा में सदियों से आकार ग्रहण कर रहे विश्व-कल्याण का नव्यतम संस्करण है। तीर्थंकरों ने जिन तथ्यों को प्राणिमात्र की हितकामना से, जो उनके आत्मकल्याण की ऊर्जा का एक भाग थी, प्रकट किया था, विश्वधर्म उसी का रूपान्तर है। अतः इन स्वर्णिम क्षणों में हम चाहेंगे कि मुनिश्री के 'विश्वधर्म' को उसकी संपूर्ण गहराइयों में तलाशा जाए ताकि हम उसकी सूक्ष्मताओं को जान सकें। यदि हम थोड़ा प्रयास करें तो पायेंगे कि यह विश्वधर्म महावीर का प्राणतन्त्र ही है। महावीर ने तीर्थंकरों की परम्परा में चलकर प्राण-मात्र का सम्मान करने की बात कही थी, वे जनतन्त्र नहीं प्राणतन्त्र के प्रतिपादक थे; उस प्राणतन्त्र के, जिसकी नींव में करुणा अपनी संपूर्ण प्रखरता के साथ धड़क रही है। मुनिश्री का ५१ वें वर्ष में प्रवेश इसी प्राणतन्त्र की वर्षग्रन्थि है। चूंकि यह तन्त्र अमर है, अनन्त है; अतः विद्यानन्दत्व भी उतना ही अमर है, अनादि है, अनन्त है। हम आत्मदीप की इस अकम्प-अखण्ड लौ को प्रणाम करते हैं!! □ □

ऐसे थे सुरेन्द्र
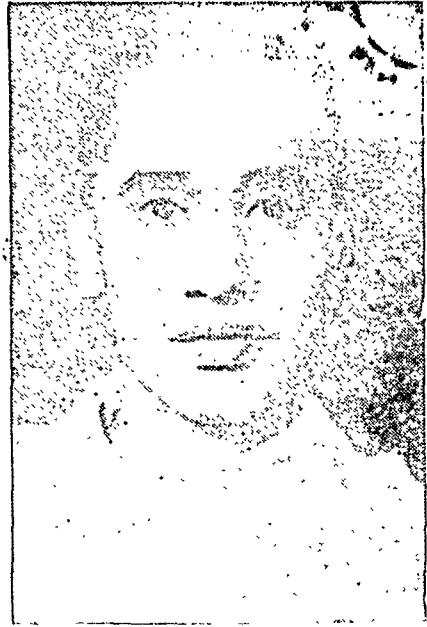
लोगों ने प्रश्न पूछे, समझाने-बुझाने की अनगिन कोशिशें कीं, रोकने के असफल प्रयत्न किये, लेकिन ऊगते सूरज को भला कौन रोकता ?

—वासुदेव अनन्त मांगळे

मुनि विद्यानन्दजी के नाम से विख्यात महात्मा का जन्म २२ अप्रैल १९२५ के दिन कर्नाटक के शेडवाल नामक एक छोटे-से गाँव में हुआ था। माता-पिता ने प्यार से बालक का नाम सुरेन्द्र रखा । आज सुरेन्द्र नाम का वह बालक देवताओं का सिरमौर 'सुरेन्द्र' ही नहीं मानवों का सिरमौर 'मानवेन्द्र' बन गया है ।

शेडवाल में पाँच सौ वर्ष पुराने जिन-मन्दिर के प्रमुख पुजारी श्री आण्णाप्पा उपाध्ये सुरेन्द्र के बाबा थे। उनके दो पुत्र श्री भरमप्पा और श्री कालप्पा शेडवाल गाँव की पुरानी पर हवा और रोशनीदार हवेली में रहते थे। सारा गाँव श्री आण्णप्पा और उनके दोनों पुत्रों की विद्वत्ता और मृदु व्यवहार का कायल था। सुरेन्द्र की माता सौभाग्य-वती सरस्वतीदेवी सुशील, स्नेहमयी और अतिथि-सत्कार करने वाली थीं। ऐसे सात्विक, सदाचारी और सुसंस्कृत माता-पिता का, और ऐसे सुरुचिपूर्ण वातावरण का प्रभाव बालक पर पड़ना ही था ।

सुरेन्द्र बचपन से ही सबकी आँखों के तारे थे । उनका व्यक्तित्व बरबस ही सबको आकर्षित कर लेता था। नाना-नानी , दादा-दादी सभी उन पर लाड़ बरसाते थे। उनको

डांटने की किसी की इच्छा ही नहीं होती थी। कुछ हद तक इसी लाड़-प्यार में आरंभिक पढ़ाई की शुरुआत भी देर से हुई। पिताजी के स्थानान्तर से भी कुछ कठिनाइयाँ आयीं।

पढ़ाई तो एक दिन शुरू होनी ही थी। सुरेन्द्र का पहला विद्यालय था दानवाड ग्राम का मराठी प्राथमिक विद्यालय! गांव में अधिकतर लोग जैन थे। पुजारी होने के नाते परिवार का निवास मन्दिर में ही था और मन्दिर सदा साधु-संतों का केन्द्र बना रहता था। बालक सुरेन्द्र पर भी उस वातावरण का प्रभाव पड़ा। धर्म-सभा, कथा-पुराण, भजन-कीर्तन सदा ही होते। बालक सुरेन्द्र संगीत में रुचि लेने लगे।

सुरेन्द्र ५-६ वर्ष के होंगे तभी की यह बात है। चातुर्मास में एक दिगम्बर मुनि मन्दिर में ठहरे थे। सुरेन्द्र सदा उनके पास रहते और सेवा का अवसर ढूंढते। मुनिजी के लिए गरम पानी ले जाते। इतने छोटे बालक की इतनी लगन देखकर मुनिजी उन्हें आशीर्वाद देते और बड़े स्नेह से उन्हें पिच्छि से छूते। पिच्छि से सुरेन्द्र को यों भी बड़ा प्रेम था। सदा पिच्छि के रंगीन पंख निहारते और देर तक उसे हाथ में लिये रहते। माँ कहतीं, "इसके हाथ में पिच्छि ही है।" कितने सही थे वे शब्द!!

पिताश्री कालप्पा को सदा यही चिन्ता सालती रहती कि बार-बार तबादलों से बालक सुरेन्द्र की पढ़ाई का नुकसान न हो; अतः उन्होंने शेडवाल गांव में सरकारी कानड़ी विद्यालय में बालक को भरती करवा दिया। मराठी विद्यालय से कानड़ी विद्यालय में आने के कारण सुरेन्द्र का मन उसमें नहीं लगा। खेलने का शौक तो था ही, खिलाड़ी साथी भी मिल गये। डाँटने वाला कोई था नहीं, इसलिए पढ़ाई-लिखाई की बजाय घूमने-फिरने में ही समय बीतने लगा। आखिर एक दिन इसका समाधान ढूँढ़ना ही था और वह हुआ "श्री शान्तिसागर छात्रावास" में सुरेन्द्र का प्रवेश!

शेडवाल के "शान्तिसागर छात्रावास" में पढ़ाई का माध्यम मराठी होने के कारण सुरेन्द्र का मन वहाँ लग गया। दस वर्ष के सुरेन्द्र आश्रम के कार्यक्रमों में रुचि-पूर्वक भाग लेने लगे। काम कोई भी हो—झाड़ू लगाना, या फूल तोड़ना; मन्दिर के बर्तन माँजना या चन्दन घिसना; सुरेन्द्र सदा अगुआई करते। बागवानी का उन्हें बहुत शौक था। बड़ी मेहनत से क्यारी तैयार की, उसमें बीज डाले, पानी दिया, खाद दिया। औरों की क्यारियों के पौधे बढ़ने लगे, मगर इस क्यारी के पौधे बढ़ते ही नहीं थे। सब लोग हैरान थे। आखिर पता चला कि सुरेन्द्र छोटे-छोटे अंकुरों को उखाड़-उखाड़ कर देखते कि वे कितने बढ़ रहे हैं! इसीसे उनकी अनुसंधानात्मक वृत्ति का सहज परिचय मिल गया।

बचपन से ही सुरेन्द्र में अनेक गुण प्रकट होने लगे। छोटे साथियों की मदद करना, बीमारों की सेवा करना, दीन-दुखियों को ढाढ़स बंधाना, ये काम वे सदा करते। एक

(बायें से : खड़े) सुरेन्द्र के पितामह श्री आण्णाप्पा, मातामह श्रीमती उमाताई (बैठे) बड़े चाचा श्री भरमप्पा, पिताश्री कालप्पा आण्णाप्पा उपाध्ये, छोटे चाचा, श्री आदिनाथ।

बार एक बुढ़िया के सिर पर सब्जी की टोकरी रखवानी थी। बड़े-बड़े लड़के तो उसकी मदद करने नहीं आये, पर छोटे सुरेन्द्र ने सड़क पर गड़े मील के पत्थर पर खड़े होकर उसके सर पर टोकरी रखवा दी।

सुरेन्द्र के तर्क सब से अलग होते। एक बार काम पूरा न करने पर गुरुजी ने बेंत लगाने के लिए सीधा हाथ आगे करने को कहा। सुरेन्द्र ने दोनों हाथ आगे बढ़ाते हुए कहा—"गलती है तो दोनों हाथों की है, मारना हो तो दोनों को मारिये।" वैसे ही एक बार अच्छी नेकर गीली होने के कारण सुरेन्द्र फटी नेकर पहने थे। गुरुजी नाराज हुए। अगले दिन सुरेन्द्र वही नेकर उलटी पहन आये। गुरुजी के पूछने पर उनका जवाब था कि नेकर फटी है मगर उसमें से कुछ दिखायी नहीं दे सकता। भविष्य में जिसे कुछ पहनना ही नहीं था उसे फटी नेकर की क्या चिन्ता ?

खेलने में और वक्तृत्व के कार्यक्रमों में सुरेन्द्र सदा आगे रहते। सुरेन्द्र की टीम हार जाने पर, विरोधी दल के नेता से झगड़ा हो जाने के बाद भी, गले लगाकर बधाई देने का काम सुरेन्द्र ही कर सकते थे। जहाँ उनमें यह उदारता थी वहाँ नियमों के प्रति हठ भी था। तड़के उठने में देर हो जाने के कारण एक बार सुरेन्द्र को गुरुजी की डाँट सुननी पड़ी। बस, उन्होंने उसी दिन निश्चय कर लिया कि वे ही सब से पहले उठेंगे और बच्चों को उठाने की घंटी खुद ही बजायेंगे। रात को घंटी के नीचे इसलिए सोये कि देर न हो जाए और रात में तीन-चार बार उठकर घड़ी देखी। गुरुजी को उस दिन किसी कारण से उठने में देर हो गयी, मगर घंटी समय पर ही बजी, क्योंकि सुरेन्द्र तो सही समय का इंतजार ही कर रहे थे।

शारीरिक कष्ट सहन करने की उनकी क्षमता भी अद्‌भुत थी। एक बार सुरेन्द्र के कान के पास एक बहुत बड़ा फोड़ा हो गया। उन्होंने उसे फोड़कर मवाद निकाल देने के लिए कहा। यही किया भी गया। मवाद निकालते समय देखने वाले दर्द से विचलित हो गये, पर सुरेन्द्र के मुँह से 'उफ्' तक न निकली। इन्हीं दिनों सुरेन्द्र में देशभक्ति की भावना का उत्स भी फूट निकला। वह १९३०-३१ का समय था। महात्मा गांधी का आन्दोलन जारी था, और उस आन्दोलन का प्रभाव बालक सुरेन्द्र पर भी गहरा पड़ा।

सन् १९३७ में सुरेन्द्र के गुरुजी आश्रम छोड़कर चले गये। सुरेन्द्र ने भी आश्रम छोड़ दिया। संगीत सीखने की उनकी इच्छा थी। एक ब्राह्मण संगीतज्ञ के यहाँ चार माह रहकर उन्होंने संगीत सीखा और फिर घर चले आये। पिताजी को यह बात पसन्द नहीं आया। अब सुरेन्द्र ने एक दोस्त की चक्की पर काम करना शुरू कर दिया, और फिर एक दिन पुनः संगीत सीखने जाने की बात कहकर घर छोड़कर पूना चले गये।

सुरेन्द्र का व्यक्तित्व इतना आकर्षक था कि कोई भी उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। उन्हें पूना की एम्यूनीशन फैक्टरी में काम मिल गया। कोरे किताबी

ज्ञान से कहीं ज्यादा रस मशीनों के काम में था। मगर नौकरी के इस जीवन में रम जाने पर भी अन्दर से मन में कुछ और ही विचार आते; कुछ और ही खोज करने की अकुलाहट मन में हमेशा बनी रहती।

एक बार अपने एक मित्र के साथ सुरेन्द्र सिनेमा देखने पहुँच गये। फिल्म का नाम था 'संसार'। परिवार के लोगों के बीच भेद-भाव, लोभ-मोह, ईर्ष्या-द्वेष आदि के चित्रण देख सुरेन्द्र के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। दोस्तों में सिनेमा की बातें होतीं। बातों ही बातों में एक दोस्त उन्हें 'प्रभात स्टुडियो' तक ले गया। सुरेन्द्र काम के लिए चुन भी लिये गये, मगर वहाँ जब कहा गया कि पहले स्टुडियो में झाड़ू देनी होगी, कुर्सियाँ उठानी होंगी, तो सुरेन्द्र उलटे पैर लौट आये और उस ओर फिर कभी उलट कर नहींदेखा।

स्टुडियो के चक्कर में एम्यूनीशन फैक्टरी की नौकरी भी जाती रही थी। उन्हीं दिनों एक मित्र के घर चाय पर बिस्किट खाते समय उन पर अंकित 'साठे बिस्किट' शब्द पढ़कर सुरेन्द्र साठे बिस्किट कंपनी में पहुँच गये। सुरेन्द्र काम के लिए पहुँचे और काम न मिले, यह संभव ही नहीं था। सुरेन्द्र वहीं काम करने लगे।

पूना नगर के इस निवास में सुरेन्द्र ने बहुत से देशभक्तों के भाषण सुने। गांधीजी के सिद्धान्तों और विचारों का मनन किया। जुलूसों और दूसरे कार्यक्रमों में भाग लिया। देशभक्ति का व्रत लिया। बचपन में आश्रम-जीवन से जो संस्कार मन पर दृढ़ हुए थे उन्हें अब बल मिला। अपना जीवन साधु-संतों, विद्वान्-महात्माओं-जैसा हो ऐसे विचार सुरेन्द्र के मन में बार-बार आने लगे। बिस्किट फैक्टरी में कुछ दिन काम करने के बाद सुरेन्द्र को उसमें अरुचि हो गयी और वे पूना छोड़कर घर आ गये।

सुरेन्द्र का सारा समय अब मनन-चिन्तन में बीतने लगा। राह की खोज जारी थी। कर्त्तव्य का निश्चय करना था। तभी सन् १९४२ का "भारत छोड़ो" आन्दोलन आरंभ हुआ। देशभक्ति की तरंगें जिनके हृदय में हिलोरें लेती हों वे चुप कैसे बैठ सकते थे? सुरेन्द्र ने साथी युवकों के साथ मिलकर एक योजना बनायी। एक बाँस, कुछ रस्सी और तिरंगा झण्डा इकट्ठा करना था। इतना काम हो जाने के बाद एक रात गाँव की चौपाल के सामने एक पेड़ पर तिरंगा फहरा कर युवकों की यह टोली 'भारत माता की जय' के नारे लगाकर घर चली गयी।

सवेरा हुआ। तिरंगा लहराने की खबर सुनकर गाँव के पटेल का माथा ठनका। पूछताछ हुई। सुरेन्द्र के नेतृत्व की जानकारी मिल गयी। सुरेन्द्र पटेल के यहाँ बुलाये गये। डाँट-डपट हुई, जेल का डर दिखाया गया, और अगले दिन तक झण्डा उतार लेने की धौंस दी गयी। मगर सुरेन्द्र तिरंगा उतारने के लिए तैयार नहीं थे।

उस रात सुरेन्द्र सो न सके। झण्डा उतारने का तो सवाल ही नहीं था। परिणाम भुगतने की पूरी तैयारी भी थी मगर डर एक और था। इस घटना से सरकार घर के लोगों को भी तंग कर सकती है यह उन्हें मालूम था। दूसरे के कष्ट दूर करने वाले वे, परिजनों के लिए कष्ट के कारण कैसे बन सकते थे? अतः सुरेन्द्र ने घर छोड़ देने का फैसला कर लिया। स्वजनों को राज-कोप से बचाने के लिए उन्होंने प्रेम के रज्जु तोड़ डाले।

ध्वजारोहण की यह घटना उनके अज्ञातवास का कारण बनी। उन्हें कित्तूर की शुगर फैक्टरी में तुरन्त काम भी मिल गया। तकनीकी कामों में रुचि और गति तो थी ही, काम अच्छा चलने लगा। दिन और महीने बीतते गये। घर जाने का या अपना पता सूचित करने का विचार भी मन में न आता। मोह-माया के बंधन तो तोड़ ही दिये थे। विवाह की बात भी जब चली थी तो सुरेन्द्र ने सदा मौन ही रखा था और किसी ने सीधे विवाह करने के लिए कहने की हिम्मत भी न की थी।

माता-पिता अवश्य परेशान थे। हर जगह सुरेन्द्र ढूंढ़े जा रहे थे। माँ-बाप द्वारा भी और अंग्रेज सरकार द्वारा भी! लेकिन सिखों के वेश में रहने वाले सुरेन्द्र को कौन पहचान सकता था? तिरंगा फहराकर कोई भारी देश-सेवा कर डाली हो, ऐसा सुरेन्द्र बिलकुल नहीं समझते थे। उलटे यह विचार उन्हें सदा सताता कि लोग यही समझते होंगे कि झण्डा लगाने के कारण डर से भाग गया। उनकी उन्नत आत्मा सदा आगे बढ़ने की प्रेरणा देती। कुछ अच्छा करने का मन्त्र रटती। मगर अब भी मार्ग नहीं मिल रहा था, ध्येय का निश्चय नहीं हो पाया था। इसी दौरान ऐनापुर के पटेल परिवार के एक युवक से दोस्ती हो गयी। छुट्टियों के दिन उसके घर बीतते। ऐनापुर महामुनि कुंथुसागरजी का जन्म-स्थान था। सुरेन्द्र वहाँ पर कुंथुसागरजी के ग्रंथ पढ़ सके। धीरे-धीरे उनके विचारों को दिशा मिलने लगी।

यही दिनचर्या शायद और चलती मगर नियति में कुछ और ही बदा था। सुरेन्द्र मोतीझरे से बीमार हो गये। मित्र ने उन्हें घर पहुँचा दिया। माँ-बाप भी बीमारी की दशा देखकर रो पड़े, मगर इन आँसुओं में पुत्र मिलने की खुशी भी शामिल थी। तबीयत काफी खराब थी। लोग चिन्तित थे। मगर सुरेन्द्र के मन में कुंथुसागरजी का अध्यात्म छाया हुआ था। णमोकार मन्त्र का मनन जारी था। रुग्णशैया पर पड़े-

पड़े ही उन्हें श्री शान्तिनाथ भगवान का दर्शन होता। वे नमस्कार करते। अन्त में विचारों के मन्थन से संकल्प उभरा ! संकल्प था—"हे प्रभो ! आप ही मुझे इस विषम ज्वर से बचावेंगे यदि मैं बच गया तो आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण करूंगा, महात्मा गांधी जैसा मेरा वेश होगा। धर्म-सेवा और राष्ट्र-सेवा मेरा अविचल व्रत होगा।"

श्री जिनेश्वर की कृपा और संतों के आशीर्वाद से सुरेन्द्र ठीक हो गये। बीमारी में खान-पान का पथ्य पालते-पालते सुरेन्द्र मन से ही संयमी बन गये। ईश्वर-भक्ति में अंतर्मुख बन गये। संसार के अनुभवों के कारण विषय-वासनाओं से अनासक्त बन गये। जो संस्कार मन पर पहले से ही थे, जो संस्कार बीज रूप में विद्यमान थे, वे अब फल-फूलकर लहलहाने लगे। अनुभव-कोंपलें बढ़ने लगीं। ज्ञान-रूपी कलियाँ खिलने को उद्यत हो उठीं।

फिर एक चातुर्मास आया! सन् १९४६ का चातुर्मास !! संयम-मूर्ति, ज्ञान-सूर्य महामुनिराज श्री महावीरकीर्तिजी ने शेडवाल में मंगल-विहार किया। रोग से जर्जर सुरेन्द्र को मानो अमृत मिल गया। आत्मिक शान्ति की संजीवनी से सुरेन्द्र का पुनर्जन्म हुआ।

सुरेन्द्र प्रतिदिन मुनिजी के उपदेश सुनते। रोज उपदेश सुनकर वे कर्मफलों के आवरणों से उबरने लगे। आत्मा के आनन्द में मग्न सुरेन्द्र, मुनिजी के सान्निध्य में बने रहते। अपटूडेट वेशभूषा में रहने वाले सुरेन्द्र ने बिलकुल सादा वेश धारण कर लिया। माता-पिता और इष्ट मित्रों को चिन्ता हुई, मगर सुरेन्द्र ने अपने मन की बात औरों पर प्रगट नहीं की। सारे ग्राम वासियों ने इस परिवर्तन को देखा। सांसारिक सुख, मोह-माया को त्याग कर सुरेन्द्र दूसरा ही मार्ग चुन रहे हैं, यह देखकर माता-पिता को गहरी चिन्ता होती। सुखों के स्वर्ण-पिंजरे में बन्द मन का हीरामन, पिंजरे से उड़ने के लिए तैयार था, वीतरागी बनने के लिए कृत-संकल्प था।

प्रतिदिन नियम से उपदेश सुनने के लिए आने वाले सुन्दर युवक की ओर मुनि महावीरकीर्तिजी का आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। सुरेन्द्र की ज्ञान-पिपासा ने उन्हें प्रभावित किया। वे बड़े प्रेम से सुरेन्द्र से बातें करते और उनके विचारों को सुनकर आनन्दित हो उठते।

ऐसे ही एक दिन सुरेन्द्र ने स्वामीजी से जात-रूप की दीक्षा की याचना की। मुनिजी प्रसन्न थे, मगर सुरेन्द्र की छोटी अवस्था देखकर माता-पिता से अनुमति लेने

के लिए कहा गया। माता-पिता विचलित होने लगे। युवा पुत्र दीक्षा लेगा ? मगर सुरेन्द्र अपने निश्चय पर अटल थे। धीरे-धीरे दो महीने बीत गये। सुरेन्द्र का अधिकांश समय मुनिजी के साथ बीतता। कई बार वे मुनिजी के साथ उनका कमंडलु लेकर जाते तो किसी भक्त के यहाँ ही भोजन कर लेते। कभी-कभी भोजन के लिए घर पहुँचते। पुत्र-प्रेम के कारण मुनिजी की यह संगति पिता को बुरी लगती। एक दिन पिताजी ने कह दिया, घर किस लिए आते हो ? खाने के लिए ? तो किसी स्वामीजी के पीछे-पीछे घूमते रहो। पेट भरने लायक भिक्षा कोई भी डाल देगा।" यह सुनना था, कि सुरेन्द्र उलटे पाँव लौट पड़े। माँ से नहीं रहा गया। उन्होंने जबरदस्ती भोजन कराया। उस दिन माँ के प्रेमाग्रह के कारण आधा पेट खाकर उठने वाले सुरेन्द्र आज तक एक समय भोजन का व्रत पाल रहे हैं। वह भोजन कर घर से निकले, तो हमेशा के लिए !

माता-पिता और परिजनों ने सुरेन्द्र को तरह-तरह से समझाने की कोशिश की; मगर जिसने माया, मोह और ममत्व के बंधन तोड़ दिये हों, उस पर दुनियादारी के तर्क का क्या असर होता ? सुरेन्द्र यही कहते कि "मैं स्वामीजी के साथ रहता हूँ, तो किसी का कुछ बुरा तो नहीं करता।" आखिर लोग चुप रहते।

मुनिजी भी इन दिनों अपने इस शिष्य को परख रहे थे। आखिर उनके विहार का दिन आ गया। ग्रामवासियों के लिए उनका अन्तिम उपदेश हुआ। मुनिजी ने चरित्र-बल और आत्मधर्म की व्याख्या की। उपस्थित लोगों में कुतूहल था कि अब सुरेन्द्र क्या करेंगे ! मुनिजी की पदयात्रा आरम्भ हुई। शिष्य सुरेन्द्र उनके अनुगामी बने ! गुरु मौन थे, शिष्य मौन थे !! लोगों ने प्रश्न पूछे, समझाने की कोशिशें कीं, रोकने के प्रयत्न किये, लेकिन ऊगते हुए सूर्य को कौन रोक पाया है ?

(मराठी से अनूदित)

आस्था की दीवट पर, चिन्तन का दीप धर;
रहस्य की मावस को अनुभूति की पूनम कर।

—सेठिया

रोशनी का इतिहास

□ उमेश जोशी

दर्शन, धर्म, कला, साहित्य और संस्कृति की
अखण्ड ज्योति हैं युगपुरुष श्री मुनि विद्यानन्द
जो अपनी दिव्य रश्मियों से प्रकाशित कर रहे हैं
धुंधलकों की गहन घाटियों को
आत्मिक सौन्दर्य की उज्ज्वल ज्योत्स्ना को
धरती पर विकीर्ण करते हुए।
प्रज्ञा जहां दम तोड़ चुकी हो
कर्मठता का शव पड़ा हुआ सड़ रहा हो
युग के पौरुष का अभिमन्यु
प्रवञ्चनाओं के चक्रव्यूह में फँसकर
जहाँ मरता है रोज
पक्षपाती कौरवों के सभागार में
लालची नीतियों के शकुनि के इंगितों पर
व्यभिचारी दु:शासन शिष्टता को कर रहा हो नग्न
अपनी हैवानियत के शिला-खण्ड पर बैठकर
और जहाँ समाज को ब्रेन-कैंसर ने दबोच लिया हो
सम्वेदनाओं को जड़ता के चौखटे में जड़ते हुए।
वहाँ इन्द्रधनुषी आलोक के शीर्षस्थ हस्ताक्षर

मुनि विद्यानन्दजी का दिव्य प्रवचन
अखण्ड ज्ञान का अमृत-कलश हाथ में थामे हुए
ऊपर उठता है, धरती के सम्पूर्ण कुहरे को
अतल में ढकेलते हुए
उस सतह तक——
जहाँ सत्यम् शिवम् सुन्दरम् अपना मस्तक
गौरव के साथ ऊँचा किये खड़े हैं
जीवन के प्रांगण में
दिव्यता की खिड़की खोलते हुए।
ज्ञान-सृष्टि के विस्तारक !
तिरस्कृत अर्थों के संरक्षक
युग के संस्थापक
रोशनी के प्रस्तोता
मुनि विद्यानन्दजी तुमको कोटि-कोटि प्रणाम !
ओ मनुजत्व के संगम !
तुम सदैव अर्थों को देते रहे जीवन
जीवन को देते रहे पथ
तुमने कभी नहीं स्वीकारी, लक्ष्मण-रेखाओं की मर्यादा
और सृजन के पहिये को घुमाते हुए
तुम निरन्तर बढ़ते जा रहे हो, खाली घटों की भीड़ में
युग की कटी बांहों को जोड़ते हुए।
ओ रोशनी के इतिहास !
तुम आस्था की सांस बनकर
हर देहरी पर पहरा दे रहे हो
जागरण की मीनार बनाते हुए।
विधाता के अछूते ग्रन्थ !
तुम हमेशा सत्य-सौन्दर्य के माथे पर
'वसुधैव कुटुम्बकम्' को चिपकाते रहे
अवनि पर धर्म को विराटत्व का चोगा पहनाते हुए।
मेरे अन्तस् के महान् सौन्दर्य !
तुम्हारे प्रवचन संकल्पों के जनक हैं
द्रवित और अदम्य
हजार-हजार दर्रों पर अभेद्य
अपराजेय प्रहरी।

○○

वे युग-दृष्टा मुनि हैं
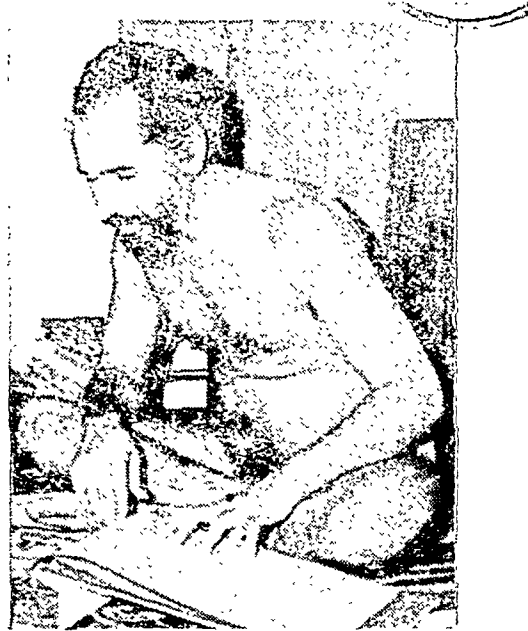
मुनिजी अतीत के उत्तम, शाश्वत, सदा उपयोगी विचारों को छाँट लेते हैं, कुछ जो मैले हो गये हैं, उन्हें झाड़-पोंछते हैं और जो सड़-गल गये हैं, उन्हें हटा देते हैं। ···यह है अतीत को वर्तमान के साथ जोड़ना ताकि वह उज्ज्वल भविष्य का पोषक बन सके, वर्तमान को अस्वस्थ करने वाला न रहे।

□ कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

मुनि विद्यानन्दजी को मेरे नगर में आये काफी दिन हो गये थे। जैन समाज में उनके आने से एक मांगलिक त्योहार-सा हो रहा था। जो भी जैन बन्धु कहीं मिलता, उच्छ्वास के साथ उनकी चर्चा करता और अन्त में कहता—"आप नहीं गये उनके दर्शन करने? उनके प्रवचन में तो हजारों आदमी प्रतिदिन आते हैं।"

इसके बाद भी उनके प्रवचन में जाने की मेरी इच्छा नहीं हुई। मेरा बचपन दयानंद के रूढ़ि-विद्रोही वातावरण में बीता और मेरी जवानी एक नयी सामाजिक क्रान्ति के लिए गांधीजी की छाया में संघर्ष करते पनपी। मैंने अपने जीवन में अनेक रूढ़ियों को तोड़ा और उसके लिए समाज के पुराणपंथी वर्ग के साथ टक्कर ली। इन सब कारणों से धर्म के कर्म-काण्डी रूप में मेरी कभी आस्था नहीं हुई और जैन मुनियों की नग्नता मेरे मन के निकट एक कर्मकाण्डी रूढ़ि-सी ही रही, दिगम्बरत्व की विश्वात्म भावना नहीं बन पायी। एक

कारण और भी था। मैं भारतीय दिगम्बर जैन परिषद् के एक अधिवेशन में हरिजनों के मंदिर-प्रवेश पर एक जैन मुनि की प्रेरणा से आयोजित आक्रोशपूर्ण उपद्रव देख चुका था और प्रधानमंत्री के कन्धे पर हाथ रख कर एक दूसरे जैन मुनि के फोटो खिचाने के शौक की चर्चा भी सुन चुका था। इसलिए भी जाने की प्रेरणा नहीं हुई, पर एक संयोग ने एक दिन अचानक मुझे उनके निकट पहुँचा दिया।

मेरे परम बन्धु श्री साहू शांतिप्रसादजी जैन और श्रीमती रमा जैन अचानक मेरे घर पधारे। वे दिल्ली से मुनिजी के दर्शन करने आये थे और जैन बाग जा रहे थे। मुझे उनका साथ सदा सुख देता है, इसलिए उनके कहते ही मैं भी साथ हो लिया। ढलते पहर का समय था, तब भी वहाँ नगर के काफी जैन बन्धु थे। मैं उनसे बातें करने लगा और साहू-दम्पत्ति मुनिजी के पास कमरे में चले गये। थोड़ी देर में मुझे भी बुलावा आया, तो मैं भीतर गया। मुनिजी लकड़ी के लम्बे पटरे पर बैठे थे। कानों ने सुना—"आइये प्रभाकरजी!"

मैं गंभीरता के अभेद्य शिखर की भावना से कमरे में घुसा था, पर यहाँ तरल-तरंगित गंगा थी; भावना ही बंजर नहीं, महकता उपवन था। वाणी संयत, पर बेहद मधुर; वातावरण एकदम सौम्य। मैंने मुनिजी की तरफ देखा, उनकी मुस्कान बिखरी कि मैं श्रद्धा के बोझ से दबते-दबते बचा—परम आत्मीय, परम स्नेहिल, परम पारदर्शी, एक परम मानवात्मा आत्मसाधक मेरे सामने थे। उनकी नग्नता की नहीं, मुझे समग्रता की ही अनुभूति हुई। साहूजी और रमाजी उनसे बातें करते रहे, पर मेरा ध्यान उनमें नहीं था। मैं जीवन भर अकिंचनों की सेवा का यज्ञ करता रहा हूँ, अकिंचनता की दीनता मैंने देखी है, भोगी है, पर मेरे सामने एक ऐसी अकिंचनता इस समय थी, जिसके चरणों में प्रणत हो कुबेर का कंचन अपने जीवन की कृतार्थता अनुभव करता है।

चलते समय उन्होंने आप ही कहा—"और किसी दिन आपसे बातें होंगी।" और फिर वही मुस्कान। देश के अधिकांश संत और नेता, दोनों ही पृथक्ता-बोध को, दूसरों से अपनी श्रेष्ठता के दम्भ को अपनी शक्ति मान कर अपने जीवन-व्यवहार में उसका प्रदर्शन करते रहे हैं, पर मुनि विद्यानन्दजी की सन्निधि में तो मुझे भेदभाव की भनक भी नहीं मिली। मुझे लगा ही नहीं कि मैं उनसे आज पहली बार मिला हूँ। मुझे लगा कि मैं उनके साथ जाने कब से मिलता और तन-मन की बातें करता रहा हूँ, जबकि अभी तक उनसे मेरी कोई बात ही नहीं हुई थी; मैंने अपने से कहा—"विद्यानन्दजी को धर्म के गूढ़ सिद्धान्तों में लाख दिलचस्पी हो, उनके लिए मनुष्य का महत्व कम नहीं है, वह उनकी दृष्टि में पूर्णतया महत्वपूर्ण है और वहीं वे दूसरे मुनियों से भिन्न हैं।

फिर तो बार-बार उनकी निकटता मिली, प्रवचनों में भी और वार्तालाप में भी। जब वे प्रवचन के लिए अपने आसन पर बैठते हैं, तो उससे पहले श्रोताओं की भीड़ अपना स्थान ग्रहण कर चुकी होती है। बैठते ही सब पर वे एक दृष्टि डालते हैं और आश्चर्य है कि

एक-एक को पहचान लेते हैं। एक दिन मैं जरा देर से गया और अपने नागरिक संस्कार के अनुसार सबसे पीछे बैठ गया। मेरे और उनके बीच में दूरी भी काफी थी और मानव-मुण्डों की कमी न थी, पर उनके आसन पर आने के थोड़ी देर बाद ही एक सज्जन ने आकर कहा–"महाराज आपको उधर बुला रहे हैं।" मैं चकित रह गया।

एक दिन आकर बैठते ही व्यवस्थापक से बोले–"घड़ी रखते ही हो यहाँ, उसे देखते नहीं?" घड़ी बन्द थी। वे समय का पूरा ध्यान रखते हैं। प्रवचन आरंभ करने से पहले तीन बार ओम् का उच्चारण करते हैं, जैसे स्वयं भी ध्यान को केन्द्रित करते हों और श्रोताओं के ध्यान को भी। मैंने बहुतों से ओम् का नाद सुना है, पर ऐसा कहीं नहीं, कभी नहीं–सचमुच एक बार तो मनुष्य बाहर से भीतर सिमट जाता है।

अपने मंच के वे प्रवक्ता भी होते हैं और अध्यक्ष भी; जरा भी अव्यवस्था उनकी सभा में नहीं हो सकती। वे इस अर्थ में कठोर व्यवस्थापक हैं कि जरा भी अव्यवस्था नहीं सहते, पर उनका यह असहन सहन से भी अधिक मधुर होता है। बीच-बीच में वे श्रोताओं को हँसाते भी खूब हैं, जैसे-चतुर माता रोगी बालक को दवा खा लेने के बाद बताशे देती है।

उनके मंच पर आने के और प्रवचन आरंभ करने के बीच में कुछ समय हो, तो उसमें भी वे पढ़ते रहते हैं और पढ़ते-पढ़ते भी 'मेरी-भावना' का पाठ आरंभ हो जाए, तो वे पुस्तक भी पढ़ते रहते हैं और मेरी भावना के पाठ में बोलते भी रहते हैं-मधुर और तल्लीन स्वर। प्रवचन के अन्त में भी भजन गाते हैं, गवाते हैं, जैसे वे सबको जीवन में साथ लिये चल रहे हों। ठीक भी है-आत्म मंगल में लोकमंगल ही तो उनकी साधना है। प्रवचन के बाद श्रोता शान्त स्फूर्ति लेकर लौटते हैं।

ईसाई शिष्टाचार के अनुसार धर्मगुरु पोप के लिए नागरिकों के अभिवादन का उत्तर देना आवश्यक नहीं है, पर पोप तृतीय सबके अभिवादन का उत्तर देते थे। किसी ने उनसे कहा कि आप ऐसा क्यों करते हैं? उनका उत्तर था–"अभी मुझे पोप बने इतने अधिक दिन नहीं हुए कि मैं आदमी ही न रहूँ!" मुनि विद्यानन्द जी दिगम्बरता तक पहुँचने के बाद भी आदमी हैं। वे सबके अभिवादन को कभी अभय-मुद्रा से और कभी मुस्कान से अपनी हार्दिक स्वीकृति देते हैं; संक्षेप में मानव में उनकी आस्था है और असाधारणता से साधारणता में उतर आना, उनकी सहजता है। वे विशिष्ट हैं, वे शिष्ट हैं और यहीं वे सबको इष्ट हैं।

उनका अध्ययन उनके प्रवचनों से सिद्ध है कि बहुत व्यापक है। जितना उन्होंने पढ़ा, बहुत कम ने उतना पढ़ा होगा। जब उनके विराट अध्ययन की झांकी मुझे मिली तो मुझे

अपने ही देश के एक सज्जन याद आ गये, जिन्होंने एक दर्जन से अधिक विषयों में एम. ए. किया है। मैं जब जवान था, तब से पत्रों में समाचार पढ़ता रहा हूँ कि उन्होंने इस वर्ष इस विषय में एम. ए. पास किया है और अब वे इतने विषयों में एम. ए. हो गये। पढ़ते-पढ़ते मेरी उम्र ढलान पर आ गयी। आरम्भ में तो एक-दो बार उनके अध्यवसाय में आदर हुआ, पर बाद में लगा कि यह एक झक है। पढ़ना, पढ़ना, पढ़ना……यह कोई कृतार्थता नहीं है जीवन की। दूसरे शब्दों में, यह एक बौद्धिक जड़ता भी है। मेरे मन का प्रश्न था—क्या मुनि जी के लिए पढ़ना भी एक हॉबी है?

निकटता में मैंने देखा, परखा कि उनके अध्ययन का एक गहरा लक्ष्य है। वे अपने अध्ययन में पुस्तक ही नहीं पढ़ते, उन गाँठों को खोलते हैं, जिनसे जन-मानस उलझा हुआ है। वे इस उलझन को सुलझाते हैं, स्पष्टता पाकर स्पष्टता देते हैं। क्या इतना ही? नहीं, इससे भी आगे हम कभी-कभी अपने सब कपड़े निकाल कर सामने रखते हैं। फिर उनका सावधानी से वर्गीकरण करते हैं। अच्छे कपड़ों को साफ तह करके उन्हें एक तरफ लगाते हैं जिन्हें अच्छे समय पर पहनेंगे, नम्बर दो के कपड़ों को धुला कर घरेलू उपयोग के लिए एक तरफ करते हैं और कुछ को एक तरफ रखते हैं कि ये अब हमारी रुचि के, उपयोग के योग्य नहीं रहे।

मुनिजी भी अतीत के उत्तम, शाश्वत, सदा उपयोगी विचारों को छाँट लेते हैं, कुछ जो मैले हो गये हैं, उन्हें झाड़-पोंछते हैं और कुछ जो सड़-गल गये हैं, उन्हें हटा देते हैं। यह सब यही नहीं है, यह है अतीत को वर्तमान के साथ जोड़ना ताकि वह उज्ज्वल भविष्य का पोषक बन सके, वर्तमान को अस्वस्थ करने वाला न रहे। महापुरुष नयी बात नहीं कहते, वे पुराने की नयी व्याख्या करते हैं। मुनि विद्यानन्दजी का अध्ययन भी अतीत के विचारों की नयी व्याख्या की खोज है।

क्या इस खोज का उद्देश्य जैनधर्म के प्रति उनकी कट्टरता को पोषण देता है। दूसरे शब्दों में, क्या उनका जीवन-कर्म साम्प्रदायिक है? और भी साफ-साथ कहूँ क्या वे प्रचारक-श्रेणी के मनुष्य हैं? उनके साथ गहरी एकता साध कर मैंने इन प्रश्नों पर अध्ययन-विवेचन किया है और जाना है कि वे जन्मजात जैन नहीं हैं। उनका जन्म वैष्णव ब्राह्मण वंश में हुआ था, जैनधर्म उन्होंने जानबूझ कर अपनाया है; यह उनके जीवन की क्रान्ति है, जो व्यक्तित्व को जड़मूल से बदलती है।

इस क्रान्ति से पहले उनका मानस राज्य-क्रान्ति से ओतप्रोत था। वे इधर न आते तो उधर जाते। १९४२ में उनकी गिरफ्तारी के लिए वारंट निकला था। उसे पुलिस वाले के हाथ से छीन कर फाड़ फेंक कर वे भीड़ में गायब हो गये थे और थानेदार इस किशोर की चतुर चपलता को देखता ही रह गया था।

वे प्रचारक नहीं हैं, साम्प्रदायिक नहीं हैं और सच कहूँ, वे राष्ट्रीय भी नहीं हैं, वे तो मानवता के मार्ग-साधक हैं। कहूँ, विश्व-धर्म के अन्वेषक हैं; उस विश्व-धर्म के, जो मानव को युद्ध के त्रास से त्राण दे सके। इसके लिए उनके चिन्तन का मध्यविन्दु अहिंसा है; अहिंसा यानी आचरण की शुद्धता, सहिष्णुता यानी सम्यक् चारित्र। वे विश्वात्मा मानव हैं दिगम्वर हैं, उनका जीवन-क्षेत्र जैन समाज है, और कर्म-क्षेत्र भारत है। वे धर्म के साथ देश की चर्चा करते हैं और देश को वैचारिक रूप में विश्व से जोड़ते हैं। उनका उद्घोष है–विश्वधर्म की जय हो।

उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक है, युक्तियुक्त है, उनका जीवन परम्परा का प्रतीक है, उनका चिन्तन अन्धश्रद्धा के अन्धकार में प्रदीप है। उनकी वाणी अर्थगर्भ होती है, फिर भी ज्ञान की जटिलता से दूर, अनुभव की सरलता से भरपूर।

एक दिन मैं-वे वातें कर रहे थे। मैंने कहा–"मैं सिद्धि से साधना को अधिक महत्व देता रहा हूँ, क्योंकि साधना ही मानव की सीमा है, सिद्धि तो फल है, जो उसके हाथ नहीं।" वोले–"लक्ष्य से कर्तव्य की दिशा वनती है।" मैं विमुग्ध हो उन्हें देखता रहा। ठीक ही है साधना की गति सिद्धि-अभिमुखी ही तो होगी। रात में भोजन न करने को जैन लोग वड़ा व्रत मानते हैं, पर मुनिजी की दृष्टि में इस महत्त्व का आधार स्वास्थ्य ही है।

एक दिन राम पर वोले, तो अतीत की नयी व्याख्या की चाँदनी ही छिटक गयी, रामायणों की प्रदर्शनी हो गयी, रामायण का युग-संस्करण ही तैयार हो गया।

○ शवरी ने झूठे वेर राम को नहीं दिये थे। उसने वेर खा-खा कर राम के लिए उत्तम वृक्षों से मीठे वेर चने थे; जैसे हम टोकरे में से एक आम खाकर आम खरीदते हैं कि हाँ, इस वृक्ष के आम मीठे हैं।

○ हनुमान पवन के पुत्र नहीं थे, 'पवन-सुत' नाम का अर्थ है वे पवनंजय के पुत्र थे, उनका सूर्यपुत्र नाम उनके मामा के कारण पड़ा।

○ हनुमान वंदर नहीं थे। उन्होंने नगर में भिक्षु का रूप धारण कर भ्रमण किया था और वाद में वंदर का रूप ग्रहण किया था। वे वेश वदलने में प्रवीण थे।

○ हनुमान पहाड़ उठा कर नहीं लाये थे, जड़ी-वूटियों का ढेर उठा लाये थे। वात मुहा-वरे की है–'अरे तू तो पहाड़ ही उठा लाया!' मतलव है ढेरों सामान उठाना।

○ रावण के दस सिर नहीं थे। उसके कण्ठे में दस रत्न थे। उनमें उसका सिर चमकता देख, उसे किसी ने लाड़ में दशानन कहा। हमारी भाषा में वैसा दृश्य जैसा मुगले आज़म फिल्म में शीश महल का था।

और पूर्वाग्रहों से मन की, विचार की, चिन्तन की मुक्ति का चमत्कार ही सामने आ गया, जव उन्होंने कहा—"रावण भी महान् था कि उसने नाक काटने के वदले नाक नहीं काटी।"

मुनि विद्यानन्द एक मुक्ति-साधक, एक मुक्त साधक, एक समन्वयी मानवात्मा, यानी आध्यात्म के साथ कलाकार। कलाकार; जिसके हर कर्म में व्यवस्था, हर व्यवहार में व्यवस्था; जिसके पास कुछ नहीं, पर सव कुछ; जो किसी का नहीं, पर सवका; जिसका कोई नहीं, पर जिसके सव अपने; संक्षेप में जीवन के सौंदर्य-वोध और शक्ति-वोध से अनु-प्राणित युग-सन्त। □□

एक सन्त एक साहित्यकार एक सूत्रकार

शब्द-कोशों में 'सूत्र' शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं, : सूत, तागा, जनेऊ, नियम, व्यवस्था, रेखा, थोड़े शब्दों में कहा हुआ पद या वचन, जिसमें बहुत और गूढ़ अर्थ हो मुनिश्री हर दृष्टि से एक सफल सूत्रकार हैं।

☐ नरेन्द्रप्रकाश जैन

सरल, शान्त एवं सौम्य व्यक्तित्व के धनी पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी महाराज सही अर्थों में एक उत्कृष्ट सन्त हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी की कसौटी पर वे खरे उतरते हैं। वे निर्विकार, निराकरण और निःसंग हैं। ज्ञान, ध्यान और तपस्या उनकी दिनचर्या है। उनकी मनोहर मुखमुद्रा एवं प्रकृष्ट प्रवचन-कला में चुम्बकीय प्रभाव है। उनकी धर्म-सभा या ज्ञान-गोष्ठी में पहले-पहल जो भी गया, उसका एक ही अनुभव रहा—

"यह न जाना था कि उस महफिल में दिल रह जाएगा
हम यह समझते थे, चले आयेंगे दमभर देखकर"

उनके चेहरे से ज्ञान का तेज टपकता है तथा वाणी से बहता है अध्यात्म-रस का निर्झर। मौन रहकर भी अपनी आँखों से वे बहुत कुछ बोलते-से जान पड़ते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने किसी निर्ग्रन्थ सन्त का वर्णन करते हुए लिखा है—"अवाग्विसर्गः वपुषा मोक्ष-मार्ग निरूपयन्तं"—अर्थात् वचन से बोले बिना शरीरमात्र से मोक्ष-मार्ग का निरूपण कर रहे थे। पूज्य मुनिश्री ऐसे ही अलौकिक सन्त के पर्याय हैं। उनकी संगति में रहकर लगता है, मानो हम भूतबलि, पुष्पदन्त या उमास्वामी-सरीखे किसी चमत्कारी पूर्वाचार्य के पास बैठे हों। न जाने उनमें ऐसा कौन-सा जादू है कि बच्चे और बूढ़े तथा जवान और प्रौढ़ सब उनके पास बैठकर अपने को कृतकृत्य समझने लगते हैं!

जैन साहित्य एवं संस्कृति अपने पूर्वगौरव को पुनः कैसे प्राप्त हो, बस यही एक चिन्ता उन्हें चौवीसों घण्टे अति व्यस्त रखती है। वे एकान्तप्रिय आत्म-साधक हैं। ज्ञान की भूख उनमें बहुत है। ज्ञान-चर्चा में उन्हें आनन्द आता है 'अज्झयणमेव झाणं'–पूज्य कुन्दकुन्दस्वामी की इस उक्ति को उन्होंने अपने जीवन में उतार लिया है। तीर्थंकरों की वीतराग वाणी के प्रचार-प्रसार की जैसी धुन उन्हें है, वैसी इस सदी के किसी भी दिगम्बर जैन सन्त में शायद ही रही हो। बहुमूल्य दस्तावेजों (दुर्लभ हस्तलिपियों, रेखाचित्रों, पुस्तकों, गवेषणात्मक टिप्पणियों आदि) के ढेर में बैठे हुए वे साक्षात् सरस्वती-पुत्र ही लगते हैं। कुछ क्षणों के उनके साहचर्य से ही ज्ञानीजनों का ज्ञान अधिक समृद्ध हो जाता है। उनके चरणों में पहुँचकर तत्त्वज्ञान-शून्य किन्तु श्रद्धालु लोगों को भी लगने लगता है कि उनके भीतर से कोई प्रकाश-किरण मानो बाहर आने के लिए मचल रही है। 'दीप से दीप जले' की क्रिया घटित हुई सबको अनायास ही अनुभूत होती है। यही इस सन्त के दिव्य व्यक्तित्व का कमाल है।

सन्त वह व्यक्ति कहलाता है, जिसकी कथनी और करनी में कोई अन्तर शेष नहीं रह जाता। मुनिश्री जो कहते हैं, वही करते हैं। करते पहले हैं, कहते बाद में हैं। वे शान्त स्वभावी हैं। उन्होंने क्रोध को जीत लिया है। माया-मोह से वे कोसों दूर हैं। मान उन्हें छू भी नहीं गया है। चोटी से एड़ी तक वे सदाचरण के रस में डूबे हुए हैं इसीलिए उनमें माधुर्य है। वे 'मनस्येकं, वचस्येकं, वपुस्येकं महात्मनाम्' की कोटि में आते हैं। मराठी में एक कहावत है–"जैसा बोले तैसा चाले त्यांची वंदावी पाउले'–जैसा बोले वैसा यदि चले भी तो उसके चरणों की वन्दना करना चाहिये। इस दृष्टि से पूज्य मुनिश्री निःसन्देह एक वन्दनीय सन्त हैं।

एक साहित्यकार

मुनि वह है, जो मनन करता है। पूज्य विद्यानन्दजी महाराज का पूरा समय तत्त्वज्ञान के मनन-मंथन में ही बीतता है। इस मंथन से जो मोती निकलते हैं, उन्हें वे अपने पास न रखकर सारी दुनिया को बाँट देते हैं, यह ठीक भी है, क्योंकि वे उन थोड़े-से लोगों में से हैं, जिनका जीवन अपने लिए नहीं, सर्वहिताय संकल्पित है।

चिन्तन-मनन के हितकारी परिणाम को शब्द-बद्ध करने वाला व्यक्ति साहित्यकार कहलाता है। पूज्य मुनिश्री भी अपने विचारों को समय-समय पर शब्द-बद्ध करते रहते हैं। वे वाणी और लेखनी दोनों के धनी हैं। एक ओर जहाँ उनकी वक्तृता में सरलता, एवं प्रवाह पाया जाता है, वहीं दूसरी ओर उनकी रचनाओं में ओज एवं प्रसाद गुण के दर्शन होते हैं। उनकी भाषा प्राञ्जल तथा शैली मधुर है। उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है और जो भी लिखा है वह स्थायी महत्त्व का है। उनकी कलम युग की निर्णायक रेखा है। भावी जैन इतिहासकार वर्तमान काल को 'विद्यानन्द-युग' के नाम से अंकित करेंगे, यह बात सन्देहातीत है।
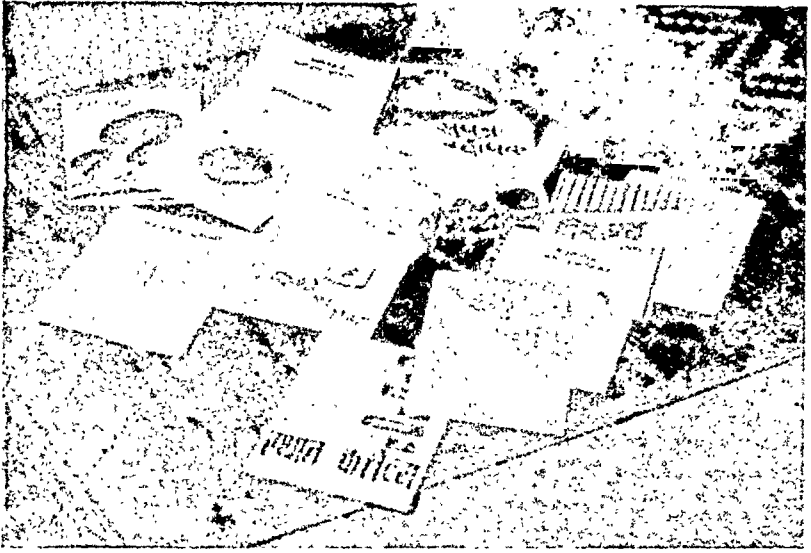
लेखन चिन्तन की छाया है। मुनिश्री ने अपने तपःपूत चिन्तन से समुद्भूत विचारों को लिपिवद्ध किया है। पिच्छि-कमण्डलु, तीर्थंकर वर्द्धमान, विश्वधर्म की रूपरेखा, अनेकान्त-सप्तभंगी-स्याद्वाद, कल्याण मुनि और सिकन्दर आदि उनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। मंत्र-मूर्ति और स्वाध्याय, गुरु संस्था का महत्व, अपरिग्रह से भ्रष्टाचार-उन्मूलन, दैव और पुरुषार्थ, सोने का पिंजरा, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, सुपुत्रः कुलदीपकः, श्रमण संस्कृति और दीपावली, ईश्वर क्या और कहाँ है, पावन पर्व रक्षावन्धन, सप्त व्यसन आदि उनके अनेक सारगर्भित निवन्ध भी पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। 'अमृत-वाणी' में उनके मंगल प्रवचन संगृहीत हैं। 'दिगम्वर जैन साहित्य में विकार' शीर्षक उनकी एक लघु पुस्तिका में समीक्षा की स्वस्थ विधा का निर्वाह हुआ है। परिष्कृत लेखनी से प्रसूत इन सभी कृतियों से मुनिश्री के गहन स्वाध्याय, अभिव्यक्ति-कौशल एवं वहुज्ञता का परिचय मिलता है। उनकी रचनाओं में उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। उनका चिन्तन सम्यक् चारित्र से अनुप्राणित है। यही वजह है कि उनके द्वारा रचित साहित्य को पढ़ते समय सामान्य पाठक एक मानसिक क्रान्ति के दौर से गुजरता है तथा पढ़ने के वाद स्वयं को पहले से अधिक शान्त और निराकुल अनुभव करने लगता है। मुनिश्री के तात्त्विक निष्कर्षों से भव-भ्रमजाल में फँसे हुए प्राणियों को समाधान मिलता हैं। उनकी साधना की कुंजी मुक्ति का द्वार खोलने में समर्थ है।

मुनिश्री ने जितना स्वयं लिखा है, उससे कई गुना दूसरों से लिखवाया है। वे एक व्यक्ति नहीं, संस्था हैं। साधकों के लिए वे प्रेरणा के पुंज हैं। उनका चिन्तन निष्पक्ष

एवं सम्प्रदायातीत है । इसीलिए अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकार जैन-जैनेतर का भेद भूलकर उनके मार्गदर्शन में सृजन-रत हैं तथा अपने महत्वपूर्ण कृतित्व से जैन भारती का भण्डार भर रहे हैं ।

मुनिश्री वहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं । साहित्य की सभी विधाओं के विकास में उनकी रुचि है । काव्य,निवन्ध, नाटक, उपन्यास, कहानियाँ, संस्मरण , रेडियो-रूपक, रिपोर्ताज के साथ ही साथ कला, संगीत और इतिहास के लेखन एवं अनुसंधान पर भी उनका विशेष ध्यान है । उनकी पावन प्रेरणा से स्थापित श्रमण जैन भजन प्रचारक संघ, दिल्ली; वीर निर्वाण-ग्रन्थ-प्रकाशन समिति, इन्दौर; विश्वधर्म ट्रस्ट, कोटा; वीर निर्वाण भारती, मेरठ आदि संस्थाओं की रचनात्मक प्रवृत्तियों में इसका प्रमाण निहित है । दिगम्बर जैन समाज में आज तक साहित्य-सृजन के प्रति घोर उपेक्षा का भाव व्याप्त रहा है, मुनिश्री अव इस अभाव को आँधी की गति से दूर करना चाहते हैं । सम्प्रति समाज में साहित्यिक जागरण की जो लहर दिखलायी पड़ रही है, उसका सम्पूर्ण श्रेय मुनिश्री को ही है ।

नि:सन्देह पूज्यश्री साहित्य एवं चरित्र के यशस्वी स्नातक हैं । वे एक अद्वितीय शब्द-शिल्पी हैं । उन्होंने शब्दों की उपासना की है; आज शब्द उनकी उपासना के लिए प्रस्तुत हो रहे हैं ।

एक सूत्रकार

शब्द-कोप में सूत्र शब्द के अनेक अर्थ दिये हुए हैं–सूत, तागा, जनेऊ, नियम, व्यवस्था, रेखा तथा थोड़े शब्दों में कहा हुआ पद या वचन, जिसमें वहुत और गूढ़ अर्थ हो । मुनिश्री हर दृष्टि से एक सफल सूत्रकार हैं । तागा फटे वस्त्र को जोड़ता है, कतरनों से उपयोगी परिधान वनाता है । मुनिश्री ने मानव-हृदयों को परस्पर जोड़ा है । भाषा, जाति एवं सम्प्रदायजनित भेद-भावों को भुलाने पर वह हमेशा जोर देते हैं । 'मनुष्यजातिरेकैव, जातिकर्मोदयोद्भवा'– जाति नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुई मनुष्य-जाति एक है– पूज्यपाद स्वामी के इस सन्देश को वे निरन्तर दुहराते रहते हैं । तागा रंग-विरंगे फूलों को गूँथकर माला के रूप में प्रस्तुत करता है और वह माला देवता के गले का आभूषण वनती है । मानवमात्र के शुभचिन्तक मुनिश्री ने नानावर्णजाति-सम्प्रदाय के लोगों को एकता का सन्देश दिया है और इस एकता से मानवता का शृंगार हुआ है । उनकी विराट धर्म-सभा उस उद्यान का दृश्य प्रस्तुत करती है , जिसमें भाँति-भाँति के आकार-प्रकार वाले वहुरंगी मुकुलित पुष्प अपनी सुगन्ध से पर्यटकों का मन मोह लेते हैं ।

मुनिश्री ने समाज को एक व्यवस्था-रेखा (मर्यादा) दी है । वह स्वयं संयम के पुजारी हैं, दूसरों को भी संयम का पाठ सिखाते हैं । मनुष्य की दैनंदिन क्रियाओं में संयम की

महत्ता का प्रतिपादन वे नित्य करते हैं । वे नियमों के पालक हैं। नियमों से बँधा हुआ जीवन ही मुक्ति-लाभ करता है। जो सरिता कूल तोड़ देती है, वह महाविनाश का कारण बनती है। किनारों के बंधन में चलने वाली नदी सागर की गोद में पहुँच जाती है।

मुनिश्री के मुख से निकला हुआ एक-एक शब्द सार्थक है; निरर्थक कुछ उनके मुँह से निकलता ही नहीं। उनका हर शब्द एक सूत्र है। कहा गया है—

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् गूढ़निर्णयम् ।
निर्दोषं हेतुमत् तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः ।।"

अर्थात्—विद्वानों ने सूत्र का लक्षण करते हुए उसे अल्पाक्षर, सन्देहरहित, सारग्राही, गूढ़अर्थयुक्त, दोपरहित, सोद्देश्य और तथ्यसहित निरूपित किया है।

मुनिश्री नपा-तुला वोलते हैं, लाग-लपेट की बातें नहीं करते, संकल्प-विकल्पों से दूर रहते हैं, सरल परिणामी हैं और व्यर्थ के वाद-विवादों में अपना समय नष्ट नहीं करते। जिस गाँव को जाना नहीं, उसकी वे राह भी नहीं पूछते। हर अच्छी बात को, चाहे वह जैन शास्त्रों की हो अथवा बाइबिल, कुरान या वेद की, स्वीकार करने के लिए वे हर समय उद्यत रहते हैं। किसी भी बात पर यह मानकर अड़ जाना उनका स्वभाव नहीं कि यही सत्य है तथा बाकी लोग जो कहते हैं, वह सब का सब झूठ और निराधार है। उनके पास जमीन का एक टुकड़ा भी नहीं है, लेकिन उनके दिल का रकबा बहुत बड़ा है। वे सम्पूर्ण विश्व को कुटुम्ब के समान समझते हैं। उन्होंने सभी धर्मों को एक सूत्र में पिरोया है। वे एक महान् सूत्रकार हैं। उन्हें शतशः प्रणाम ! □□

'स्वाध्याय' का महत्व सर्वविदित है। स्वाध्याय ज्ञान की उपासना है। ज्ञानवान होकर चारित्र्य का पालन यथाशक्ति करना मानव का कर्तव्य-धर्म है। संसार और संसार से परे का ज्ञान-विज्ञान ग्रंथों में संजोया हुआ है। जो प्रतिदिन उस ज्ञान में से थोड़ा भी संचय करता है; वह श्रीमान्, बहुश्रुत, स्व-समयी, ज्ञानी और वाग्मी बन जाता है।

—मुनि विद्यानन्द

वाग्मी मनोज्ञ निर्ग्रन्थ

'वाग्मी' का विरुद बहुत कम वक्ताओं को प्राप्त होता है; सौभाग्य की बात है कि वह आज मुनिश्री को उपलब्ध है।

—डा. दरबारीलाल कोठिया

महातपस्वी गृद्धपिच्छाचार्य ने आत्मा को शुद्ध एवं अकलंक बनाने के लिए तप के महत्त्व और उसकी आवश्यकता पर बल देते हुए बारह तपों का विशेष तथा विस्तृत निरूपण किया है। इन तपों में एक वैयावृत्त्य तप है, जो इस प्रकार के निर्ग्रन्थों की परिचर्या द्वारा सम्पाद्य है। दस निर्ग्रन्थों में जहाँ आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ और साधु इन नौ प्रकार के मुनियों की वैयावृत्त्य का उल्लेख है, वहाँ मनोज्ञ मुनियों का भी निर्देश है। तत्त्वार्थसूत्र के व्याख्याकारों ने इन दसों प्रकार के निर्ग्रन्थों की उनके गुण-विशेष की दृष्टि से, निर्ग्रन्थत्व समान होते हुए भी, पारस्परिक भेदसूचक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। इनमें 'मनोज्ञ' निर्ग्रन्थ की परिभाषा निम्न प्रकार दी गयी है :—

मनोज्ञोऽभिरूपः ।१२। अभिरूपो मनोज्ञ इत्यभिधीयते। सम्मतो वा लोकस्य विद्वत्ता-वक्तृत्व-महाकुलत्वादिभिः।१३।

विद्वान् वाग्मी महाकुलीन इति यो लोकस्य सम्मतः स मनोज्ञः, तस्य ग्रहणं प्रवचनस्य लोके गौरवोत्पादनहेतुत्वात्।

तत्त्वार्थवार्त्तिक व तत्त्वार्थवार्त्तिक-भाष्यकार अकलंक देव **'मनोज्ञ'** निर्ग्रन्थ की व्याख्या देते हुए कहते हैं कि जो अभिरूप है वह मनोज्ञ है, अथवा जो विद्वान्–विविध विषयों का ज्ञाता, वाग्मी—यशस्वी वक्ता और महाकुलीन आदि रूप से लोक में मान्यता प्राप्त है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, क्योंकि उससे शासन की प्रभावना और गौरव-वृद्धि होती है।

आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने भी तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक व भाष्य में अकलंकदेव द्वारा अभिहित 'मनोज्ञ' निर्ग्रन्थ की परिभाषा को दोहराकर उसका समर्थन किया है।

मुनि विद्यानन्दजी निश्चय ही वर्तमान काल के मनोज्ञ निर्ग्रन्थ हैं। वे विविध विषयों के ज्ञाता हैं, यशस्वी वक्ता हैं, महाकुलीन हैं और सुयोग्य लेखक-ग्रन्थकार हैं। जिन-शासन की उनके द्वारा जो आश्चर्यजनक प्रभावना एवं गौरव-वृद्धि हो रही है वह सर्व-विश्रुत है। उनकी व्याख्यान-सभा में सैकड़ों-हजारों नहीं, लाखों श्रोता उपस्थित होते और उनके प्रवचन को शान्तिपूर्वक सुनते हैं। उनका ऐसा प्रभावक भाषण होता है कि जैन-अजैन, भक्त-अभक्त सभी मुग्ध एवं चित्रलिखित की भाँति उनके भाषण को सुनते तथा पुनःपुनः सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं। उनका प्रवचन हित, मित और तथ्य की सीमाओं से कभी बाहर नहीं जाता। तथ्य को वे बड़ी निर्भीकता और शालीनता से प्रस्तुत करते हैं। इन्दौर, दिल्ली, मेरठ आदि की उनकी व्याख्यान-सभाओं को जिन्होंने देखा-सुना है वे जानते हैं कि उनका प्रवचन लाखों श्रोताओं पर जादू जैसा प्रभाव डालता है। ऐसे ही प्रवक्ता को **'वाग्मी'** कहा गया है। आचार्य जिनसेन ने युग-प्रवर्त्तक आचार्य समन्तभद्र को उनकी अन्य विशेषताओं के साथ **'वाग्मी'** विशेषता का भी सश्रद्ध उल्लेख किया है। **'वाग्मी'** का विरुद बहुत कम वक्ताओं को प्राप्त होता है। सौभाग्य की बात है कि वह विरुद आज मुनिश्री को उपलब्ध है।

मुनिजी अध्यात्मशास्त्र के मर्मज्ञ तो हैं ही, भूगोल, इतिहास, संगीत, चित्रकला आदि लोक-शास्त्र के विविध विषयों के भी विशेषज्ञ हैं। जब मुनिजी क्षुल्लक थे और पार्श्वकीर्ति उनका सुभग नाम था, तब आपने **'सम्राट् सिकन्दर और कल्याण मुनि'** नामक जो ऐतिहासिक पुस्तक लिखी थी और जिसका सब ओर से स्वागत हुआ था, उससे स्पष्ट है कि मुनिश्री भूगोल और इतिहास में रुचि ही नहीं रखते, वे उनके वेत्ता भी हैं। संगीत कला के आप पण्डित है, यह इसीसे विदित है कि उन्होंने इस विस्मृत और उच्च कोटि की कला को **'श्रमण-भजन-प्रचारक संघ'** जैसी विशिष्ट संस्था की स्थापना द्वारा सप्राण ही नहीं किया, अपितु उसके द्वारा इस कला के ज्ञाता और उस पर कार्य करने वाले विद्वानों को पुरस्कृत एवं सम्मानित भी कराया है।

भगवान् महावीर की २५०० वीं निर्वाण-शती अगले वर्ष मनायी जाने वाली है। इस अवसर पर विभिन्न योजनाओं को आपके चिन्तन ने जन्म दिया है भगवान्

महावीर के जीवन से संबंधित अनेक चित्रों का अन्वेषण और निर्माण आपकी चित्र-कला-प्रतिभा का सुपरिणाम है। जैन-ध्वज का निर्धारण आपकी ही अनोखी सूझ-बूझ है, जिसे जैन-परम्परा के सभी वर्गों ने स्वीकार कर लिया है। चन्द्रप्रभ का सप्तमुखी चित्र, जो जैन दर्शन के प्रसिद्ध सिद्धान्त सप्तभंगी का चित्र है, संगम देव के साथ क्रीड़ारत भगवान् महावीर का चित्र, राजकुमारावस्था में ध्यानरत महावीर का चित्र जैसे दुर्लभ चित्र खोज निकाले और समाज के सामने पहली बार प्रस्तुत किये। अपनी कृति **'तीर्थंकर वर्द्धमान'** में जो महावीर-कालीन भारत का मान-चित्र दिया है, वह उनके भूगोल-विज्ञान का प्रदर्शक तो है ही, चित्र-विज्ञान का भी प्रकाशक है।

पूज्य विद्यानन्दजी की सर्वतोमुखी प्रतिभा यहीं तक सीमित न रही, वह आगे भी बढ़ी और उसने उन्हें योग्यतम लेखक तथा ग्रन्थकार भी बना दिया। फलतः 'निर्मल आत्मा ही समयसार', 'आध्यात्मिक सूक्तियाँ', 'अहिंसा-विश्वधर्म', 'तीर्थंकर वर्द्धमान', 'समय का मूल्य', 'पिच्छी-कमण्डलु', **'सम्राट् सिकन्दर और कल्याण मुनि'** जैसी कृतियाँ उनकी प्रतिभा से प्रसूत होकर 'सर्वजनाय' और 'सर्वहिताय' ख्यात हो चुकी हैं।

इस तरह मुनि विद्यानन्दजी को जो लोकमान्यता और लोकपूज्यता प्राप्त है उससे उन्हें आचार्य गृद्धपिच्छ के शब्दों और आचार्य अकलंकदेव तथा विद्यानन्द की व्याख्याओं में **'मनोज्ञ निर्ग्रन्थ'** स्पष्टतया कहा जा सकता है।

हम मुनिजी से तभी से परिचित हैं जब वे क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति थे और चिन्तन-लेखन में सदा निरत थे। दिल्ली के लाल मन्दिर में वे विराजमान थे, तभी उनसे साक्षात् भेंट हुई थी। हमें अपनी 'सम्राट् सिकन्दर और कल्याण मुनि' कृति भेंट करते हुए मेरी तत्काल प्रकाशित नयी पुस्तक **'न्यायदीपिका'** की आपने बार-बार प्रशंसा की। क्षुल्लक, मुनि जैसे पूज्य एवं उच्च पद पर रहते हुए भी आपकी गुण-ग्राहिता सदा अग्रसर रहती है। विद्वानों के प्रति आपके हृदय में अगाध मान है। उनकी स्थिति और स्तर को उन्नत करने के लिए उनके चित्त में जो चिन्ता और लगन है वह अन्यत्र दुर्लभ है। शिवपुरी में विद्वत्परिषद् द्वारा की गयी "जैन विद्या-निधि" की स्थापना से पूर्व कई वर्षों से उनके हृदय में ऐसी योजना का विचार चल रहा था, जिसे आपने गत महावीर-जयन्ती पर अलवर में आमंत्रित कराकर व्यक्त किया और मथुरा में पुनः आने का आदेश दिया। यहाँ भी महाराज ने अनेक लोगों के समक्ष मेरी **'जैन तर्कशास्त्र में अनुमान-विचार'** कृति की उल्लेखपूर्वक सराहना की। डा. ए. एन. उपाध्ये, डा. हीरालाल जैन, डा. स्व. महेन्द्र कुमारजी, डा. स्व. नेमिचन्द्रजी शास्त्री आदि विद्वानों के साहित्य-सेवा-कार्यों का सोल्लास उल्लेख करते हैं। यह उनकी हार्दिक गुणग्राहिता ही है।

इस गुणग्राहिता को उन्होंने क्रियात्मक रूप देना आरम्भ भी कर दिया है। इन्दौर, मेरठ और कोटा में विद्वानों को सम्मानित कर पुरस्कृत किया जाना उनकी इसी गुणग्राहिता का प्रतिफल है। समाज में विद्वत्सम्मान का जो भाव जागृत हुआ उसका एकमात्र श्रेय मुनिजी को है। मथुरा में विद्वत्परिषद् के तत्त्वावधान में महावीर-विद्यानिधि का जन्म उन्हीं की हार्दिक प्रेरणा से हुआ है।

श्री बाबूलाल पाटोदी इन्दौर के शब्दों में 'मुनिश्री अविराम दौड़ती सदासद्य: उस नदी की भाँति हैं जो हर घाट-बाट पर निर्मल है और जो किंचित् भी कृपण नहीं है......वे अनेकान्त की मंगलमूर्ति हैं और इसीलिए प्रत्येक दृष्टिकोण का सम्मान करते हैं और उसमें से प्रयोजनोपयोगी निर्दोष तथ्यों को अंगीकार कर लेते हैं।' और 'तीर्थंकर' के यशस्वी सम्पादक डा. नेमीचन्द जैन की दृष्टि में 'दर्शनार्थी जिनके दर्शन के साथ एक हिमालय अपने भीतर पिघलते देखता है, जो उसके जनम-जनम के सौ-सौ निदाघ शान्त कर देता है। वन्दना से उसके मन में कई पावन गंगोत्रियाँ खुल जाती हैं। इस तरह मुनिश्री के दर्शन जीवन के सर्वोच्च शिखर के दर्शन हैं, परमानन्द के द्वार पर 'चत्तारि मंगलं' की वन्दनवार है।'

आज हम मुनिजी के ५१ वें जन्म-दिन पर अपने श्रद्धा सुमन उनके पद-पंकजों में इस मंगल कामना से अर्पित करते हैं कि व्यक्ति-व्यक्ति, समाज-समाज और राष्ट्र-राष्ट्र में घुन की तरह व्याप्त हिंसा, अशान्ति, असदाचार, भ्रष्टाचार, छल, अ-विश्वास आदि मानवीय कमजोरियाँ दूर होकर अहिंसा, शान्ति, सदाचार, पवित्रता और विश्वास जैसी मनुष्य की उच्च सदवृत्तियों का सर्वत्र मंगलमय सुप्रभात हो। मुनिश्री दीर्घकाल तक हमें मंगल पथ का प्रदर्शन करते रहें। □□

भीड़ में अकेले

निर्विकारी मन, दिगम्बर तन
भीड़ में तुम हो अकेले।
संस्कृति का शोर, कोलाहल,
तुम्हीं से आज मेले ।।
ऋषभ से महावीर तक की
संस्कृति के सूत्र जोड़े।

जिस दिशा में मिले तीर्थंकर
चरण के चिह्न, तुमने पंथ मोड़े ।।
देह नश्वर, तुम न नश्वर, संग
नश्वर खेल खेले।
निर्विकारी मन, दिगम्बर तन
भीड़ में तुम हो अकेले ।।

—मिश्रीलाल जैन
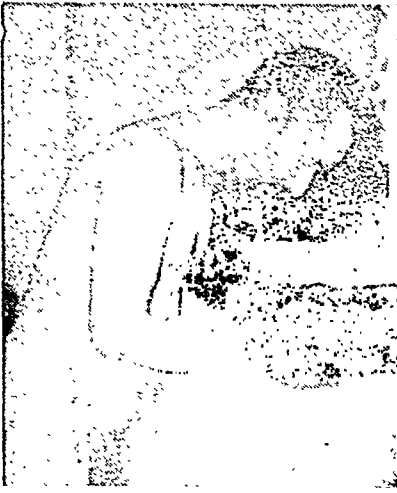
संस्कार और वैराग्य

सुरेन्द्र को वचपन से ही जिनेश्वर की सेवा में रुचि थी। आरम्भ से ही उनकी वृत्ति में अनासक्ति थी। इसका कारण था पूर्वजन्मों के सुसंस्कारों से युक्त उन्नत आत्मा !

सुरेन्द्र के पिताजी ने वचपन से सुरेन्द्र को मिथ्याचारों और आडम्बरों से दूर रखा।

अपने ताऊ से सुरेन्द्र ने सीखा प्रेम और अनुशासन-युक्त जीवन।

श्री शान्तिसागर छात्रावास में रहकर सुरेन्द्र पर विश्वबन्धुत्व के संस्कार पड़े। जन्मजात गुणों को विकसित होने का अवसर यहीं मिला।

कच्ची उम्र में ही घर छोड़ा। स्वावलम्बी वने। ठोकरें खायीं मीठे कड़वे अनुभव लिये; और उन सव अनुभवों से संसार के प्रति विरक्ति और सांसारिक सुखों के प्रति अनासक्ति हो गयी।

"अन्यथा शरणं नास्ति" भाव से श्री शान्तिनाथ भगवान की गुहार की; रोग-मुक्त होने पर श्री जिनेश्वर में भक्ति वढ़ती गयी।

पिछले पुण्यकर्मों से ही स्वयं साक्षात्कार हुआ। लम्वी वीमारी में "यह शरीर नश्वर है, जीवन क्षण-भंगुर है, कोई किसी का नहीं" यह दुर्लभवोधि प्राप्त हो गयी।

वैराग्य-वृत्ति तो उनमें जन्मजात थी। संस्कारों से यह वृत्ति दृढ़ होती गयी। साधु-संगति से दीक्षा लेने की इच्छा अदम्य हो उठी। ऐसे समय मुनिराज श्री महावीर-कीर्ति शेडवाल पहुँचे और सुरेन्द्र की मनोकामना पूरी हो गयी।

दीक्षा-ग्रहण : आचार्य महावीरकीर्तिजी; स्थान : तमदड्डी, सन् १९४६, नाम हुआ—पार्श्वकीर्ति !

मुनि-दीक्षा-ग्रहण: आचार्य देशभूषणजी; स्थान : दिल्ली, तिथि—२५-७-१९६३, नाम हुआ—विद्यानन्द !!

□

संयुक्त पुरुष : श्रीगुरु विद्यानन्द

विराट् प्रकृति में से अनायास उठ कर चला आ रहा है निसर्ग पुरुष । पृथा के निरावरण वक्षोज का नग्न सुमेरु जैसे चलायमान है । उसी की कोख में से जन्म लेकर यह उसका विजेता और स्वामी हो गया है । नदी, पर्वत, समुद्र, वन-कान्तार, नर-नारी, सकल चराचर ने इस संयुक्त पुरुष में रूप-परिग्रह किया है । इसी से यह नितान्त नग्न, निर्ग्रंथ, निष्परिग्रही है । इसी को वेद के ऋषि ने 'वातरशना' कह कर प्रणति दी है । मयूर-पींछी और कमण्डलुधारी दिगम्बर मुनि को देख कर बचपन से ही मुझे उस वातरशना का ध्यान आता रहा है । कहीं भी उसे विहार करते देख कर, मैं रोमांचित हो उठता हूँ, आँखें सजल हो आती हैं । निपट बालपन से ही यह फ़ितरत मुझ में रही है । आज स्पष्ट यह प्रतीति हो रही है, कि यह कोई निरा कुलजात रक्त-संस्कार नहीं है । यह मेरे जन्मजात कवि की चेतनागत सौन्दर्य-दृष्टि का विज़न-साक्षात्कार है ।

योगीश्वर शंकर, ऋषभदेव, भरतेश्वर, महावीर की 'इमेज' तो इस तरह सामने आयी; पर उसका आन्तर वैभव और प्रकाश कहीं देखने को नहीं मिल रहा था । साम्प्रदायिक दिगम्बर जैन मुनि के सामीप्य में आने पर मेरा वह विज़न अधिकतर भंग ही होता रहा है । किन्तु अवचेतना में उसकी पुकार और खोज चुपचाप निरन्तर चलती रही ।...

O

सन् ७१ में मौत से जूझ कर नये जीवन के तट पर आ खड़ा हुआ था । वातावरण में भगवान् महावीर के आगामी महानिर्वाणोत्सव की गूंज सुनायी पड़ रही थी । नये जीवन की ऊष्मा से प्रफुल्लित मेरे हृदय में कुछ ऐसा भाव जागा, कि क्यों न भगवान् महावीर पर एक महाकाव्य लिखूं । पर ऐसे सृजन में तो समाधिस्थ हो जाना पड़ता है । भोजन और उसकी व्यवस्था को भूल जाना होता है । भौतिकवादी पश्चिम में सृजन की ऐसी भाव-समाधि सम्भव हो तो हो, आध्यात्मवादी भारत में उसकी कल्पना करना भी अपराध है; किन्तु वह अपराध मैंने शुरू से ही किया है, और नतीजे में सदा बर्बादी के आलम का सुल्तान हो कर रहा हूं । महावीर के आवाहन से जब दिगन्त गूंज रहे थे, तो सौ गुना ज्यादा वह गुनाह करने को मैं बेचैन हो उठा । बदले में सर्वत्र पायी अवज्ञा, उपेक्षा, अपमान । निर्वाणोत्सव के झंडाधारी नेताओं को ऐसे किसी महाकाव्य में दिलचस्पी नहीं थी । वे किसी भी किराये के लेखक से सस्ते दामों पर नारों के तख्ते (प्लेकार्ड्स) और प्रचार-पोथियाँ लिखवाने में ही अपने कर्तव्य की पूर्णाहुति समझ रहे थे । या फिर क़दीमी ज़माने से चले आ रहे ढर्रे पर, शोध-अनुसंधान के विद्वानों से जैनधर्म की प्राचीनता और महिमा पर लेख लिखवाने और निर्वाण-शती-ग्रंथ निकालने के आयोजन में बहुत व्यस्त थे ।

विस्मय से अवाक् रह गया मैं; आज तक ऐसा कोई जैन साधु वर्तमान में देखा-सुना नहीं था, जो मुग्ध हो सकता हो, जो 'रसो वै स:' के मर्म से परिचित हो। कठोर तप-वैराग्य में लीन और जीवन-जगत् की नि:शारता को साँस-साँस में दुहराने वाला जैन श्रमण, साहित्य का ऐसा रसिक और विदग्ध भावक भी हो सकता है, ऐसा कभी सोचा ही नहीं था।

—वीरेन्द्रकुमार जैन

एक नेता बोले—'हमारे फलाने भाई फलाने चन्द सेठ को अद्भुत बात सूझी है । १००) इनाम, लिख दो महावीर की जीवनी सारांश में—सिर्फ पच्चीस पृष्ठों में : खुली प्रतियोगिता है : जिसका लेख कमीटी पास कर देगी, उसे १००) का नक़द पुरस्कार । वीरेन्द्र भाई, इस मौके का लाभ उठाने में चूकें नहीं…।' सुन कर मेरे हृदय में उमड़ रहे महावीर रो आये । और उन भगवान् ने साक्षात् किया कि उनके धर्म-शासन के आज जो स्तम्भ माने जाते हैं, उन्हें महावीर से अधिक अपने अहंकार, व्यापार और जयजयकार में दिलचस्पी है । वे परस्पर पुष्पहार-प्रदान, सत्कार-सम्मान में ही अधिक व्यस्त हैं । महावीर से उनका कोई लेना-देना नहीं । वह मात्र उनकी प्रतिष्ठा और प्रतिष्ठान का साइन बोर्ड और विज्ञापन है । चतुर-चूड़ामणि गांधी भी जाने-अनजाने अपनी अहिंसा की ओट, ऐसे ही साइन बोर्ड बनने को मजबूर हुए थे । वक़ौल उन्हीं के, शोषण के अशुद्ध द्रव्य (साधन) से लायी गयी आजादी (साध्य), हिन्दुस्तान के दरिद्रनारायण की मुक्ति सिद्ध न हुई, वह मुट्ठी भर सत्ता-सम्पत्ति-स्वामियों का स्वेच्छाचार होकर रह गयी ।…

महावीर मेरे सृजन में उतरने को, मेरी धमनियों में उबल रहे थे । अपने रक्त की बूंद-बूंद में धधक रहे इस वैश्वानर का क्या करूँ ? भीतर बेशक आस्था अटल थी कि वे विश्वंभर स्वयम् ही सर्वसमर्थ हैं; सो वे यज्ञपुरुष अपने अवतरण के हवन-कुण्ड कवि को ठीक समय पर हव्य प्रदान करेंगे ही । पर मनुष्य होकर अपना प्रयत्न-पुरुषार्थ किये बिना चुप कैसे बैठ सकता था । अपनी कोशिशों के दौरान शासकीय उत्सव-समिति के एक समर्थ 'निर्वाण-नेता' से मैंने पूछा : 'महानुभाव, क्या आपकी महद् योजना में भगवान पर कोई मौलिक सृजन करवाने की व्यवस्था है ?' दो टूक उत्तर मिला : 'नहीं साहब, ऐसी कोई व्यवस्था नहीं !' मैंने कहा : 'आप तो साहित्य-मर्मज्ञ हैं, साहित्य के क़द्रदाँ हैं, क्यों न ऐसी कोई व्यवस्था करवायें ?' बोले कि : 'कई अदद कमेटियाँ निर्णायक हैं, उनमें कहाँ पता चल सकता है…आदि' अधिक पूछताछ करने पर पता चला कि कमेटियों के सामने कई बड़े-बड़े काम हैं—मसलन महावीर का स्मारक-मंदिर, महावीर-उद्यान, उसमें तीर्थंकर-मूर्तियों की स्थापना और जिनेश्वरों के उपदेशों का शिलालेखन, राष्ट्रव्यापी मेले और जलसे, महावीर-झंडा, महावीर-डायरी, महावीर-ग्रीटिंग निर्माण । अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह के उपदेशक आगम-वचनों के तख्ते गाँव-गाँव में और झाड़-झाड़ पर लटका देना है । आदि-आदि ।' ठीक ही तो है, इस धुआँधार में महावीर-काव्य का बेचारे का क्या मूल्य हो सकता है ?

और उसके मूर्ख कवि की वहाँ कहाँ पूछ है ? क्योंकि उसका कोई प्रदर्शनात्मक मूल्य तो है नहीं । प्रजा के रक्त में वह संचरित हो भी सकता है, पर कहीं दिखायी तो नहीं पड़ेगा । जिसका प्रतिफल प्रत्यक्ष होकर दाता का यश-विस्तार न करे, उस दान की क्या सार्थकता?

एक मंजिल पर कवि की सृजन-योजना पर विचार-कृपा हुई भी; लेकिन रुप यह कि कुल इतने पृष्ठों में निमटा-सिमटा देना है, कुल इतना पारिश्रमिक, प्रतिमास इतने पृष्ठ लिख देने होंगे, प्रतिमास इतना रुपया मिल सकेगा । कॉंट्रैक्ट पर कवि हस्ताक्षर करेगा ही ।··· मेरे भीतर उठ रहे महावीर वह्निमान हो उठे । कॉमर्स और काण्ट्रैक्ट के कारागार में प्रकट होने से उन दिगम्बर पुरुष ने इनकार किया । मैंने पूछा : 'तो भगवन्, आखिर रचना कैसे होगी ?' वीतराग प्रभु अपने स्वभाव के अनुसार मौन रहे और मुस्कुरा आये । ··· मेरे हृदय में एक प्रचण्ड संकल्प और आत्मविश्वास प्रकट हुआ : 'नहीं, नहीं चाहिये व्यावसायिक व्यवस्था का भरण-पोषण । आकाश-वृत्ति पर अपने को छोड़कर आकाश-पुरुष का चरितगान करूंगा । चरितार्थ तब महाजन का मुखापेक्षी न रहेगा । स्वयं विश्वंभर मेरा चरितार्थ बनेंगे ।···'

तब अपने प्रयत्नों की अब तक की मूर्खता पर हँसी आये बिना न रही । मन-ही-मन अपने को उपालम्भ दिया : 'अरे कवि, तू कैसा मूढ़ है ! वणिक्-कुल में जन्म लेकर भी वणिक्-वृत्ति से तू इतना अनभिज्ञ ? महाजन के महावीर हृदय में विराजित नहीं, वे सुवर्ण कलश वाले मन्दिर के भीतर, रत्नों के सिंहासन पर, पाषाण-मूर्ति में प्रतिष्ठित हैं । वे सृजन में जीवन्त होकर, मानव के रक्त में संचरित हो जाएँ और पृथ्वी पर चलते दिखायी पड़ जाएँ, तो सत्ता-सम्पत्ति-स्वामियों के प्रतिष्ठानों में भूकम्प आ जाए, ज्वालामुखी फूट पड़ें !···, ···समझता भी कैसे अपने स्वकुल की यह रीति ? वणिक्-वंश में जन्म लेकर भी, हूँ तो आत्मा से ब्राह्मण और आचार से क्षत्रिय । अपने ही यदुवंश को प्रभुता-प्रमत्त होते देखकर, लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण ने स्वयं ही अपने वंश-विनाश का आयोजन किया था । उन्हीं मधुसूदन का आत्मज, प्रेमिक और सखा हूँ निदान में, अपनी अन्तश्चेतना में ।

अपने ही भीतर से मन्त्र प्राप्त हो गया ।···महावीर सम्पत्तिभूत मन्दिरों की पाषाण-मूर्ति में वन्दी न रह सके । वे मेरे रक्त की राह, मेरी कलम पर उतर आये हैं । और अब जल्दी ही वे वैश्वानर विप्लव-पुरुष हिन्दुस्तान की धरती पर फिर से चलने वाले हैं । जीवन्त और ज्वलन्त होकर वे भारतीय राष्ट्र की शिराओं में संचरित होने वाले हैं । वासुदेव-सखा वणिक्-वंशी कवि ने स्व-वंशनाश का पांचजन्य फूंका है । स्वयं विदेह-पुत्र महावीर वैशाली के वैभव के विरुद्ध उठे हैं; अपनी ही नसों के जड़ीभूत रक्त पर उन्होंने प्रहार किया है; अपने ही आत्म-व्यामोह के दुर्ग में उन्होंने सुरंगें लगा दी हैं । इस जीवन्त और चलते-फिरते महावीर की क्या गति होगी, हिन्दुस्तान के चौराहों पर, सो तो वे प्रभु स्वयं ही जानें । कवि की कलम तो महज उन अनिवार क्रान्ति-पुरुष के पग-धारण का वाहन बनी है । कर्तृत्व मेरा नहीं, उन यज्ञेश्वर का है । मैं तो उनके यज्ञ की आहुति ही हो सकता हूँ । सो तो धरती पर जन्म लेने के दिन से होता ही रहा हूँ । ○

· · ·लेकिन यह तो आज की बात है। तब तो कवि अपने विश्वंभर की खोज में बेताब भटक ही रहा था। · · ·योगायोग, कि दिल्ली से 'डि-लक्स' में बम्बई लौटते हुए, आधी रात तूफान के वेग से भागती ट्रेन की खिड़की में से एक सुनसान प्लेटफॉर्म पर ये अक्षर चमक उठे: 'श्री महावीरजी'। · · · बिजलियाँ लहरा गयीं नसों में। आँखों में आँसू भर आये। · · · ओह, प्रभु ने मुझे छू दिया! थाम लिया।
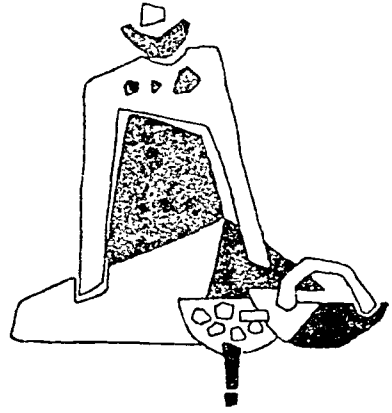
स्पष्ट प्रतीति हो गयी, चाँदनपुर के श्री महावीर ने कवि को बुलाया है। अनायास ही उनके अनुग्रह का संस्पर्श प्राप्त हुआ है। भागवद् धर्म की परम्परा में, इसीको तो अहैतुकी भगवद्-कृपा कहा गया है। श्री भगवान् का अनुगृह पाये बिना, उनका साक्षात्कार सम्भव नहीं: और उनका साक्षात्कार हुए बिना, उनकी लीला का गान करने में कोई निरा मानुष कवि समर्थ नहीं हो सकता।

· · · और १९ अक्तूबर १९७२ की बड़ी भोर हमारी 'बस' चाँदनपुर के श्री महावीर मन्दिर के सिंहपौर पर आ खड़ी हुई। साथ आयी थीं सौ. अनिलारानी और चि. डॉक्टर ज्योतीन्द्र जैन। यथाविधि व्यवस्थित होने पर, स्नानादि से निवृत्त होकर जिनालय के निज मन्दिर में प्रभु के श्रीचरणों में उपस्थित हुआ। एक दृष्टिपात में ही समूचा अस्तित्व, मानो किसी ऐसे अगाध मार्दव की ऊष्मा में पर्यवसित हो गया, कि मन में कसक रहे सारे प्रश्न और प्रतिक्रियाएँ कपूर की तरह उस वातावरण में विगलित हो गये। आँखों से अविरल बह रहे आँसुओं में, जिस परम आश्वासन और आलिंगन की अनुभूति हुई, उसे कौन भाषा कहने में समर्थ हो सकती है? उस क्षण के बाद उस तीर्थ-भूमि में विचरते हुए सर्वत्र एक अनिर्वच उपस्थिति-बोध से चेतना सुख-विभोर होती रही, और देह, प्राण, इन्द्रियाँ तथा मन, एक अपूर्व एकाग्रता में शान्त और विश्रब्ध हो गये-से लगे। ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे किसी दिव्य लोक में अतिक्रान्त हो गया हूँ। भोजन में ऐसा रस और स्वाद, जो मानो महज रसना इन्द्रिय के विषय से परे का हो। · · ·

विश्राम के बाद तीसरे पहर, मन्दिर-प्रांगण में बने एक विशाल पण्डाल में श्रीगुरु-प्रवचन का आयोजन था। ठीक समय पर पहुँचकर श्रोता-मण्डल में चुपचाप जा बैठा। पण्डाल के शीर्ष पर निर्मित एक ऊँचे व्यासपीठ के सिंहासन में विराजमान थे श्रीगुरु। उस ओर दृष्टि पड़ते ही हठात् मैं जैसे कला-शिल्प की किसी अज्ञात नैपथ्यशाला में संक्रान्त हो गया। · · · दिव्य शिल्प के उस मुहूर्त-क्षण को साक्षात् किया, जब शताब्दियों पूर्व, शिल्पी के एक ही रत्नबाण के आघात से विन्ध्यगिरि पर्वत की चट्टान में गोमटेश्वर आकार लेते चले गये थे। · · ·

और अगले ही क्षण मानो विश्व-विख्यात कलाकार पिकासो की घनत्वदर्शी कला के चित्रलोक में से गुजरा। जहाँ सामने के एक ही मूर्त स्वरूप में से अमूर्त सौन्दर्य की जाने कितनी ही आकृतियाँ और आयाम खुलते चले जाते हैं। प्रतिमासन में अवस्थित यह दिगम्बर योगी आखिर कोई मनुष्य ही तो है। फिर भी एक सुदृढ़ चतुष्कोण में जड़ित यह मानवाकृति कितनी निस्पन्द और निश्चल है। मन, वचन, काय की सारी हलन-चलन उसमें इस क्षण स्तंभित है। आँखों की दृष्टि अपलक, अनिमेष, एकाग्र होकर भी सर्व पर व्याप्त है; लेकिन आश्चर्य कि मेरे हृदय में उठ रही लौ के उत्तर में, वह दृष्टि मानो एकोन्मुख भाव से मुझे ही देख रही है।···मेरे अन्तर में जिनेश्वरों द्वारा कथित सत्ता का स्वरूप प्रस्फुरित हुआ : 'उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत्वं'। इस मानव-मूर्ति में ध्रुव के भीतर उत्पाद और व्यय के निरन्तर परिणमन की तरंगें प्रत्यक्ष अनुभूयमान हुईं। चिर दिन से 'वातरशना' का जो विजन मेरी चेतना में झलक रहा था, आज उसे प्रत्यक्ष आँखों-आगे देखा। मन्दिर की वेदी पर सवेरे श्री भगवान् की जिस जीवन्त प्रेममूर्ति के दर्शन हुए थे, उसीके 'यैः शान्तिरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं···'—सौन्दर्य-परमाणुओं को यहाँ एक जीवित मनुष्य में आकार लेने की प्रक्रिया में देखा।···

···अच्छा, तो यही हैं मुनिश्री विद्यानन्द स्वामी, जिनकी अधुनातन कही जाती वागीश्वरी की ख्याति, जैन-जगत् से चिर निर्वासित मेरे कवि के कानों तक भी पहुँची थी। शोलापुर की बालयोगिनी पं. सुमतिबाईजी ने इन्हीं के नाम एक परिचय-पत्र देते हुए मुझसे कहा था : 'आज के पूरे जैन संसार में एक वही तो है, जो तुम्हारा मूल्य आँक सकता है, जो तुम्हारी हर जिज्ञासा और अभीप्सा का उत्तर दे सकता है।' सुमति दीदी की वह वत्सल वाणी उस दिन मेरे हृदय को छू गयी थी, फिर भी मेरे अपने सन्देह, अपनी जगह पर थे। पर यहाँ आज एक दृष्टिपात मात्र में मेरे सन्देहों के वे सारे जाले सिमट गये।···

···प्रवचन के उपरान्त मुनिश्री, श्रीमहावीर-मूर्ति के प्राकट्य-तीर्थ, सुरम्य पादुका-उद्यान में, एक शिलासन पर आ विराजमान हुए। उनके सन्मुख ही लॉन में उपस्थित कुछ श्रावक-मंडल के बीच मैं भी जा बैठा। अपराह्न की कोमल ललौंही धूप से प्रभाविल उस सौन्दर्य-मूर्ति को देखकर जाने कैसे आत्मीयता-बोध से मैं तरल हो आया। मलयागिरि चन्दन-सी काया। कमल-सी कोमल, लता-सी लचीली, फिर भी चट्टान की तरह अभेद्य और अविचल। उस तपःपूत ताम्र देह में से पवित्रता की अगुरु-कपूरी गन्ध बहती महसूस हुई। ऐसी सघन, कि अपने संस्पर्श से वह मेरे भीतर के चिद्घन को पुलकाकुल किये दे रही थी।

मैंने मौका देखकर, आगे आ प्रणाम किया और सुमति दीदी का पत्र मुनिश्री के सम्मुख प्रस्तुत किया। पलक मारते में उस पर निगाह डालकर, पत्र उन्होंने चुपचाप

···महावीर सम्पत्तिभूत मन्दिरों की पाषाण-मूर्ति में बन्दी न रह सके। वे मेरे रक्त की राह, मेरी कलम पर उतर आये हैं। और अब जल्दी ही वे वैश्वानर विप्लव-पुरुष हिन्दुस्तान् की धरती पर फिर से चलने वाले हैं। जीवन्त और ज्वलन्त होकर वे भारतीय राष्ट्र की शिराओं में संचरित होने वाले हैं।....स्वयं विदेह-पुत्र महावीर वैशाली के वैभव के विरुद्ध उठे हैं; अपनी ही नसों के जड़ीभूत रक्त पर उन्होंने प्रहार किया है; अपने आत्म-व्यामोह के दुर्ग में उन्होंने सुरंगें लगा दी हैं।

अपने सेवक को थमा दिया। वीतराग आनन्द के स्मित के साथ मेरी ओर टुक देखा। एक अजीव अनवूझ-सी पहचान थी उन आँखों में। फिर भी केवल इतना ही कहा :

'यह परिचय-पत्र अनावश्यक था आपके लिए।···कल सवेरे नौ वजे, आवास पर एकान्त में वात होगी। केवल आप होंगे, अकेले।···

जिस युक्त पुरुष का अपने लेखन में नाना प्रकार से भावन-अनुभावन, आलेखन करता रहा हूँ, उसे देखा। जैन जगत् में अपने जाने ऐसा कोई मुनि तो पहले देखा नहीं था। यहाँ एक परम्परागत संन्यासी में से आधुनिकता-वोध को प्रसारित (रेडियेट) होते देखा। ○

···रात भर एक मुस्कान मुझे हॉण्ट करती रही। कवि का अनुरागी चित्त एक साधु के प्रेम में पड़ जाने के खतरनाक तट पर व्याकुल भटक रहा था।···और वह भी एक कठोर विरागी जैन श्रमण पर अनुरक्त होने की जोखिम यों एकाएक कैसे उठायी जा सकती है ? एक अजीव असमंजस में पड़ा था मेरा मन।

सवेरे तैयार होकर ठीक नियत समय पर एक रमणीय उद्यान से आवेष्टित आवास के अहाते में, वन्द द्वार खटखटाने पर ही, प्रवेश मिल सका। वताया गया कि आहार-वेला से पूर्व के इस अन्तराल में मुनिश्री किसी से मिलते नहीं हैं। आज केवल मैं ही इस समय का एकमात्र प्रतीक्षित अतिथि हूँ। शिलाधारों पर स्थापित कई प्राचीन जैन शिल्पों से सज्जित इस परिसर उद्यान के कलात्मक सौन्दर्य-लोक को देखकर मैं मुग्ध और चकित था। जैन जगत् में ऐसा दृश्य पहले कभी नहीं देखा था।

सहसा ही पाया कि एक मुस्कान मेरी राह में विछी, मेरे पैरों को खींच रही है। ···आवास के वरामदे में कल सन्ध्या की वही मलय-मूर्ति सस्मित वदन मेरे स्वागत में शान्त भाव से स्थिर दीखी। चरण-स्पर्श का लोभ संवरण न कर सका। फिर भूमिष्ठ प्रणाम कर, विनम्र भाव से सामने वैठ गया।

'···आ गये तुम ? कितने वरसों से तुम्हें खोज रहा हूँ। 'मुक्तिदूत' के रचनाकार वीरेन्द्र की मुझे तलाश रही है। पन्द्रह वर्ष तुम्हारे उस ग्रंथ को सिरहाने रखकर सोया। उसके वाक्य मेरे हृदय में गूंजते रहे। उसे पढ़कर मैंने हिन्दी सीखी। ठीक समय पर आये तुम। मुझे इस क्षण तुम्हारी जरूरत है···?'

इस धन्यता को, देह की सीमा में समाहित रखना कवि के लिए कठिन हो गया। दुःसाध्य साधन करके ही, आँखों के जल किनारों में थामे रख सका। इतना भर आया था कि, बोल सम्भव न हो रहा था। रुद्ध कण्ठ-स्वर से इतना ही कह सका :

'कृतार्थ हुआ मैं···और मेरा शब्द···!'

'सुनो वीरेन्द्र, भगवान् महावीर के आगामी परिनिर्वाणोत्सव के उपलक्ष्य में तुम्हें 'मुक्तिदूत' जैसा ही एक सर्वमनरंजन उपन्यास, भगवान् के जीवन पर लिखना होगा···।

मैं विस्मित। अपनी ओर से कुछ भी तो नहीं कहना पड़ा। तन-मन की सब मानो ये रत्ती-रत्ती जानते हैं।··· योगी ने ठीक मेरे मनोकाम्य पर उँगली रखकर, अपनी पारदृष्टि से उसे अभीष्ट रूप दे दिया। वल्लभ और किसे कहते हैं?

'महाराजश्री, कवि को भी उसकी खोज थी, जो इस माया-राज्य में चिर उपेक्षित, अनपहचानी उसकी आत्मा को पहचान सके।···श्रीगुरु को पाकर मैं धन्य हुआ।···'

अस्पृष्ट, अनासक्त वात्सल्य से वे मुझे हेरते रहे। फिर बोले :

'महावीर तुम्हारी कलम से जीवन्त प्रकट होना चाहते हैं। उपन्यास का आरम्भ शीघ्र कर देना होगा!'

'भगवन्, जो साध मन में लेकर आया था; वह तो बिन कहे ही आपने पूरी कर दी। लेकिन एक निवेदन है···'

'बोलो···!'

'उपन्यास नहीं, महाकाव्य लिखना चाहता हूँ, महावीर पर। 'मुक्तिदूत' की नियति को दुहराना नहीं चाहता। वह हिन्दी उपन्यासों के अम्बार में खो गया। साहित्य में वह घटित ही न हो सका।'

'क्या कह रहे हो? जो मेरे हृदय में बस गया, वह उपन्यास खो गया? जो हजारों नर-नारी के मन-प्राण पर छा गया, वह साहित्य में घटित न हुआ? तो फिर साहित्य में घटित होना और किसे कहते हैं? साहित्य की और कोई परिभाषा तो मैं जानता नहीं?···।'

विस्मय से अवाक् रह गया मैं। आज तक ऐसा कोई जैन साधु वर्तमान में देखा-सुना नहीं था, जो मुग्ध हो सकता हो, जो 'रसो वै सः' के मर्म से परिचित हो। कठोर तप-वैराग्य में लीन और जीवन-जगत् की निःसारता को सांस-सांस में दुहराने वाला जैन श्रमण, साहित्य का ऐसा रसिक और विदग्ध भावक भी हो सकता है, ऐसा कभी सोचा नहीं था।

जिस युक्त पुरुष का अपने लेखन में नाना प्रकार से भावन-अनुभावन, आलेखन करता रहा हूँ, उसे देखा। जैन-जगत् में अपने जाने ऐसा कोई मुनि तो पहले देखा नहीं था। यहाँ एक परम्परागत सन्यासी में से आधुनिकता-बोध को प्रसारित (रेडिएट) होते देखा।

अपनी कुल-रक्तजात आर्हती परम्परा में ही, वीतराग और अनुराग की ऐसी सुमधुर संयुति उपलब्ध कर सकूँगा, ऐसी तो कल्पना भी नहीं की थी। श्रीमहावीर कवि के मनभावन होकर सामने आ गये। भूतल पर जन्म-धारण सार्थक अनुभव हुआ।

'महाराज, अहोभाग्य, इस अकिंचन कवि को आपने पहचाना। अपने ही धर्म-रक्त में साहित्य का ऐसा मर्मज्ञ और कहाँ पा सकूँगा।···आपका आदेश शिरोधार्य है।···पर अनुमति दें, इस बार पहले महाकाव्य ही रचूँ। यह मेरा चिर दिन का स्वप्न है। उपन्यास का विस्तार समय चाहेगा, और वैसी सुविधा···।'

मैं अटक गया। तपाक् से मुनिश्री ने पूर्ति की :

'···समय तुम्हारा होगा, स्वाधीन। और साधन-सुविधा की चिन्ता तुम्हारी नहीं, हमारी होगी।'

अन्तर्यामी के सामने था। मेरे कथन से अधिक मेरे हर मनोभाव को यह जानता है। सृजन की समाधि में खो जाने की छुट्टी यह मुझे दे सकता है।···अपनी शर्तों पर नहीं, कवि के अपने स्वभाव की शर्तों पर। जैन संसार में ही नहीं, पूरे भारत में मेरे साथ तो ऐसा पहली बार हुआ। 'वातरशना' का चिरकाम्य विज़न तो साकार देखा ही, पर वह विश्वंभर भी स्वयं ही मुझे खोजता मेरे सामने आ खड़ा हुआ, जिसकी खोज में इन दिनों मैं भटक रहा था।···याद हो आया आधी रात का वह लग्न-क्षण, जब तूफानी मेल की खिड़की पर हठात् बिजली-सा चमक उठा था : 'श्री महावीरजी।' चाँदनपुर के बाबा को लेकर, जो हजारों नर-नारी के चमत्कारिक अनुभवों की कथाएँ बालपन से सुनता रहा हूँ, उसके सत्य की साक्षी पा गया। सुमति दीदी की भावमूर्ति आँखों में छलछला आयी। उनके प्रति मेरी कृतज्ञता का अन्त नहीं था।

'महाराज, उपन्यास आज के अराजक साहित्य-परिदृश्य में, अवहेलित हो जाए तो कोई ताज्जुब नहीं; किन्तु महाकाव्य विशिष्ट और विरल होने से, आज के साहित्य में भी मूल्यांकित हुए बिना न रह सकेगा।'

'साहित्यकार नहीं, लोक-हृदय होगा तुम्हारे साहित्य का मानदण्ड और निर्णायक। जान लो मुझसे, इस देश के लक्ष-लक्ष नर-नारी के हृदय में बस जाएगा तुम्हारा यह उपन्यास। इस मुहूर्त में मुझे भगवान् के लोकरंजनकारी, सर्वहृदयहारी स्वरूप का रचनाकार चाहिये। और वह तुम 'मुक्तिदूत' में सिद्ध हो चुके। वर्तमान में लोक-मानस पर उपन्यास ही छा सकता है, काव्य नहीं। पहले उपन्यास लिखकर दो, फिर महाकाव्य भी लिखवाऊँगा। वह मुझ पर छोड़ दो····!"

छोड़नेवाला मैं कौन होता हूँ ? जब छुड़ा लेने वाला ऐसा समर्थ सामने बैठा हो। यह गांडीव-धनुर्धर अर्जुन के वश का नहीं रह गया था कि वासुदेव कृष्ण के अंगुलि-निर्देश पर वह शर-सन्धान न करे। सारी व्यवस्था और विधान का जो स्वामी है, वह मुझसे अधिक मेरे अभीष्ट और कल्याण को जानता है। उसके आगे वितर्क कैसा ? उसके प्रति तो समर्पित ही हुआ जा सकता है।

'सुनो वीरेन्द्र, जब तक कहूँ नहीं, जा नहीं सकोगे।.....बताऊँगा फिर। मेरे एकान्तवास के समय में भी चाहे जब आ सकते हो। बहुत कुछ कहना-सुनना है, लेना-देना है.....।'

'भगवन्, पत्नी और पुत्र भी साथ आये हैं। एकान्त में दर्शन-लाभ चाहते हैं।'

अरे, तो उन्हें ले क्यों नहीं आये ? वे क्या तुम से अलग हैं ? कहना, उनसे मिलना चाहता हूँ।'

मैंने महाराजश्री के घुटने पर सर डाल दिया। मयूर-पिच्छिका का वह सहलाव, किसी कोमलतम हथेली के दुलार से भी अधिक मृदु, मधुर और गहरा लगा।

○

अगले दो-तीन दिनों में दूर से पास से मुनिश्री की चर्या और क्रिया-कलाप को देखा। संयुक्त पुरुष (एण्टीग्रेटेड मेन) की प्रवृत्ति सम्भवतः कैसी हो सकती है, उसका एक जीता-जागता स्वरूप सामने आया। घड़ी के काँटे पर उनका सारा कार्यक्रम अनायास चलता रहता है। जो अपने को 'अल्ट्रा-मॉडर्न' समझते हैं, वे मुझे तो कहीं से भी 'मॉडर्न' नहीं दीखते। अत्याधुनिक और अप-टू-डेट हैं स्वामी विद्यानन्द, जो वस्तु-स्वभाव की क्षणानुक्षणिक तरतमता में जीते हैं। काल को अपनी स्वभावगत चिद्क्रिया में बाँधकर वे अपने चैतन्य-देवता के जीवन-व्यापार का संवाहक और दास बना लेते हैं। इस प्रकार वे समय को समयसार में रूपान्तरित कर लेते हैं। यही तो आत्मजय और मरणजय की एकमात्र सम्भव प्रक्रिया है। और मुनिश्री विद्यानन्द की जीवन-चर्या इस प्रक्रिया का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

प्रातःकाल मन्दिर में देव-दर्शन को जाते हुए, पूर्वाह्न वेला में आहार के लिए गोचरी करते हुए, प्रवचन के समय पंडाल में आते-जाते मैंने मुनिश्री की भव्य विहार मूर्ति देखी। पुलक-रोमांच के साथ बार-बार स्मरण हो आया, आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व एक ऐसा ही नर-शार्दूल आसेतु-हिमाचल भारतवर्ष में विचरता दिखायी पड़ा था। अपनी सत्-सन्धानी सिंह-गर्जना से उसने तत्कालीन आर्यावर्त की असत्य, अन्याय, शोषण और अत्याचार की आसुरी शक्तियों के तख्ते उलट दिये थे। उसकी 'ऊँकार' ध्वनि और पगचापों से दिक्काल कम्पित होकर आत्मसमर्पण कर देते थे। चिरकाल

जो अपने को 'अल्ट्रा मार्डर्न' समझते हैं, वे मुझे तो कहीं से भी 'माडर्न' नहीं दीखते। अत्याधुनिक और 'अप-टू-डेट' हैं स्वामी विद्यानन्द, जो वस्तु-स्वभाव क्षणानुक्षणिक तरतमता में जीते हैं। काल को अपनी स्वभावगत चिद्क्रिया में वाँधकर वे अपने चैतन्य-देवता के जीवन-व्यापार का संवाहक और दास वना लेते हैं। इस प्रकार वे समय को समयसार में रूपान्तरित कर लेते हैं।

के त्रिताप-सन्तप्त सकल चराचर उसके श्रीचरणों में अभयदान और मुक्ति-लाभ करते थे। प्रशम-मूर्ति स्वामी विद्यानन्द को चलते देखकर, उसी दिगम्वर नरकेसरी की विहार-भंगिमा वार-वार मेरी आँखों में झलकी है। उनके विश्व-धर्म के प्रवचन को सुनकर लगा है कि उनकी वाणी में आर्य ऋषियों का वैश्वानर मूर्तिमान हुआ है।

सिद्धसेन दिवाकर के वाद, मैंने पहली वार एक ऐसे जैन श्रमण को देखा, जो मात्र जैन दर्शन तक सीमित संकीर्ण पदावलि में नहीं वोलता, वल्कि जो किसी कदर, अधिक मुक्त और मौलिक भापा में विश्वतत्त्व का प्रवचन करता है। मुनीश्वर विद्यानन्द एक सांस में वेद, उपनिषद्, गीता, धम्मपद, वाइविल, कुरान, ज़न्दवस्ता और समयसार उच्चरित करते हैं। संसार के आज तक के तमाम धर्मो का मौलिक भाव ग्रहण करके उन्हें उन्होंने अपनी अनैकान्तिनी विश्व-दृष्टि में समन्वित और समापित किया है। समस्त व्राह्मण-वाङमय उनके कण्ठ से निर्झर की तरह वहता रहता है। वेद, उपनिषद्, गीता, वाल्मीकि, वेदव्यास, वैष्णवों की भगवद्-वाणी, शैवागम, शाक्तागम आदि उनकी मौलिक धर्म-चेतना में, सर्वात्मभाव की रासायनिक प्रक्रिया से तदाकार हो गये हैं।

इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि भगवान् महावीर ने वैदिक परम्परा का विरोध और खण्डन नहीं किया था। अपनी कैवल्य-ज्योति से उसके मर्म को प्रकाशित कर, उसके मिथ्या, स्वार्थी रूढ़ार्थों का भंजन कर, उसे भूमा के सत्यलोक में पुनर्प्रतिष्ठित किया था। यह सच है कि आदिनाथ शंकर, ऋषभदेव, भरतेश्वर, राम, कृष्ण, महावीर, वुद्ध की संयुति का ही दूसरा नाम भारतवर्ष है। पर इसी अर्थ में यह भी सत्य है कि भगवान् वेद व्यास के विना आर्यो की आदिकालीन प्रज्ञा-धारा और भारतीय संस्कृति की कल्पना नहीं की जा सकती। दक्षिण कर्नाटक के व्राह्मण-कुलावतंस विद्यानन्द ने इस देश की आत्मा के इस मर्म को ठीक-ठीक पहचाना है। उन्हें यह पता है कि वर्तमान जिनशासन के सारे ही मूर्धन्य युगन्धर आचार्य व्राह्मणवंशी थे। भगवान् महावीर के पट्ट-गणधर इन्द्रभूति गौतम तथा अन्य दस गणधर भी तत्कालीन आर्यावर्त के व्राह्मण-श्रेष्ठ ही थे। और उनकी वैदिक सरस्वती ही जिनवाणी के रूप में प्रवाहित हुई थी। मुनिश्री विद्यानन्द सच्चे अर्थ में महावीर की उसी गणधर परम्परा के एक प्रतिनिधि महाव्राह्मण हैं।

आज तक के तमाम भारतीय वाङमय में उपलब्ध रामकथा का रासायनिक संदोहन करके, मुनिश्री ने अपनी एक स्वतन्त्र रामायण-कथा तैयार की है। इन्दौर के

गीता-मन्दिर में जब उन्होंने अपनी इस रामायण-कथा का प्रवचन किया, तो उसे सुनकर हजारों हिन्दू श्रोता भाव-विभोर हो गये। ऐसी निर्विरोधिनी और सर्वसमावेशी है मुनिश्री की वागीश्वरी। अनैकान्तिनी जिनवाणी का एकमात्र सच्चा स्वरूप यही तो हो सकता है। मुनिश्री की इस सर्वहृदयजयी मोहिनी से आकृष्ट होकर इन्दौर के मुसलमानों ने भी उन्हें अपनी धर्मसभा में प्रवचन करने को आमन्त्रित किया था। रसूलिल्लाह हज़रत मोहम्मद के इस भारतीय संस्करण को सुनकर, इन्दौर की मुस्लिम प्रजा गद्गद् हो गयी। ....उन दो-तीन दिनों के सत्संग में, ये सारे विवरण जान-सुनकर मुझे प्रतीति हुई कि वर्तमान जैन संघ ने पहली बार मुनिश्री के रूप में, महावीर के सर्वोदयी और सर्वतोभद्र व्यक्तित्व का अनुमान प्राप्त किया है।

एकान्त अवकाश के समय ही मुझे मुनिश्री से मिलने का सविशेष सौभाग्य तब मिलता रहा। बातों के दौरान उनकी विविधमुखी प्रवृत्तियों का परिचय भी मिला। उनमें एक मौलिक आविष्कारक और चयन-संचयनकारिणी प्रतिभा के दर्शन हुए। जैन वाङ्मय में उपलब्ध संगीत-विद्या को आकलित और एकत्रित करके उन्होंने जैन संगीत की एक युगानुरूप प्रांजल धारा प्रवाहित की है। इससे पूर्व जैन संस्कृत-स्तुतियों और भजनों को अत्याधुनिक 'ऑर्केस्ट्रा' (वृन्द-वाद्य) की संगत में संगीतमान करने का कार्य कभी हुआ हो, ऐसा मुझे याद नहीं आता। इतिहास, पुरातत्त्व, चित्रकला, शिल्पकला, स्थापत्य तथा ज्योतिष और अनेक प्रकार की योगविद्याओं में एवं मंत्र-तंत्र-शास्त्र में उनकी गहरी रुचि तथा व्यापक अनुसंधानपूर्ण अध्ययन देखकर मैं चकित रह गया।

काव्य और साहित्य के वे एक अत्यन्त तन्मय भावक और पारखी हैं। जैनाचार्यों के स्तुति-काव्यों के विशिष्ट चुने अंशों को जब वे उद्धृत करते हैं या उनका सस्वर गान करते हैं, तो लगता है कि पहली बार जैन महाकवियों की महाभाव वाणी को हम सुन रहे हैं। ऐसा विलक्षण होता है उनका यह चुनाव, कि उन श्लोक-पंक्तियों में हम वेद-उपनिषद्, वेद व्यास, कालिदास की सरस्वती का समन्वित आस्वाद पा जाते हैं।

हर बार मिलने पर अपने लिखे कई ग्रंथ भी एक-एक कर वे मुझे देते रहे। डेरे पर ले जाकर जब मैं उनमें से गुज़रा, तो उनका मौलिक भाषा-सौष्ठव देखकर आनन्द-विभोर हो गया। स्पष्ट ही लगा कि अपनी आत्माभिव्यक्ति की आन्तरिक आवश्यकता में से ही अपने लिए उन्होंने एक नयी भाषा का आविष्कार किया है, नया मुहाविरा रचा है। जैन वाङ्मय के रत्नाकर में से, अपनी सूक्ष्म, रस-भावग्राही अन्तर्दृष्टि द्वारा चुन-चुन कर, ऐसे भाव शबल और अर्थ-शबल शब्द-रत्न उन्होंने खनित किये हैं और अपनी भाषा में नियोजित किये हैं, कि उन्हें पढ़ते हुए चिरनव्य सारस्वत आनन्द की अनुभूति होती है।

उनके व्यक्तित्व, वर्तन, व्यवहार, चर्या और भंगिमा, सब में एक प्रकृष्ट सौन्दर्य-बोध के दर्शन होते हैं। परम वीतरागी होकर भी वे सहज ही भाविक और अनुरागी हैं।

दक्षिण कर्नाटक के ब्राह्मण-कुलावतंस विद्यानन्द ने इस देश की आत्मा के मर्म को ठीक-ठीक पहचाना है।...उन दो-तीन दिनों के सत्संग में मुझे प्रतीति हुई कि वर्तमान ने पहली बार मुनिश्री के रूप में महावीर के सर्वोदयी और सर्वतोभद्र व्यक्तित्व का अनुमान प्राप्त किया है।

नितान्त मोहमुक्त होकर भी वे परम सौन्दर्य-प्रेमी हैं। जैनों के धर्म-वाङमय में प्रेम, सौन्दर्य, अनुराग, भाव-सम्वेदन जैसे शब्द किसी अभीष्ट पारमार्थिक अर्थ में खोजे नहीं मिल सकते; पर मुनिश्री के व्यक्तित्व में सच्चिदानन्द भगवान् आत्मा की जीवोन्मुखी अभिव्यक्ति के व्यंजक ये सारे ही उदात्त गुण, एक अद्भुत आध्यात्मिक सुरावट के साथ प्रकाशमान दिखायी पड़ते हैं। वे एकबारगी ही आत्म-ध्यानी मौनी मुनि हैं, मितवचनी हैं, प्रचण्ड वक्ता हैं, अध्यात्मदर्शी हैं, तत्त्वज्ञानी हैं, कवि-कलाकार हैं, सौन्दर्य के दृष्टा और स्रष्टा महातपस्वी हैं। संयम, तप, तेज, ज्ञान, भाव, रस और सौन्दर्य का ऐसा समन्वित स्वरूप किसी जैन मुनि में इससे पूर्व मेरे देखने में नहीं आया।

○

इसी बीच अपराह्न के मिलन में सौ. अनिलारानी और चि. डॉक्टर ज्योतीन्द्र जैन भी मेरे साथ रहते थे। अनिलारानी में मुनिश्री को कवि की सती गृह-लक्ष्मी दिखायी पड़ी: स्नेहपूर्वक उन्होंने उनका सम्मान किया। ज्योतीन को पाकर तो वे मुग्ध और भाव-विभोर हो गये। वियेना विश्व-विद्यालय में नृतत्त्व-विद्या पर उसके पीएच. डी. के अध्ययन, यूरप में उसके तीन वर्षव्यापी प्रवास तथा उसके विविध खोज-अनुसन्धानों की साहस-कथा को सुनकर वे वात्सल्य से गद्गद् हो आये। एक दिन प्रसंगात् अनिला को और मुझे लक्ष्य करके बोले:

'यह लड़का हमको बहुत पसंद आ गया। इसका उठना-बैठना, बात-व्यवहार सब बहुत विनीत और मधुर है। इसे हमको दे दो न.... ?'

मेरी आँखें भर आयीं। मैंने कहा:

'आपका ही तो है। मैं उस दिन को अपने जीवन का परम मंगल-मुहूर्त मानूंगा, जब ज्योतीन आपका कमंडल उठाकर, आपकी देशव्यापी लोक-यात्रा में आपका पदानुसरण करता दिखायी पड़े।....'

महाराजश्री एकटक ज्योतीन की ओर निहारते हुए हँसते रहे। उनकी वह हृदयहारिणी दृष्टि भूलती नहीं है।

मुनिश्री की हिमालय-यात्रा का वृत्तान्त सुनकर सहस्राब्दियों पूर्व भगवान् ऋषभदेव के हिमवान-आरोहण की नारसिंही मुद्रा मेरी आँखों में झलक उठी। मैंने उसी प्रसंग में निवेदन किया:

'भगवन्, आप तो नूतन युग के श्रमण हैं। क्या पश्चिमी गोलार्द्ध और विश्व-श्रमण के बिना आपकी धर्म-दिग्विजय-यात्रा सम्पन्न हो सकेगी ? यूरप और अमेरिका आपको पा कर धन्य हो जाएँगे।'

महाराजश्री मुस्कुरा आये। धीर, शान्त भाव से उन्होंने उत्तर दिया :

'नहीं वीरेन्द्र, हिमालय में जाना चाहता हूँ····! '

'क्या आप भी परापूर्व के योगियों की तरह हिमालय की हिमानियों में जाकर समाधिस्थ हो जाना चाहेंगे ? अवसर्पिणी की पतनोन्मुखी और पीड़ित मानवता के त्राण का भार फिर कौन उठायेगा ? आज का त्राहिमाम् पुकारता विश्व, लोक-वल्लभ विद्यानन्द को अपने बीच धुरी के रूप में पाना चाहता है।'

'उसी आह्वान का अन्तिम उत्तर खोजने के लिए हिमालय में जाना होगा। वह उत्तर पा सका, तो लोक के पास लौटना ही होगा। तीर्थंकर तक लौटे बिना न रह सके, तो मेरी क्या हस्ती ?····'

मुनिश्री के भावी आत्मोत्थान की अदृष्ट श्रेणियों का किंचित् आभास पा सका, मैं इस उत्तर में। एक गहरे आश्वासन का अनुभव हुआ।

इसी बीच एक दिन, श्री महावीरजी की इस तीर्थ-भूमि का जो कृपा-प्रासादिक अनुभव मुझे हुआ था, उसका ज़िक्र मैंने प्रसंगात् महाराजश्री से किया। वे बोले :

'यह स्थान हमें बहुत प्रिय है। इस कारण कि यहाँ एक दिन, किसी दीन-दलित चमार के हाथों श्री भगवान् ने प्रकट होना स्वीकार किया था। लक्ष-कोटि सम्पत्ति के स्वामी और इस मन्दिर के निर्माता भी प्रभु के रथ को हिला तक न सके, किन्तु चमार का हाथ लगते ही रथ के पहिये चल पड़े ····।'

मैं स्तब्ध रह गया सुनकर। मेरा भगवद्परायण वैष्णव हृदय भर आया। स्पष्ट प्रतीति हुई कि मुनिश्री ने श्री भगवान् के नानामुखी, अनैकान्तिक स्वरूप का साक्षात्कार किया है। वे निरे शुष्क कठमुल्ला जैन तत्त्वज्ञानी नहीं हैं, किन्तु भगवदानुभव से भावित एक मुक्त योगी हैं। उनके अरिहन्त केवल निर्वाण के कपाटों में बन्द हो रहने को उद्यत सिद्धात्मा ही नहीं हैं, वे दीन-दलित के परित्राता पतित-पावन जनार्दन भी हैं। वे केवल परब्रह्म नहीं, अपेक्षा विशेष से लोक के धाता-विधाता, नियन्ता, त्राता, अरिहन्ता—ब्रह्मा. विष्णु और महेश भी हैं। ○

मुझे यहाँ से जयपुर और दिल्ली जाना था। मैंने दो दिन बाद मुनिश्री से निवेदन किया :

'आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा में हूँ। यहाँ से जयपुर होते हुए दिल्ली भी जाना है।'

गोपालदास वरैया और गणेशप्रसाद वर्णी की जनेता धर्म-कोख आज बाँझ होने की हद पर खड़ी है। क्या समाज के सर्वेश्वरों को इसकी चिन्ता कभी व्यापी है? कतई नहीं। कान पर जूँ तक नहीं रेंगती; क्योंकि यह व्यवस्था गैर सामाजिक और गैर जिम्मेवाराना है। यह समाज है ही नहीं, केवल व्यक्त स्वार्थों के पारस्परिक गठबन्धन की दुरभिसन्धि है।...

'अवश्य जाओगे। पर क्या ख़ाली हाथ जाओगे? हमारे गत वर्षावास में इन्दौर में श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन समिति की स्थापना हुई थी। उसके तत्त्वावधान में ही तुम्हें महावीर-उपन्यास लिखना है। उसके मंत्री बाबूलाल पाटोदी कल सवेरे यहाँ पहुँच रहे हैं।....उनके आने पर यह व्यवस्था उन्हें सहेज दूंगा। उनसे मिलकर चले जाना।'

.....अद्भुत दैवयोग सामने उपस्थित हुआ। मैं चकित रह गया। बाबूभाई तो मेरे इन्दौर-काल के स्नेही और मित्र रहे हैं। युग बीत गये, उनसे भेंट न हुई। पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में वे अपनी तेजोदृप्त वाणी से मध्यप्रदेश की राजनीति के तख्ते हिलाते रहे, और मैं अपने सृजन की चोटियों पर आरोहण करने के संघर्ष के दौरान, अनेक अवरोधों की अन्धी घाटियों में अकेला टकराता रहा। बाबूभाई आखिर राजनीति की वारांगना को तिलांजलि देकर, उसके अनेक प्रेमियों के व्यंग्य-बाणों की अवहेलना करते हुए, भगवान् महावीर के धर्म-शासन की सेवा में समर्पित हो गये। और मैं द्विजन्म पाकर उन्हीं भगवान् के चरितगान का संकल्प लेकर श्री महावीरजी आया था।

....अगले दिन सवेरे ही, चाँदनपुर के त्रिलोक-पिता के श्रीवत्सल चरणों में, जब बरसों बाद हम दोनों भाई आलिंगनबद्ध हुए, वात्सल्य-प्रीति का वह लग्न-क्षण मेरी चेतना की शाश्वती में अमर हो गया है। ऐसे मिले मानो जनम-जनम के बिछुड़े मिले हों। इसी को तो कहते हैं दिव्य संयोग, और श्रीगुरु-कृपा। हमने मिलकर जाने कितने पुराने संस्मरण दोहराये। बाबूभाई उन्मेषित होकर बोले: 'वीरेन भाई, केवल तुम्हीं वह लिख सकते हो, जो महाराजश्री चाहते हैं। और सुनो मेरी बात, 'मुक्तिदूत' से बहुत-बहुत आगे जाएगा, तुम्हारा यह उपन्यास। मैं जानता हूँ, तुम्हारी यह कृति तमाम दुनिया में जाएगी, विश्व-विख्यात होगी।'......मैं सर से पैर तक रोमांचित हो आया, अपने एक स्नेही भाई की यह वात्सल्य-गर्वी वाणी सुनकर। लगा कि जैसे स्वयम् मेरी नियति बोल रही है....!

....आज जब उपन्यास समाप्ति की ओर है, बाबूभाई के वे ज्वलन्त शब्द स्मरण करके कृतज्ञता से मूक हो जाता हूँ। विश्व-ख्याति की बात मैं नहीं जानता, वह मेरा लक्ष्य भी नहीं। पर भगवान् महावीर ने मेरी क़लम से उतरकर धरती पर चलना स्वीकार

किया है, ऐसा तो मुझे अचूक प्रतीयमान हो रहा है। मेरा इसमें कोई कर्तृत्व नहीं : यह केवल उन प्रभु की जिनेश्वरी कृपा का खेल है।''''

''''मुनिश्री के आदेशानुसार, तीसरे पहर हम दोनों उनके निकट उपस्थित हुए। व्यवस्था की वात पर मैं विचित्र असमंजस में पड़ गया। दूध का जला छाछ को भी फूँककर पीता है। इसी सन्दर्भ में जैन समाज से सम्वद्ध अपने कई विगत अनुभव मुझे स्मरण हो आये। मेरे भीतर अवज्ञा और अपमान के कई पुराने ज़ख्म टीस उठे। मैं झिझकता-सा बोला :

महाराज श्री कुछ कहना चाहता हूँ।...'

'दिल खोलकर कहो, दिल में कुछ दवा रहे, यह ठीक नहीं।'

आश्वस्त हुआ और भावाविष्ट होकर बोला :

'भगवन्, इस आना-पाई-सिक्के हिसाव-किताव की वणिक् व्यवस्था से, मेरी कभी वनी नहीं, और वनेगी भी नहीं। मैं ठहरा आत्मजात ब्राह्मण, किसी ऋणानुवन्ध से योगात् वणिक्-वंश में जन्म पा गया। पर वणिक नहीं हो सका, ब्राह्मण ही रह गया। और इसे मैं अपने मानव-जन्म की धन्यता मानता हूँ।'

मुनिश्री शान्त, समाहित भाव से वोले :

'सो तो प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। इसमें सन्देह की कहाँ गुंजाइश है। इसी से तो मुझे तुम्हारी ज़रूरत है। ब्राह्मण-श्रेष्ठ इन्द्रभूति गौतम की प्रतीक्षा में तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि तक रुकी रही''''?'

मुझे सुदृढ़ सम्वल प्राप्त हो गया। मैंने निर्भीक भाव से निवेदन किया :

'''''हिसाव-किताव से चलना मेरे वश का नहीं। यहाँ तो दान भी ठीक-ठीक गिनकर दिया जाता है, वही-खाते में पाई-पाई लिखा जाता है, और उस पर दाता के नाम का शिलालेख जड़कर, उसमें ठीक-ठीक रक़म आँकी जाती है। और वदले में अगले जन्म में मिलने वाले पुण्य का इन्श्योरेंस और वेंक-वेलेंस भी चक्रवृद्धि-व्याज सहित गिन लिया जाता है...।'

'जानता हूँ, कहे जाओ, अपनी वात। तुम्हारे दर्द को सुनना चाहता हूँ।'

'इस समाज ने जिन-शासन की परम्परा के एकमात्र ज्ञान-संवाहक पंडितों को अपने द्वार के भिखारी, भामटे (ब्राह्मण के लिए महाजनों का तिरस्कार सूचक शब्द) वनाकर छोड़ दिया है। उदर-पोषण की उनकी विवशता का दुरुपयोग करके हमने उन्हें श्रीमन्तों के चाटुकार और भाट वना दिया। वुन्देलखण्ड की पंडित-रत्न-प्रसविनी धरती इसकी साक्षी है। वुन्देलखण्ड की पंडित-जनेतृ माओं के आँसू और ज़ख्म इसके साक्षी हैं।''''' नतीजा आखिर यह हुआ कि आज के जागृत वुन्देलखण्ड का जैन युवा धर्म-शास्त्र

(शेष पृष्ठ ९२ पर)

मुनिश्री विद्यानन्द; जन्म : शेडवाल (कर्नाटक); 22 अप्रैल 1925
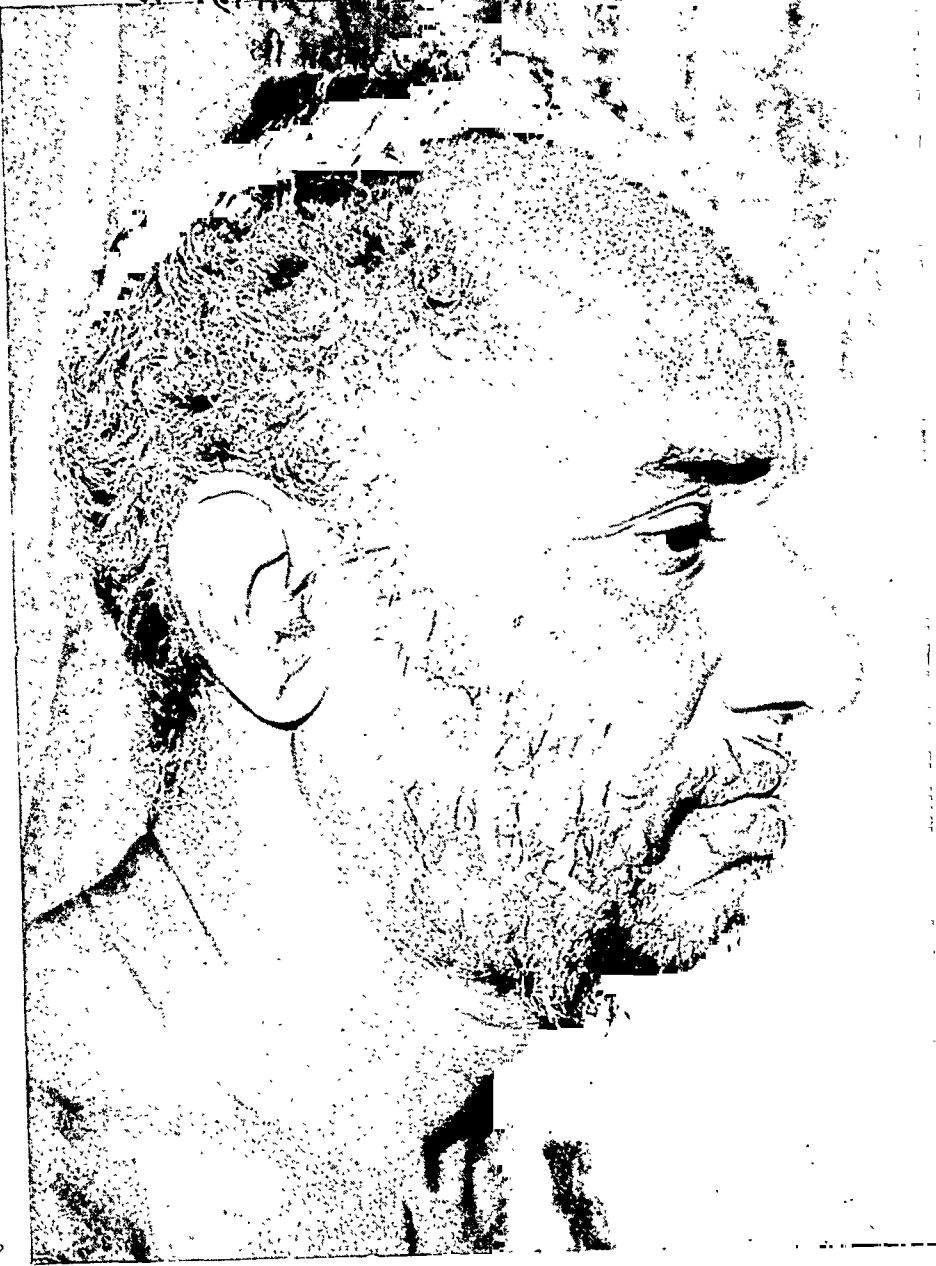
अधरों पर दुखियों की कविता
आँखों में सारे तीर्थंकर

शेडवाल ग्राम (कर्नाटक) स्थित वह मकान जहाँ बालक सुरेन्द्र का 22 अप्रैल 1925 को सायंकाल 6 बजकर 45 मिनिट पर श्री कालप्पा उपाध्ये के यहाँ जन्म हुआ।

शेडवाल-स्थित नेमिनाथ विद्यालय जहां बालक सुरेन्द्र उपाध्ये ने संस्कृत, संगीत एवं धर्म की शिक्षा प्राप्त की (1938 ई.)

श्रीमती सरस्वती उपाध्ये

माँ सरस्वती

सरस्वती-पुत्र
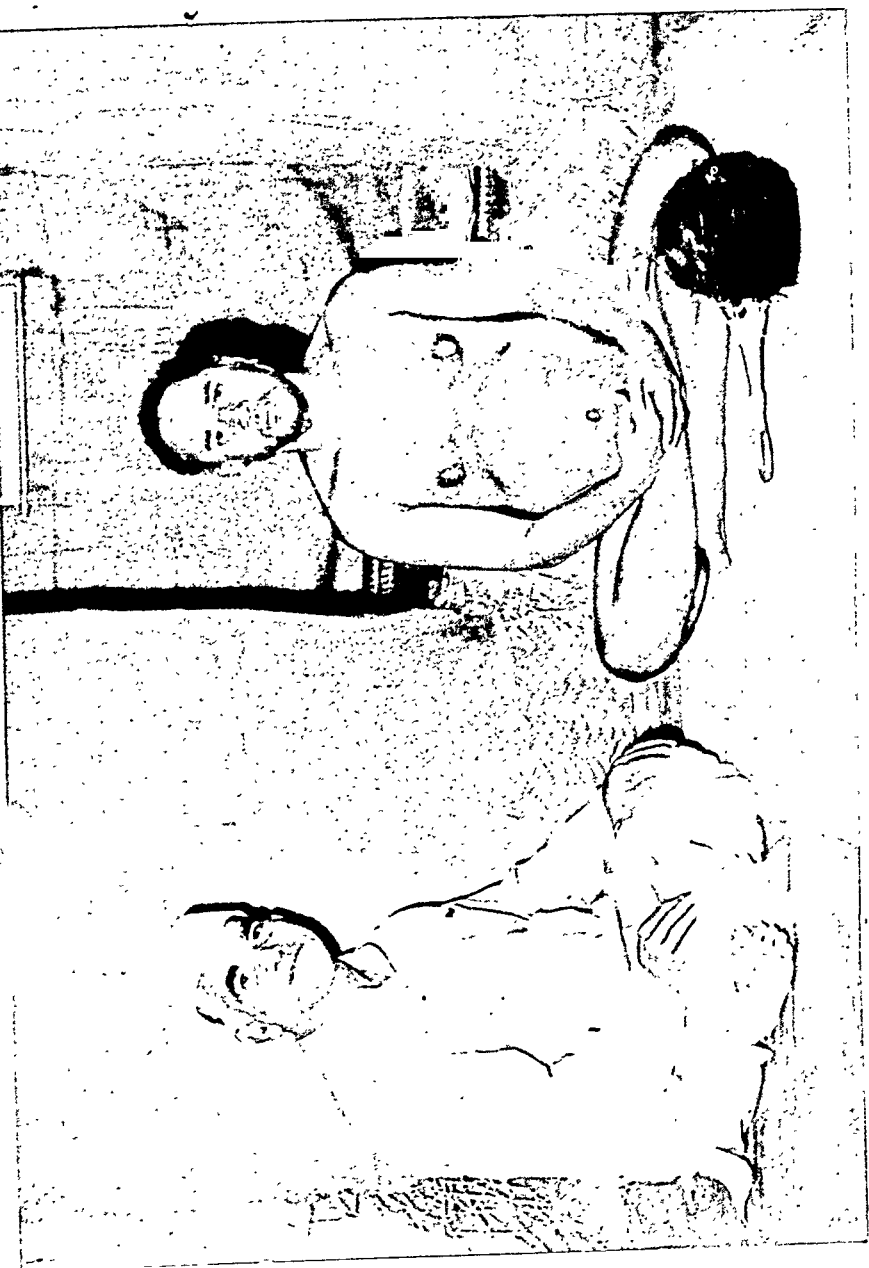
शिक्षा-गुरु श्री वासुदेव अनन्त मांगळे और मुनिश्री विद्यानन्दजी महाराज

स्व. आचार्यश्री महावीर कीर्तिजी महाराज जिन्होंने 1946 ई. में ब्र. सुरेन्द्र को तमदड्डी में क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति के रूप में दीक्षा दी।

आचार्य श्री देशभूषणजी महाराज जिन्होंने 25 जुलाई 1963 को दिल्ली में क्षुल्लक श्री पार्श्वकीर्तिजी को मुनिश्री विद्यानन्दजी के रूप में दीक्षित किया।

तीर्थंकर शान्तिनाथ की शेडवाल-स्थित वह मनोज्ञ प्रतिमा जिसके सम्मुख सन् 1945 के पर्युषण-पर्व की अनन्त चतुर्दशी को युवा सुरेन्द्र उपाध्ये ने आजीवन ब्रह्मचर्य का संकल्प किया। संकल्प था: 'प्रभो, आप ही मुझे इस विषम ज्वर से बचायेंगे। यदि मैं बच गया तो आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण करूंगा, महात्मा गांधी-जैसा मेरा वेश होगा, धर्म-सेवा और राष्ट्र-सेवा मेरा अविचल व्रत होगा।' भगवान् शान्तिनाथ की कृपा-छाया में सुरेन्द्र स्वस्थ हुए और तब से उन्होंने आत्मकल्याण और मानव-हित में स्वयं को समर्पित कर दिया।

विद्या का आनन्द　　　　आनन्द की विद्या

मुनिश्री विद्यानन्दजी : जन्म-शेडवाल (कर्नाटक); वैशाख कृष्णा 14, वि. सं. 1982

श्री कानजी स्वामी : जन्म-उमराला ग्राम (काठियावाड़); वैशाख शुक्ला 2, वि. सं. 1946

समयसार और सम्यग्दर्शन ज्ञान एकानुप्रविष्ट समानार्थी शब्द-युगल हैं। जो समयसार है, वही सम्यग्दर्शनज्ञान है। यह समयसार केवलज्ञानादि अनन्त गुणों का पुंज है।

—मुनिश्री विद्यानन्द : निर्मल आत्मा ही समयसार
पृ. 32, जनवरी 1972

......चिदानन्द-ध्रुवस्वभावी अेवा समयसारमां समाइ जवा मागीअे छीअे. बाह्य के अंतर संयोग स्वप्ने पण जोइतो नथी. बहारना भाव अनंतकाल कर्या......हवे अमारुं परिणमन अंदर ढले छे. अप्रतिहतभावे अंतरस्वरूपमां ढल्या ते ढल्या......हवे अमारी शुद्ध परिणतिने रोकवा जगतमां कोई समर्थ नथी.

—श्री कानजीस्वामी हीरक जयन्ती अभिनन्दन-ग्रन्थ;
पृ. 268, मई 1964

मुनिश्री विद्यानन्दजी के चरण-युगल: दीक्षा के मासोपरान्त 1963

जिधर दिगम्बर पग धरते हैं
उधर वुझे दीपक जल जाते

यात्रा : विद्या के, आनन्द की

आज वह जो बोलते हैं, सीधा हृदय में उतरता है, और उनकी शैली का निजी माधुर्य मोहित करता है। उनकी साधना और उनके ज्ञान की गहराई ने अभिव्यक्ति का माध्यम पा लिया है, अर्थात् उन्हें जन-जन ने पा लिया है।

○ **श्रीमती रमारानी**

मुनिश्री विद्यानन्दजी से मेरा पहला साक्षात्कार उस समय हुआ जब आचार्य श्री देशभूषणजी के सान्निध्य में वे धार्मिक साधना की उस मंजिल पर पहुँच गये थे जहाँ से उस पथ पर आगे ही वढ़ा जाता है; पीछे लौटना या स्थिर खड़े रहना संभव नहीं होता। मेरे पति (साहूजी) उन्हें वहुत पहले से जानते थे। एक विशेष प्रकार की सहज आत्मीयता दोनों के वीच स्थापित है, यह मैं दोनों के वार्तालापों से जान चुकी थी। साहूजी को मैंने उस समय के व्रती-ब्रह्मचारी विद्यानन्दजी से यह कहते सुना कि "आप मुनिव्रत धारण न करें। सामाजिक चेतना को जगाने और सामाजिक उन्नति के कार्यों को दिशा देने का महत्त्वपूर्ण काम मुनिपद की कठोर मर्यादा के कारण सीमित हो जाएगा।" यह वात उनके द्वारा शायद, पहले भी कही गयी होगी; क्योंकि दूसरी ओर से जो उत्तर आया उसमें आकुलता की गहराई थी : "साहूजी, आप मुझ से जव-जव यह कहते हैं, मैं एक असमंजस में पड़ जाता हूँ, क्योंकि आप की भावना को मैं समझता हूँ, और उसका आदर भी करना चाहता हूँ, लेकिन अन्दर की प्रेरणा अव इतनी वलवती है कि वह तो होना ही है। आप ऐसी सलाह देकर क्यों कर्म वाँधते हैं ?" साहूजी फिर कुछ न वोले। मुझे उस संयमी व्यक्ति की यह सव वात अच्छी लगी। यद्यपि मेरे मन ने भी साहूजी की वात का समर्थन किया था।

जहाँ तक सामाजिक चेतना को जागृत करने की वात का सम्वन्ध था—मुझे लगा कि जैन समाज के साधु-व्रती 'सामाजिक चेतना' को जागृत करने का जो अर्थ समझते हैं, उसकी सीमा सामान्य रूप से वहुत तंग होती है। साहूजी की अपेक्षाएँ उससे आगे जाती हैं। मुझे यह भी लगा कि श्री विद्यानन्दजी की दीक्षा की भावना तो वास्तव में तीव्र है, किन्तु सामाजिक चेतना को जागृत करने के लिए जिस प्रकार की वाक्शक्ति, शैली में प्रभाव और भाषा में प्रवाह होना चाहिये वह कमतर है; लगता है जैसे सोचते किसी और भाषा में हैं, कहते हैं किसी दूसरी भाषा में जिसका मुहावरा उनकी पकड़ में नहीं है। इसलिए तपस्या और संयम का मार्ग पकड़कर पूरी लगन के साथ आत्म-

कल्याण तो कर सकते हैं; किन्तु सामाजिक चेतना का प्रयत्न कितना सार्थक हो पायेगा ? आज जब मुनिश्री विद्यानन्दजी महाराज के दर्शन करती हूँ और उनका प्रवचन सुनती हूँ तब अपनी प्रारम्भिक नादान धारणा पर स्वयं ही लज्जित हो जाती हूँ ।

मुनि-दीक्षा धारण करने के बाद से श्री विद्यानन्दजी महाराज ने ज्ञानार्जन की यात्रा पर बहुत सधे पग बढ़ाये । जितना पढ़ा, उससे अधिक उस पर मनन किया । उस ज्ञान का भंडार जितना अधिक बढ़ता गया, उसे जनता तक ठीक-ठीक प्रभावकारी ढंग से पहुँचाने की साध भी उसी मात्रा में बढ़ती गयी । इसके लिए उन्होंने स्वयं को अपना ही शिष्य बनाया और एक छात्र की भाँति एक-एक कदम मंजिल तय की । भाषा, भाषण और शैली के कितने ही प्रयोग किये और एक दिन वह आ गया कि मुनिश्री की वाणी साकार सरस्वती बन गयी । आज वह जो बोलते हैं, सीधा हृदय में उतरता है, और उनकी शैली का निजी माधुर्य मोहित करता है । उनकी साधना और उनके ज्ञान की गहराई ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम पा लिया है—अर्थात् उन्हें जन-जन ने पा लिया है ।

मुनिश्री अध्यात्म और साधना के ऊँचे शिखर पर रहते हैं, किन्तु दूसरों की मानवीय भावभूमि से वे सर्वथा कट नहीं गये हैं । वैष्णव कुल से जैन कुल में ब्याही आकर मुझे त्यागियों और मुनियों के जिस रूप के दर्शन हुए थे और जैसा मैं सुना करती थी, उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण बातों के साथ-साथ प्रायः ऐसी बातों पर भी जोर दिया जाता था जो अन्तरंग शुद्धि की अपेक्षा, बाह्यशुद्धि और शूद्रजल त्याग जैसे संकल्पों को मुखरता से प्रतिपादित करते थे । यद्यपि श्रद्धेय श्री गणेशप्रसादजी वर्णी जैसे सन्त भी थे जो हृदय के सम्पूर्ण आशीर्वाद के साथ सही तत्त्व-दृष्टि देते थे और बाह्य कर्मकाण्ड की पद्धति को गौण मानते थे । मुनि श्री विद्यानन्दजी ने जब भी मुझसे बात की उसे सदा सहज बनाया—बाह्य कर्मकाण्ड के विषय में कभी चर्चा भी नहीं की । अधिकतर यह बताते की उन्होंने विभिन्न धर्मों के किन-किन ग्रन्थों से जैनधर्म-सम्बन्धी सिद्धान्तों का संकलन किया है । ज्ञानपीठ की नयी प्रवृत्तियों के विषय में पूछते, कुशल-क्षेम जानते । मुझे उनके दर्शन करने पर सदा ही लगा कि अत्यन्त ज्ञानी किन्तु मानवीय गुरुजन का आशीर्वाद मिला है; मेरी भावनाओं का उदात्तीकरण हुआ है ।

मुनिश्री साधक तो हैं ही पर हृदय से कलाकार है, जिनकी परिष्कृत रुचि काव्य, संगीत, ललित कला और सौन्दर्य-बोध के तत्त्व रचे-पचे हैं । शुद्धता और स्वच्छता, समय की पाबन्दी, कार्यक्रमों की संयोजना और परिचालना में तत्पर शालीनता-अर्थात् एक उदार व्यक्तित्व, जो मन को बाँधता है, भावनाओं को उदात्त बनाता है, शान्ति समता और सौहार्द के सन्देश से जनमानस को प्रेरित करता है, आकुल जीवन को स्थिरता देता है । □ □
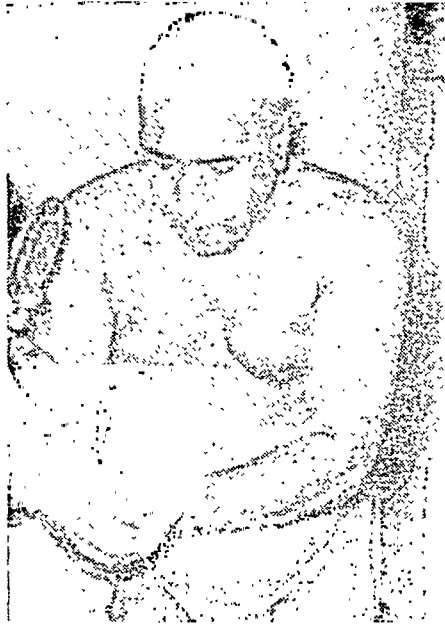
युगपुरुष

□ कल्याणकुमार जैन 'शशि'

आज तुम्हारे द्वारा जो पावन गंगा वहती है,
वह चारित्रिक गाथा की निर्माण-कथा कहती है।
कथनी-करनी में न विरोधाभास कहीं मिलता है,
वाणी सुनकर भव्य मनुज का हृदय-कमल खिलता है।
जिसके द्वारा आत्मधर्म की होती है पहिचान !
धर्म संत, युगपुरुष, पूज्य मुनि विद्यानन्द महान् !

वातावरण बदल देते हैं, जहाँ पाँव धरते हैं,
मुख-रूपी रत्नाकर से, नय के निर्झर झरते हैं।
चरम लक्ष्य पाने की मन में, जिज्ञासा भरते हैं,
आत्म तथा परमात्म रूप का प्रतिपादन करते हैं।
इसी क्षपक श्रेणी से चढ़कर भक्त बने भगवान् !
धर्म सन्त, युगपुरुष पूज्य मुनि विद्यानन्द महान् !

फैली हुई भ्रान्तियों को, तुमने सर्वत्र हटाया,
मुनि-उपदेशों के सुनने का वातावरण बनाया।
जैनागम के माध्यम से ही, विश्व-धर्म समझाया,
कट्टर अडिग महाधीशों से तुमने आदर पाया।
दिया तुम्हारी क्षमताओं ने तुम्हें विशद सम्मान।
धर्म सन्त, युगपुरुष, पूज्य मुनि विद्यानन्द महान्।

शुद्ध नग्नता के स्वरूप को, जहाँ न अब तक जाना,
वहाँ तुम्हारे माध्यम से इसका महत्त्व पहिचाना।
पग-पग पर बढ़ता जाता था, जो विरोध मनमाना,
किन्तु आज इस नग्न सत्य को, हर विरोध ने माना।

हृदयंगम हो जाने वाले, प्रस्तुत किये प्रमाण।
धर्म सन्त, युगपुरुष, पूज्य मुनि विद्यानन्द महान्।

जहाँ जैन का नाम श्रवण कर मठाधीश घबराये,
अपनी प्रतिभा द्वारा तुमने उनसे आदर पाये।
मानस को जागृत कर, ऐसे केन्द्र-विन्दु पर लाये,
जिसमें एक घाट जल पीते, अपने और पराये।

तुममें गर्भित ग्रन्थ, बाइविल, गीता, वेद, पुराण।
धर्म संत, युगपुरुष, पूज्य मुनि विद्यानन्द महान।

सब के मन को मोह रहा, आत्मिक उपदेश तुम्हारा
जहाँ-जहाँ पग धरे वहाँ,वह चली धर्म की धारा।
मानवता को भूल रहा था, वैज्ञानिक जग सारा,
मानव की डिगती आस्था को, तुमने दिया सहारा।

सीधा मार्ग पा गया फिर भूला-भटका श्रद्धान!
धर्म सन्त, युगपुरुष, पूज्य मुनि विद्यानन्द महान्!

जनता कहाँ समझ पाती है, उलझन की परिभाषा,
इसीलिए जन-साधारण की क्षुब्ध रही जिज्ञासा।
इसके फलस्वरूप धर्मों से बढ़ने लगी निराशा,
मिटी तुम्हारे प्रवचन से जनता की तृषित पिपासा।

पाया है मुमुक्षुओं ने दुर्लभ आत्मिक वरदान।
धर्म गुरु, युगपुरुष, पूज्य मुनि विद्यानन्द महान्।

धर्म-विमुख पीढ़ी के मन में, उमड़ रही शंकाएँ,
उसको आकर्षित करती, मंगल ग्रह की उल्काएँ।
किंवदंतियाँ लगती उसको पौराणिक चर्चाएँ,
इसको रुचती हैं केवल वैज्ञानिक-परिभाषाएँ।

मिला तुम्हारे समाधान में व्यवहारिक व्यवधान।
धर्म सन्त, युगपुरुष, पूज्य मुनि विद्यानन्द महान्।

□□

मेरी डायरी के कुछ पन्ने

उनकी मधुर ज्ञानालोक-विकीर्ण स्मिति मध्यमा और तर्जनी अंगुलियों के सहारे जो परिभाषाएँ और व्याख्याएँ प्रस्तुत करती है, वे उदात्त जीवन-सूत्रों की कारिकाएँ तथा वृत्तियाँ वन जारी हैं।

☐ डा. अम्बाप्रसाद 'सुमन'

परम पूज्य एवं श्रद्धेय मुनिश्री विद्यानन्दजी महाराज आज अलीगढ़ में नहीं है। वे २६ जून १९७३ ई. को ही अलीगढ़ से मेरठ-निवास के लक्ष्य को लेकर प्रस्थान कर गये हैं; फिर भी मैं अपनी डायरी में २१ जून से २५ जून, ७३ तक के पन्नों को वार-वार देखता हूँ और पढ़ता हूँ। यद्यपि वे पन्ने देखने में डायरी के शेप पन्नों के ही समान हैं, तथापि मुझे उनमें एक निराली ज्योति दृष्टिगोचर होती है। उन पन्नों के अक्षरों के अंतराल में से जिस दिगम्वर तपोमूर्ति की झाँकी मुझे मिलती है, वह मूर्ति नामालूम क्यों अपनी ओर वार-वार मुझे खींचती है? मूर्ति की ओर मैं खिचता हूँ और पन्नों के अक्षरों की ओर मेरी आँखें। मेरी आँखें अक्षरों की पृष्ठभूमि में एक दिव्य काष्ठ-मंच पर आसीन एक ऐसी सदेह आत्मा के दर्शन कर रही हैं, जो सांसरिकता को त्याग कर 'विदेह' वन चुकी है। उस आत्मा के दिव्य प्रकाश से मेरी डायरी के पन्ने और अक्षर ऐसे चमक उठे हैं कि मैं उन्हें वार-वार देखता हूँ और पढ़ता हूँ, किन्तु अतृप्त-सा वना रहता हूँ और फिर तृप्ति के लिए वार-वार पढ़ता हूँ। डायरी में लिखे पन्ने तो और भी हैं; पर वे इतने कान्तिमान् नहीं; क्योंकि उन्हें वैसा प्रकाश प्राप्त नहीं है। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् के ऋषि ने सत्य ही कहा है कि—"तमेव भान्तमनुभाति सर्व, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।"

मेरी आँखों की पुतलियों के तिलों में डायरी के केवल पाँच पन्ने हैं; उन पन्नों पर कुछ अक्षर हैं और उन अक्षरों में पंचतत्त्व-निर्मित एक निर्वस्त्र-मझोला हलका-मांसल श्यामल शरीर है। उसके सिर, मुख, छाती और पेट पर कुछ वड़े-छोटे वाल हैं, जो आयु के वार्धक्य को नहीं, अपितु तपश्चर्या के वार्धक्य को प्रकट करते हैं। श्याम पिच्छी और श्वेत कमंडलु ही उसके संगी-साथी हैं। उस मांसल श्यामल शरीर के शरीरी को वैठने की मुद्रा में सुखासन ही प्रिय है। हमारी आँखों को वह शरीरी नग्न लगता है, किन्तु उसे नग्नता का भान ही नहीं है। दिगम्वरत्व'

और 'साम्वरत्व' उसके जीवन-ग्रन्थ के पर्यायवाची शब्द हैं। वस्त्र-राहित्य उसके लिए वहुत सहज और स्वाभाविक वन चुका है। मेरी आँखों की पुतलियों में समाये हुए उस शरीरी का शरीर वता रहा है कि साम्वरत्व में 'नरत्व' और दिगम्वरत्व में 'मुनित्व' निवास करता है। प्रवचन के क्षणों में उस दिगम्वर मुनित्व को ऋषित्व का अपूर्व आलोक भी प्राप्त हो जाता है। ऋषित्व की सारस्वत महिमा से मंडित उस दिव्य मुनि की मुख-श्री एक प्रकार की गम्भीर समुज्ज्वल स्मिति से आलोकित होकर मुझे अपना वना रही है। उनकी मधुर ज्ञानालोक-विकीर्ण स्मिति मध्यमा और तर्जनी अँगुलियों के संकेतों के सहारे जो परिभाषाएँ और व्याख्याएँ प्रस्तुत करती है, वे उदात्त जीवनसूत्रों की कारिकाएँ तथा वृत्तियाँ वन जाती हैं। उस समय उस शरीरी के शरीर के दर्शन करके ऐसा प्रतीत होता है, मानो भगवान् महावीर की देह को गीता के श्रीकृष्ण की आत्मा प्राप्त हो गयी हो।

२१ जून १९७३

मैं सन्ध्या समय, दिल्ली के आकाशवाणी-केन्द्र से अलीगढ़ वापस आया हूँ। प्रिय भाई प्रचंडिया और दामोदर जैन ने वताया है कि आज प्रातः मुनिश्री का वड़ा उत्तम भापण हुआ था, जैन मंदिर में; आप क्यों नहीं आये? निमंत्रण तो मिला होगा। अपनी अनुपस्थिति के कारण मैं वहुत दुःखी-सा हूँ और पूछता हूँ कि भापण किस विषय पर था? भाई दमोदर वताते हैं–"हम दुःखी क्यों" विपय पर। ज्ञान की एक विशिष्ट किरण से मैं वंचित रहा हूँ। दूसरे दिन के लिए जागरूक और सन्नद्ध हो गया हूँ। इस दिन जिससे मिलता हूँ, वही मुझसे कहता है कि, "सुमनजी, आप आज प्रातः मुनिश्री के भाषण में दृष्टिगत नहीं हुए। किसी कारण यदि आप नहीं आ सके, तो निश्चय ही अपूर्व ज्ञान-रत्न राशि से वंचित रहे।"

२२ जून १९७३

मैं प्रातः छह वजे खिरनीगेट (अलीगढ़) के जैन मन्दिर में पहुँच गया हूँ। मुनिश्री महाराज के भाषण-मंच के पार्श्व में ही मैंने अपना स्थान ग्रहण कर लिया है। श्री पद्मचन्द जैन ने श्रोताओं को सूचना दी है कि "श्री महाराज पाँच मिनिट में पधारने को हैं। आज 'पट्लेश्या' विपय पर उनका भापण होगा।" ठीक पाँच मिनिट वाद मुनिश्री दिगम्वर वेश में पधारे और गम्भीर एवं शान्त मुद्रा में व्याख्यान-मंच पर विराजमान हो गये। मंच के पृष्ठ भाग में दीवार पर कर्पट-पट्टिका के ऊपर दो सिद्धान्त-वाक्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं–'अहिंसा परमोधर्मः; विश्वधर्म की जय'।

प्रस्तावना अथवा भूमिका के रूप में पहले राजपूत कालेज, आगरा के प्राध्यापक श्री जयकिशनप्रसाद खण्डेवाल का संक्षिप्त प्रवचन हुआ और फिर एक भजन; तदुपरान्त मुनिश्री प्रवचन करने लगे। मनीषी मुनिवर श्रोताओं को भाषण के माध्यम से पदार्थ-ज्ञान की गहराई में उतारते जा रहे हैं। मन और पदार्थ के विषय में मुनिश्री वता रहे हैं कि जिस प्रकार मन के छह भेद हैं, उसी प्रकार पदार्थ के भी छह भेद हैं, मन के भेद हैं– (१) काला (२) नीला (३) भूरा (४) पीत (५) पद्म (६) शुक्ल। पदार्थ के भेद हैं–(१) स्थूल-स्थूल (२) स्थूल (३) स्थूल-सूक्ष्म (४) सूक्ष्म-स्थूल (५) सूक्ष्म (६) अति सूक्ष्म।

श्रोताओं की जिस पंक्ति में मैं वैठा हुआ हूँ, उसी में सर्वश्री पं. भूदेव शर्मा, आजादजी, वरेली कॉलेज के डॉ. कुन्दनलाल जैन, वार्ष्णेय कालेज के डॉ. श्रीकृष्ण वार्ष्णेय तथा डॉ. महेन्द्र सागर प्रचण्डिया; अलीगढ़ विश्वविद्यालय के डॉ. राम सुरेश त्रिपाठी तथा डॉ. गिरिधारीलाल शास्त्री और मेरे प्रिय दो शिष्य डॉ. श्रीराम शर्मा एवं डॉ. गयाप्रसाद शर्मा भी वैठे हुए हैं। मेरी पंक्ति से आगे की पंक्ति में वड़ौत के संस्कृत-प्रोफेसर श्री जैन भी हैं, जिन्होंने प्रो. जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल के उपरान्त भूमिका रूप में संक्षिप्त प्रवचन किया है। हम सव मुनिश्री के प्रवचन की अन्तर्भूत सूक्ष्म व्याख्याओं को ध्यान से सुन रहे हैं और उनके विस्तृत एवं गम्भीर ज्ञान की मौन भाव से सराहना कर रहे हैं। हमें अनुभव हो रहा है कि मुनिश्री ज्ञान के सचल विश्वकोश हैं। परम पिता परमात्मा ने एक ही शरीर में तपश्चर्या, सच्चरित्रता और विद्वत्ता की त्रिवेणी प्रवाहित की है। ऐसे जंगम तीर्थराज के दर्शन करके कौन अपने को भाग्यशाली न समझेगा? उन पुनीत क्षणों में मेरे अंतस् का श्रद्धालु श्रोता अनुभव करने लगा कि ऐसे ही सन्तों के लिए महाकवि तुलसी ने 'मानस' में लिखा है–"

"मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥"

–राम चरित मानस, वाल. 2/7

ऐसे ही महान् सन्त गुरु के चरणों में वैठकर वालक तुलसी ने राम का पावन चरित्र सुना होगा और दिव्य दृष्टि प्राप्त की होगी। तभी तो गुरुपद-वंदन करते हुए वे कहते हैं–

"श्री गुर पदनख मनिगन जोती। सुमर दिव्य दृष्टि हियँ होती॥

२३ जून १९७३

आज प्रातः ६ वजे ही पूरा पंडाल सहस्रों जैन-अजैन स्त्री-पुरुषों से खचाखच भरा हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। कारण स्पष्ट ही है कि 'पुरुषोत्तम भगवान् राम' के जीवन पर मुनिश्री महाराज का भाषण होगा, जिसका आधार संस्कृत,

प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं की अनेक रामायणें हैं। प्रवचन में मुनिश्री ने 'शबरी के बेर' और 'दशानन' की प्रमाण-पुष्ट विवेक-सम्मत बुद्धि-ग्राह्य व्याख्या की है। वाल्मीकीय रामायण से अनेक उदाहरण देकर राम की महत्ता, *वीरता एवं उदात्तता को स्पष्ट किया है। वात्सल्य-परिपूर्ण मंदोदरी के स्तनों* द्वारा सीता के क्षीराभिषेक का शास्त्रीय उदाहरण प्रस्तुत करते हुए रावण की कामवासना की समाप्ति की जा रही है। हम सब श्रोता मंत्र-मुग्ध-से बैठे प्रवचन सुन रहे हैं और मुनिश्री के चरणों में मौन प्रणामांजलि अर्पित कर रहे हैं। राम और सीता के जीवन से आज के समाज को क्या सीखना चाहिये, इस पर महाराज-श्री का प्रवचन चल रहा है। वर्तमान समाज के चरित्र और आचरण पर बीच-बीच में मुनिश्री का मीठा व्यंग्य पहले हमें कुछ लज्जित-सा बनाता है और फिर अपने पूर्वजों के आदर्शों पर चलने की प्रबल प्रेरणा देता चलता है। मुनिश्री की दिव्य वाणी द्वारा वाल्मीकीय रामायण के पुरुषोत्तम राम के पावन चरित्र की एक झाँकी एक श्लोक के माध्यम से प्रस्तुत है—रावण के प्राणान्त होने पर राम विभीषण से कहते हैं—

"मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्। क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ।।"
(वा. युद्ध 109/25)

डेढ़ घंटे में भाषण समाप्त हुआ है। मुनिश्री अपने आवास-कक्ष में चले गये हैं।

२४ जून १९७३

प्रातः सात बजे का समय है। खिरनीगेट के जैन मंदिर के प्रांगण में स्त्री-पुरुष शान्त भाव से बैठे हैं और मुनिश्री के शुभागमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं, क्योंकि आज महाराज-श्री का व्याख्यान भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बद्ध है। मुनिश्री ने पहले की भाँति अपना भाषण ठीक समय पर प्रारंभ कर दिया है और महाभारत, भागवत तथा अन्य जैन ग्रन्थों के आधार पर श्रीकृष्ण के चरित्र को प्रस्तुत *किया जा रहा है। श्रीकृष्ण के चरित्र की उदात्तता प्रमाण-निर्देश-पूर्वक व्यक्त की* जा रही है। महाराजश्री को अपने कथ्य और वक्तव्य की इतनी नाप-तौल है कि भाषण सदैव समय पर समाप्त होता है और उतने ही समय में अभीष्ट विचार-बिन्दुओं पर पूर्ण प्रकाश भी डाल दिया जाता है।

भाषण समाप्त करके मुनिश्री अपने आवास-कक्ष में चले गये हैं। मेरी प्रबल इच्छा है कि महाराजजी से एकान्त में कुछ शास्त्र-चर्चा की जाए। श्री खण्डेलवालजी के स्नेह के फलस्वरूप मुझे महाराजजी का प्रत्यक्ष सान्निध्य प्राप्त हो गया है और उन्हें अपनी प्रणामांजलि अर्पित करते हुए मैंने अपना सद्यः प्रकाशित ग्रंथ 'रामचरितमानस : वाग्वैभव' सादर भेंट में अर्पित किया है। उस ग्रंथ का प्रथम

अध्याय 'शब्दार्थ-वैभव' है। उसे पढ़ते हुए मुनिश्री ने शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में वाक्यपदीयकार के मत की चर्चा की है। महाराजजी ने कहा कि 'वाक्यपदीय' ग्रंथ में अर्थ तीन प्रकार का बताया गया है। **'घट'** के तीन अर्थ हैं–(१) **'ज्ञानघट'** जो घड़ा बनाये जाने से पहले कुम्भकार के मानसिक पटल पर था। (२) **'अर्थघट'** जो चाक पर बनाकर तैयार किया गया है। (३) **'शब्दघट'** जिसे मनुष्यों की वाणी द्वारा 'घट'; अर्थात् घ्+अ+ट्+अ–– इन चार ध्वनियों में व्यक्त किया गया है।

शनैः शनैः दर्शन, व्याकरण और साहित्य की अनेक शाखा-प्रशाखाओं पर महाराजजी विचार व्यक्त करते जा रहे हैं। सर्वश्री डॉ. रामसुरेश त्रिपाठी, डॉ. गिरिधारीलाल शास्त्री, डॉ. प्रचण्डिया, प्रा. ब्रजकिशोर जैन, सेठ प्रकाशचन्द्र जैन (सासनी) आदि कई सज्जन उन्हें ध्यान से सुन रहे हैं। वार्तालाप के बीच मेरे ग्रंथ 'रामचरितमानस : वाग्वैभव' पर भी मुनिश्री दृष्टि डाल लेते हैं। उसे पढ़ते-पढ़ते एक साथ महाराजश्री कह उठे कि 'रामचरितमानस' के बालकाण्ड को पढ़ने से विदित होता है कि तुलसी ने प्राकृत भाषा के ग्रन्थों को भी पढ़ा था। यह सुनकर मैंने निवेदन किया कि "महाराजजी ! बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि तुलसीदास ने रामकथा के बीज और सूत्र स्वयंभू कविकृत 'पउम चरिउ' से भी प्राप्त किये थे।" मुनिश्री तुरन्त मेरे समर्थन में कह उठे कि तुलसी बालकाण्ड में स्पष्टतः लिखते भी हैं––

"जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने।" –बाल. १/४५

"महाराज ! ऐसा प्रतीत होता है कि इस अर्द्धाली में 'प्राकृत कवि' से तुलसी का तात्पर्य 'पउम चरिउ' के रचयिता सयंभु से है"–विनम्रता पूर्वक मैंने निवेदन किया। बात का सिलसिला जारी रखते हुए मैंने आगे भी कहा कि 'पउम चरिउ' के कवि सयंभु ने रामकथा-रूपी नदी में सुन्दर अलंकारों और शब्दों को मछलियाँ, और अक्षरों को जल बताया है। उसी शैली में तथा उसी प्रकार के शब्दों में तुलसी भी लिखते हैं; जैसे––

"अक्खर पास जलोह मणोहर। सुअलंकार सद्द मच्छोहर॥" ––सयंभु
"धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥ –तुलसी

२५ जून १९७३

मुनिश्री की भाषण-माला का आज अंतिम दिन है। पुरोगम के अनुसार उसी सभा-मंडप में श्री महाराज का प्रवचन 'भगवान् महावीर' पर हो रहा है। भगवान् महावीर के दिव्य शरीर तथा दिव्य चरित्र को बड़े विस्तार से इस रस-वर्षिणी वाणी में अभिव्यक्त किया जा रहा है। प्रमाण-प्रस्तुतीकरण के लिए नामालूम

कितने ग्रन्थों के उल्लेख महाराज—श्री कर चुके हैं। मुनिश्री की मेधा और धारणा-शक्ति को देखकर सभी श्रोता आश्चर्यान्वित हैं। ऐसी ही मेधा के लिए देवगण और पितर उपासना करते होंगे तभी तो यजुर्वेद का ऋषि उल्लेख करता है :

"यां मेधां देवगणा पितरश्पचोपासते"— —यजु. ३२/१४

भाषण समाप्त हो गया है। महाराजजी के अपने आवास-कक्ष में पहुँचने के लगभग २०-२५ मिनट के उपरान्त ही मैं, डॉ. रामसुरेश त्रिपाठी, डॉ. गिरिधारीलाल शास्त्री, डॉ. प्रचण्डिया, प्रो. ब्रजकिशोर जैन आदि भी वहाँ पहुँच गये हैं। २६ जून, १९७३ को महाराजश्री का यात्रा-प्रस्थान है, अतः हमने प्रार्थना की है कि महाराजजी के चरण-सान्निध्य में हमारा एक छायाचित्र खिच जाए। प्रार्थना स्वीकार हुई और चित्र खिंच गया। उस चित्र की एक प्रति मेरे पास है। मैं उस तपोमूर्ति के छायाचित्र के दर्शनों से ही अपूर्व प्रेरणा प्राप्त करता रहता हूँ। दर्शनों के क्षणों में मैं विचारता हूँ और कल्पना करता हूँ कि यदि मुनिश्री विद्यानन्दजी महाराज जैसे आठ मुनि और हमारे भारतवर्ष की आठों दिशाओं में होते, तो भारत का स्वरूप कितना समुज्ज्वल होता! हम क्या होते और हमारा यह वर्तमान देश क्या होता! ○ ○

अपना
अपने में वो,
अन्तः जग
वाहर सो।

—क. ला. सेठिया

क्रान्ति के अमर हस्ताक्षर

संसार में लीक पीटने वाले और अक्षर रटने वाले तो अनगिनत हैं, पर जीवन जीने वाले गतानुगतिकता को लांघकर विश्व को नया अर्थबोध और शास्त्रों को नया वेष्टन प्रदान करने वाले विरले ही हैं।

□ डा. देवेन्द्रकुमार शास्त्री

जीवन की अनन्त क्षणिकाएँ अनन्त रेखाओं में न जाने किन इन्द्रधनुषी रंगों में चित्र-विचित्र होती रहती हैं। उनमें केवल चित्र ही नहीं होते हैं, अर्थ और भाव भी होते हैं। जैसे कल्पना को साकार करने के लिए शब्द रेखाओं का आकार प्रदान करते हैं, वैसे ही हमारे अव्यक्त जीवन को भी कोई-न-कोई रेखा तथा आकार देने में निमित्त या सहायक होता है। कई बार हमारे भाव तो होते हैं, पर उन्हें प्रकट करने में जब हमें कोई निमित्त नहीं मिलता, तब वे अन्तर्गूढ़ ही रह जाते हैं; रहस्य का प्रकाशन नहीं हो पाता। कल्पना तो है, पर उसे साकार करने वाले यदि उचित शब्द न हों तो वह साहित्य नहीं बन पाती, किसी अन्तरंग की चंचल तरंग बन कर रह जाती है। हमारे जीवन में मुनिश्री विद्यानन्दजी ऐसे ही शब्द बन कर आये, जिनके प्रत्येक अक्षर ने हमारे भावों को ही मानो खोल कर रख दिया। वस्तुतः व्यक्तित्व का अभिनिवेश शब्दों में अंकित नहीं किया जा सकता। वह न तो वेश में है, न सरल स्मित मुस्कराहट में और न ही चमकते हुए मुखमण्डल तथा विशाल भाल में है, वरन् उन सब के भीतर जो उनकी अनासक्त अन्तर्दृष्टि और अध्ययन-मनन की सतत कामना एवं साधना है, वही उनका व्यक्तित्व है। संयम-स्वाध्याय की साधना में वे हिमालय के समान अडिग और सुस्थिर हैं। गंगा के समान पवित्र उनका मन सतत ज्ञानोपयोग में रमा रहता है।

व्यक्तित्व एक : दृष्टियाँ अनेक

वस्तु एक होने पर भी हम उसे कई रूपों में प्रकट करते हैं। अन्न प्राण है, जैसा खाओ अन्न वैसा होता मन, अन्न ही जीवन है, यह सारा संसार अन्नमय है, अन्न व्यक्ति है—इन विभिन्न वाक्यों से एक अन्न के सम्बन्ध में विभिन्न भाव-धाराएँ बहती हुई लक्षित होती हैं। इसी प्रकार से व्यक्ति के सम्बन्ध में भी हमारी विभिन्न धारणाएँ होती हैं। मुनिश्री किसी को इसलिए अच्छे लगते हैं कि वे इस युग के हैं और इसलिए युग की भाषा में बोलते हैं, किसी दूसरे को वे इसलिए भले हैं कि वे बोलते ही नहीं हैं, स्वयं धर्म की भाषा हैं। दुनिया में शास्त्रज्ञों की कमी नहीं है, पर कोरा ज्ञान, या शास्त्र को लिये फिरने से वह कभी-कभी शस्त्र भी बन जाता है। इसलिए हमें केवल शास्त्रज्ञ नहीं, तत्त्वज्ञ नहीं, उनका भावार्थ जानने वाला चाहिये, जो कि मुनिराज के विराट् व्यक्तित्व में समाया हुआ है।

ज्ञान की वास्तविकता यह है कि वह हमें केवल लिखे हुए कागजों को ठीक से पढ़ने के योग्य ही न वनाये, प्रत्युत उन सारे अक्षरों को अक्षरशः पढ़ कर, सम्यक् अर्थ समझ कर उन घिसे-पिटे अक्षरों को मिटा कर स्पष्ट अक्षर लिखने की योग्यता प्रदान करे। संसार में लीक पीटने वाले और अक्षर रटने वाले तो अनगिनत हैं, पर जीवन जीने वाले गतानुगतिकता को लाँघ कर विश्व को नया अर्थ-बोध और शास्त्रों को नया वेष्टन प्रदान करने वाले विरले ही हैं।

अनेकता में एकता

मुनिश्री के सम्वन्ध में सवके विचार और दृष्टिकोण भिन्न हो सकते हैं, किन्तु उनका व्यक्तित्व असाधारण है, वे विरले व्यक्तियों में एक अकेले हैं, इसे स्वीकार करना ही पड़ता है; इसलिए व्यक्ति के सामान्य व्यक्तित्व से लेकर लोक-धर्म और विश्वधर्म की समस्त परिभाषाएँ उनके व्यक्तित्व में सार्थक हैं। वे स्वयं विश्वधर्म के प्रतीक हैं। कई लोग विश्वधर्म के नाम से अपनी अरुचि प्रदर्शित करने लगते हैं। उनकी समझ में यह नहीं आता है कि विश्व का भी कोई एक धर्म है, किन्तु धर्म कहाँ नहीं है? जहाँ जीवन भी नहीं है, वहाँ भी धर्म है, फिर जहाँ जीवन है वहाँ धर्म कैसे नहीं हो सकता? मनुष्य में यदि भेद-वुद्धि है तो वह धर्म को समझता है, जानता है और अच्छे-वुरे का अन्तर अवश्य रखता है। ऐसा हो नहीं सकता कि कोई मनुष्य अच्छे-वुरे का अन्तर न समझता हो। हमारी अच्छे-वुरे की परिभाषाएँ परम्परागत होती हैं; देश, काल और समाज-सापेक्ष होती है। उन्हें महामुनि-जैसे मानव ही जन-सामान्य को ठीक से समझाने का कार्य करते हैं। गंगा वहाना हर किसी का काम नहीं है, उसे तो भगीरथ-जैसे योगी, तपस्वी ही वहा सकते हैं।

योगेश्वर

मुनिश्री जहाँ आत्म-साधना में योगेश्वर की भूमिका में हैं, वहीं मुक्ति के सिद्धहस्त चित्रकार भी हैं; परन्तु मानवता का चित्रकार जन-सामान्य के वीच सव प्रकार के जाति, संप्रदाय, मत-मतान्तरों के वन्धनों से उठ कर, सारे दायरे तोड़ कर शुद्ध मनुष्य का लक्ष्य लेकर चल रहा है; क्योंकि आज का योग हठ-साधनाओं में नहीं, व्यक्ति-व्यक्ति में जो अविश्वास, घृणा और उच्च-नीचता का सांप्रदायिक विष व्याप्त हो गया है, उससे इन्सान को हटा कर प्रेम और विश्वास से उनका संयोग कराना है। योग का अर्थ जोड़ है, परन्तु आज का आदमी टूटता जा रहा है। समाज विखर रहा है। सारी मान्यताएँ झूठी पड़ती जा रही हैं। विज्ञान की चकाचौंध में अव धार्मिक मान्यताओं में रोशनी नजर नहीं आ रही है। उन सवको रोशनी देने वाला क्रान्ति का कोई अमर हस्ताक्षर आज हमारे वीच यदि कोई है तो हमें गर्वपूर्वक कहना पड़ता है कि वह तेजस्वी मुनिश्री विद्यानन्दजी महाराज ही हैं। □□

मुनि विद्यानन्द
एक सहज पारदर्शी व्यक्तित्व

'जो मानव को मानव से जोड़े और उसे निकट लाये, वह धर्म है और जो मानवों में फूट डाले, उनमें विभेद उत्पन्न करे, कटुता का सृजन करे, एक दूसरे की निंदा के लिए उकसाये, वह चाहे कुछ भी हो, मैं उसे धर्म नहीं मान सकता ।'

⊙ गजानन डेरोलिया

परम दिगम्बर, प्रखर वक्ता, वीतरागी एवं विद्वत्श्रेष्ठि मुनि श्री विद्यानन्दजी के प्रथम दर्शन मुझे सन् १९६५ में उस समय करने का सुअवसर मिला जब वे चातुर्मास के लिए यहाँ पधारे। मुनिव्रत लिये उन्हें उस समय बहुत अधिक समय नहीं हुआ था, किन्तु उनकी वक्तृत्व-शक्ति, मानव-मात्र के लिए सुलझे हुए कल्याणकारी विचारों और सहज-सरल भाषण-शैली का लोहा भारतीय दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् राजस्थान के तत्कालीन राज्यपाल डॉ. सम्पूर्णानन्द तथा जैनदर्शन के उद्भट ज्ञाता पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ जैसे व्यक्तियों ने भी मान लिया था। मुनि के रूप में जयपुर में संपन्न प्रथम चातुर्मास में ही मुनिश्री ने वहाँ के जन-जन का मन जीत लिया था।

वैसे प्रकृति और विचारों से मैं कोई बहुत धार्मिक लोगों में नहीं आता और यकायक किसी त्यागी वृत्ति के लिए नमन करने को मेरा मन-मानस भी तैयार नहीं हो पाता है, किन्तु किसी अज्ञात शक्ति ने मुझे मुनिश्री के व्यक्तित्व के आगे नत-मस्तक कर दिया था। मुझ जैसे हजारों-लाखों उनके भक्त बनते गये; किन्तु उनके निश्चल स्नेह और आशीर्वाद सदा मुझे मिलते रहे और उससे मैं गर्व का अनुभव करता रहा। उनके विचारों को निकट से सुनने-समझने का मुझे अवसर मिला। उनके श्रीमहावीरजी तीर्थ पर हुए प्रथम वर्षायोग में इस सम्पर्क में वृद्धि हुई। धर्म, राजनीति, सदाचार, लोकसत्ता, तात्कालिक विषय, कुछ भी तो ऐसा नहीं था जिस पर मुनिश्री का अध्ययन अधूरा हो और जिस पर वे धारा-प्रवाह विचार व्यक्त न कर सकते हों। पूर्ण अनुशासित शान्तिमय वातावरण की विशाल सभाओं में धारा-प्रवाह विचार प्रकट करते जाना मुनिश्री विद्यानन्दजी की अपनी अलौकिक विशिष्टता है।

श्रोता-समूह एकाग्र चित्त से उनके सुलझे सुस्पष्ट विचारों को मनन करता रहता है और जब प्रवचन समाप्त होता है तो उसे लगता है जैसे किसी ने निद्रा-भंग कर दी हो।

मैंने उनके दर्जनों प्रवचन सुने हैं। मेरा अनुभव है कि मुनिश्री श्रोता-समूह के मन की प्यास तलाशने में निपुण हैं। वे उसी विषय को लेते हैं जिसे सुनने को ही मानो जन-समुदाय एकत्रित हुआ हो। श्रोताओं का अधिकांश उन विचारों को ग्रहण करने में सक्षम होता है और उसे ऐसा अनुभव होता है मानों उस दिन की प्रवचन-सभा उनके लिए ही विशेष रूप से आयोजित की गयी हो। किसी धर्म, जाति और सम्प्रदाय के श्रोता हों, मुनिश्री तथा उनके मध्य एक अदृश्य निकटता स्वतः स्थापित होती जाती है और वक्ता तथा श्रोता के बीच एक कभी न टूटने वाला तारतम्य स्वयमेव बन जाता है।

मुनिश्री रामायण के अधिकृत प्रवक्ता हैं। उन्होंने राम तथा सीता के आदर्श-निष्ठ जीवन का अध्ययन करने के लिए अनेक रामायणों का सांगोपांग अध्ययन-मन्थन किया है। अपने भाषण में वे प्रायः रामायण, गीता, कुरान तथा बाइबिल के श्रेष्ठ और अनुकरणीय अंशों का उद्धरण दिया करते हैं। मैंने अनेक वक्ताओं को दिगम्बर जैन मुनिश्री विद्यानन्द द्वारा रामायण तथा मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन के उदाहरण देने पर आश्चर्य प्रगट करते देखा है और सुना है। उन्हें लगता है कि मुनिश्री के भीतर कोई सर्वधर्मों का ज्ञाता बैठा है जो उन्हें जैनत्व के दायरे में रखते हुए भी प्राणिमात्र और परधर्म के सद्गुणों के विशाल घेरे तक प्रभाव-शील रखता है।

दुर्भाग्य से गत दशाब्दियों में कतिपय साधु-सन्तों ने जैनधर्म की विशालता और उसके विस्तृत दायरे को कुछ लोगों तक ही सीमित करने का प्रयास किया है। मुनिश्री विद्यानन्दजी ने उस संकुचित घेरे को तोड़ने का साहसपूर्ण प्रयास किया है और उन्हें इसमें भारी सफलता भी मिली है। मुनिश्री के माध्यम से प्राणि-मात्र के लिए कल्याण-कारी सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह और समता का उपदेश देने वाला जैनधर्म फिर अपने पूर्ववैभव को प्राप्त कर रहा है, मुनिश्री फिर से उसे कोटि-कोटि विश्ववासियों का प्रिय धर्म बनाने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। यह सारा आन्दोलन वे भाषणों, प्रवचनों, सत्साहित्य की संरचना और विलुप्त दर्शन को प्रकाशित करके कर रहे हैं, जो अपने आप में एक विशाल अनुष्ठान है। जैनजगत् में होने वाली कोई हलचल आज मुनिश्री विद्यानन्दजी के प्रभावशाली व्यक्ति के स्पर्श से अछूती नहीं है। वे एक स्थान पर बैठे रहकर भी सर्वव्यापी बन गये हैं।

आज जबकि भौतिक सुविधाएँ, सांसारिक कष्ट, संस्कृतिविहीन फैशन तथा छल-कपट से मुद्रा-अर्जन के कारण हर प्राणी विनाश की ओर यंत्रवत् बढ़ रहा है, तब इस

वात की बहुत आवश्यकता है कि उन्हें कोई सन्मार्ग वताये। मुनिश्री विद्यानन्दजी इस डूवती नाव के लिए पतवार वन गये हैं। वर्तमान में वर्द्धमान की उपलव्धियों, उनके प्रेरणामय चरित्र और जीवन को वे अन्धकार के गर्त की ओर अग्रसर मानव तक पहुँचाने के लिए उपग्रह जैसे प्रभावी वन गये हैं।

संगीत में व्यक्ति के चित्त को एकाग्रता प्रदान करने की अलौकिक शक्ति है। मुनिश्री शालीन संगीत के प्रशंसक हैं और उसके विकास में रुचि भी रखते हैं। जैन रिकार्डों की संरचना में उनके योगदान को भावी पीढ़ियां सदियों तक विस्मृत नहीं कर पायेंगी। प्राचीन तथा अर्वाचीन कवियों, गायकों की विलुप्त रचनाओं को उन्होंने स्वर और संगीत दिलाया है और एक कोने में अछूत-सी पड़ी ये सारगर्भित रचनाएँ अव लोगों के हृदय तक पहुँच करने वाली सिद्ध हो रही हैं। सिनेमा के दो अर्थ वाले भोंडे गीतों का स्थान अव सुसंस्कृति और सुरुचिसंपन्न परिवारों में जैन रिकार्डों ने ले लिया है।

मुनिश्री की वक्तृत्व-शैली तथा भाषण-क्रिया के सम्वन्ध में कुछ उद्धरण देना अनुपयुक्त नहीं होगा। इनसे सहज ही इस परिणाम पर पहुँचा जा सकता है कि वे अपनी वात को कितनी सरलता से सीधे श्रोता के हृदय तक पहुँचा देने में सिद्धहस्त हैं।

आधुनिकता के नाम पर संस्कृति-हीन जीवन-यापन के पीछे दीवानी पीढ़ी को मुनिश्री ने सीता तथा उनके देवर लक्ष्मण के मध्य हुई वार्ता वहुत ही सरल ढंग से इन शब्दों में कही है:

> लक्ष्मण इसलिए उदास थे कि जनक-दुलारी सीता सुकुमारी के नीचे विछाने को जंगल में कोई नरम विछौना नहीं था। सीताजी ने लक्ष्मण के दुःख को कम करने के लिए कहा कि मैं तो आप लोगों से भी अधिक लज्जित और दुःखी इसलिए हूँ कि यहाँ समतल भूमि होने के कारण मुझे पति और देवर के वरावर शैया पर सोना पड़ रहा है और मैं उन्हें कुछ अंगुल ऊँचा आसन भी देने में समर्थ नहीं हो पा रही हूँ। इस आख्यान का तात्पर्य यही था कि आज कितनी सन्नारियाँ हैं जो इस प्रकार के सम्मान और मर्यादा का पालन करती हैं। भावार्थ—पत्नी को पति तथा देवर के प्रति समुचित आदर और सम्मान रखना चाहिये।

पाप और पुण्य की वहुत ही सीधी परिभाषा करते हुए मुनिश्री प्रायः एक उद्धरण दिया करते हैं; 'जिस कार्य से किसी व्यक्ति के हृदय को चोट पहुँचे, उसे कष्ट हो, वह पाप है और जिस कार्य से किसी को सुख, आनन्द अथवा राहत का अनुभव हो वह पुण्य है।'

धर्म की व्याख्या अनेक मत-मतान्तरों के देश भारत में मुनिश्री ने इस प्रकार से की है: 'जो मानव को मानव से जोड़े और उसे निकट लाये वह धर्म है और जो मानवों में फूट डाले, उनमें विभेद उत्पन्न करे, कटुता का सृजन करे, एक-दूसरे की निन्दा के लिए प्रेरित करे, वह चाहे कुछ भी हो, मैं उसे धर्म नहीं मान सकता'।

सीधे और सरल उद्धरणों के माध्यम से वे कठिन-से-कठिन विषय और बात को अशिक्षित व्यक्ति तक पहुँचा देने की अनुपम क्षमता रखते हैं। यही कारण है कि मन्दिर, मस्जिद, जेल, बुद्धिजीवियों की विचार-सभाएँ, विद्यालय आदि सभी प्रकार के स्थान मुनिश्री विद्यानन्द के जादुई वक्तृत्व के स्पर्श से मंत्रवत् बँध से जाते हैं। हर सम्प्रदाय का व्यक्ति उन्हें सुनने के लिए भागा आता है, उनकी प्रवचन-सभाओं में ठसाठस भीड़ होती है तथा सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वहाँ मौन और शान्ति का साम्राज्य होता है।

साम्प्रदायिक सद्भाव, राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक एकता, भाषायी सौहार्द पर मुनिश्री सदा बल देते रहे हैं। उन्होंने एक सभा में बहुत ही स्पष्ट रूप से अपने जीवन का ध्येय घोषित करते हुए कहा था कि मेरा संसार-त्याग का ध्येय और जीवन का एकमात्र उद्देश्य इस भारत भूमि को पुनः एकता के सूत्र में बाँधना है और मेरी इच्छा है कि यही कार्य करते हुए मेरा शरीर छूटे।

पिछले दशकों में जैन मुनियों की शृंखला में मेरी स्मृति में इतना अध्ययनशील, प्रखर और ओजस्वी वक्ता उत्पन्न नहीं हुआ जिसने भारतीय संस्कृति और जैनधर्म की मूल शिक्षाओं के प्रचार-प्रसार एवं पुनःस्थापना के लिए इतना महत्त्वपूर्ण कार्य कया हो। □ □

पश्चिमे तुई ताकिये

पश्चिमे तुई ताकिये देखिस मेघे आकाश डोबा,
आनन्दे तुइ पूबेर दिके देख्--ना ताएर शोभा ॥

टकटकी लगाकार पश्चिम की ओर तू देखता है मेघो से आच्छादित आकाश।
पूर्व की ओर आनन्द के साथ क्यों नहीं देखता तू उसकी शोभा ॥

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

राष्ट्र-सन्त मुनिश्री और आधुनिक जीवन-संदर्भ
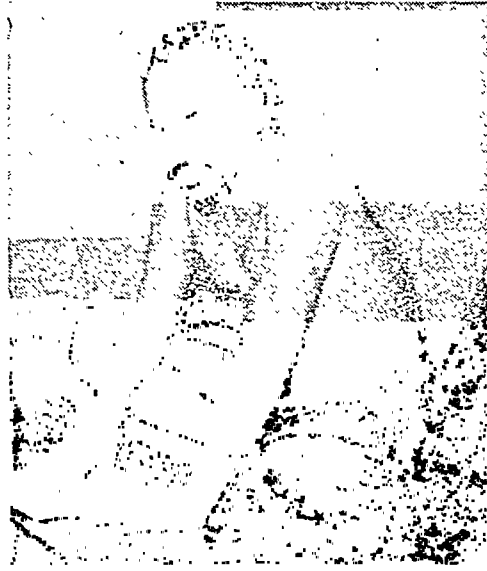
कृषक हो या श्रमिक, हरिजन हो या ब्राह्मण, निर्धन हो या धनवान उनकी दृष्टि समान रूप से सभी पर पड़ती है; वे मानवतावादी रस-दृष्टि से सभी को अनुषिक्त करते हैं।

☐ डॉ. निज़ाम उद्दीन

श्रमण-संस्कृति के शुभ्र दर्पण, दिगम्बर नरसिंह, वीतरागता, सात्विकता, सौम्यता, सहजता की प्रतिमा, स्नेह-विवेक से आप्यायित, परम ज्योतिर्मय तपःपूत शरीर, अधरों पर सहज मुस्कान, भव्य ललाट, नेत्रों में तैरती सम्यक्त्व-ज्योति, शैशव का अनुपम सारल्य, निर्द्वन्द्व मुख-मण्डल, निर्मलता के आगार, परमतत्त्वज्ञानी, प्रबुद्धचेता, परम संवेदनशील, देशानुराग से अनुरंजित, तप-ज्ञान-कला-साहित्य के पुंजीभूत, अनन्त प्रेरणाओं के अजस्र स्रोत, अहिंसा के आराधक, मानवता के प्रबल प्रेमी, जन-मानस को समान्दोलित करने वाले कुशल जन-नेता, प्रजा-परम्परा और सामासिक संस्कृति के जीवन्त प्रतीक मुनिश्री विद्यानंदजी सम्प्रदाय-पुरुष न होकर एक राष्ट्र-सन्त और विश्व-पुरुष हैं। स्वतन्त्रचेता मुनिश्री जीवन के दृष्टा और सृष्टा दोनों हैं।

'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मानाम्' —मन-वचन-कर्म की एकसूत्रता महान्, स्वस्थ व्यक्तित्व का सृजन करती है। मुनिवर के महान् व्यक्तित्व में इसी प्रकार की एक-सूत्रता विद्यमान है, उसमें गुरुत्वाकर्षण है—चुम्बक सदृश आकर्षण, लेकिन पूर्णतः निष्काम, अनीह, अनिकेत एवं अनुद्विग्न।

मनुष्य किसी जीवन-दृष्टि या दर्शन से महान् नहीं बनता, महान् वह उस समय बनता है जब वह उनका अनुवर्तन करता है, उनके अनुकूल आचरण करता है। मुनिश्री के महान् व्यक्तित्व की यह विशेषता है कि अपनी जीवन-दृष्टि एवं दर्शन को वे आचरण के केन्वस पर उतार कर रख रहे हैं। जब से उन्होंने मुनि-पद की दीक्षा ली (२५ जुलाई १९६३) तब से वे निरन्तर तप और साधना में निरत हैं। "धर्म-शास्त्रों का गहन अध्ययन, साहित्य का अन्वेषण और ऐतिहासिक तथ्यों की खोज उनके जीवन के अंग बन गये हैं।" अपने व्यक्तित्व को पिघलाकर दूसरे के अन्दर उतारने वाले 'पार्श्वकीर्ति' असंख्य लोगों के हृदय-दीपकों को भव्यालोक प्रदान कर रहे हैं। उनकी अमृत वाणी यदि संत्रस्त, संपीड़ित मानवता के रिसते जख्मों पर, फाहा सदृश शीतलता प्रदान करती है, तो उपदेश उद्बोधन और जागरण की प्रेरणा प्रदान करते हैं। आज इस विशाल देश में जो महावीर-निर्वाण-शती पूर्ण निष्ठा के साथ मनायी जा रही है, उसके प्रेरक स्रोत मुनिश्री ही हैं। वह ऐसे साधु नहीं जो गली-गली डोलते मिल जाते हैं--गली-गली साधु नहीं रावण ही मिलेंगे; राम-सदृश साधु का मिलना ही दुष्कर है।

एक धर्म, एक संस्कृति

धर्मनिष्ठ मुनिश्री में धार्मिक सहिष्णुता का प्राचुर्य है। धर्म को वे अत्यन्त विशाल, व्यापक और विशद मानते हैं; संकीर्ण नहीं। उन्हीं के शब्दों में--"जो अशान्ति से रहना सिखाये, आपस में लड़ाये, एकदूसरे के विरुद्ध शस्त्र उठाये, वह धर्म कभी नहीं हो सकता। धर्म तो शान्ति, दया व प्रेम से रहना सिखाता है अकेला धर्म ही मनुष्य को आपदाओं से मुक्ति दिला सकता है।" धार्मिक दृष्टि से उनके विचारों में औदार्य अत्यधिक है। उन्होंने जैनेतर धर्मों एवं मतों का भी अध्ययन, मनन, अन्वीक्षण किया है; लेकिन कहीं पक्षाग्रह या दुराग्रह देखने को नहीं मिलता। वे मानते हैं कि "अपने-अपने विश्वास के अनुसार सभी को अपने धर्म-ग्रन्थों से लाभ उठाना चाहिये और जो बातें जीवन को उन्नत बनाती हैं उनको अमल में लाना चाहिये।" उनकी दृष्टि में धर्म केवल मनुष्य या जाति-विशेष का नहीं है, अपितु प्राणिमात्र के लिए है, सभी के कल्याण के लिए है। संसार में प्राणिमात्र को जीने का समानाधिकार है, अतः धर्म प्राणिमात्र के कल्याण-निमित्त ही होना चाहिये। जैसे जल सभी की पिपासा का प्रशमन कर नवजीवन और स्फूर्ति प्रदान करता है वैसे ही धर्म आत्मा को ऊर्ध्वगामी बनाता है, उसे उत्कृष्ट बनाता है। उन्होंने सकल संसार के प्राणियों के लिए एक धर्म और एक संस्कृति की सदिच्छा व्यक्त करते हुए कहा कि 'एक आकाश की छत के नीचे रहने वाले, एक सूर्य और एक चन्द्रमा से आलोक प्राप्त करने वाले मनुष्यों का धर्म एक तो होगा ही, उनकी संस्कृति एक तो होगी ही; हाँ, धर्म और संस्कृति में देश-काल-परिस्थिति के कारण वैभिन्य आ सकता है। आज जिस 'वर्ल्ड ब्रदरहुड' और 'इन्टरनेशनल रिलीजन' की बात कही

जाती है उसका अनुरणन मुनिश्री की वाणी में श्रवणगोचर हो रहा है, उसका क्रियान्वित रूप मुनिश्री के आचरण में परिलक्षित होता है।

नयी पीढ़ी और धर्म

नयी पीढ़ी का आह्वान करते हुए उन्होंने इस बात पर बल दिया कि धर्म को पुस्तकों से नहीं; आचार, न्याय और नीति से जानना चाहिये। ठीक भी है, भला जब तक धर्म ग्रन्थों में बन्द रहेगा—उन्हीं तक सीमित रहेगा तब तक लोक-जीवन से स्वतः दूर हट जाएगा। धर्म का रूप तो सर्वजगत्-हितकर्ता और लोकोपकारक होता है। धर्मतत्त्व-गवेषकों ने क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप आदि को सहज धर्म बताया है, यही तो मानव-जाति का धर्म है—विश्वधर्म है। "वस्तु स्वभावो धर्मः" अर्थात् प्रत्येक वस्तु की निजता ही उसका धर्म है; जैसे—जल का शीतत्व, अग्नि का दाहकत्व, सागर का गंभीरत्व, आकाश का व्यापकत्व, पृथ्वी का सहिष्णुत्व। इसी प्रकार अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि का अनुपालन करना हमारा कर्तव्य है, यही हमारा धर्म है।

अहिंसा और मैत्री

आज चारों ओर वैर और शत्रुता के भयाविल मेघ गरज रहे हैं। कलह और अशान्ति की इस फज़ा में हमें अहिंसा और मित्रता को अंगीकार करना चाहिये। महर्षि पतंजलि कहते हैं—"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः—अर्थात् जहाँ अहिंसा है, वहाँ वैर-भाव का स्वतः त्याग हो जाता है। इसी प्रकार हमें आशा करनी चाहिये कि सर्वत्र मित्रता की प्राप्ति हो—"सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु"। मुनिश्री कहते हैं कि हम अपने नेत्रों में मैत्री-भाव का अंजन लगायें, तभी वैर को मिटाया जा सकता है। 'न हि वैरेण वैरः शम्यति"—वैर से वैर नहीं मिटता; मैत्री-भाव से ही संसार में युद्धोन्माद के काले बादल छंट सकते हैं। विश्वधर्म के लक्षणों का आरम्भ 'क्षमा' से होता है, हमें चाहिये कि उन्नत मनोबल, सामाजिक शिष्टता के आभूषण 'क्षमा' को विचार नहीं, आचार बनायें।

भारतीयता के पोषक

मुनिश्री को इस बात का अधिक अनुताप है कि आज हममें भारतीयता या राष्ट्रीयता की भावना तिरोहित हो गयी है। जिस मुनिश्री ने, स्वाधीनता-आन्दोलन में जेल-यात्रा की, रात्रि में फिरंगी सरकार के विरुद्ध पोस्टर चिपकाये और भारत की शान 'तिरंगे' को अपने गाँव के निकटस्थ एनापुर में एक पेड़ पर फहराया, स्वतंत्रता का जीवन में वही स्थान माना है जो शरीर में प्राणों का है। शरीर प्राणहीन होकर शव-मात्र है, देश स्वतंत्रता-हीन होकर मुर्दा है। उन्होंने देश की सुरक्षा के लिए शस्त्र-बल को भी न्यायोचित तथा आवश्यक समझा है। सीमा-

वस्तुओं की मिलावट और परिग्रह

आज बहुत से व्यापारी मिलावट का काला धंधा कर तिजोरियाँ नोटों से भर रहे हैं, उन्हें देशवासियों के जीने-मरने से क्या प्रयोजन? बहुत से लोग आवश्यक वस्तुओं का परिग्रह कर, ऊँचे मूल्य पर बेचने के लोभ में अपने ही देशवासियों को कृत्रिम वस्तु-अभाव पैदा कर कष्टों में डाल रहे हैं। मिर्च-मसाला, नमक-आटा, तेल-घी कौन-सी ऐसी चीज है जो शुद्ध रूप में प्राप्त होती है। इस स्थिति पर विचार करते हुए मुनिश्री कहते हैं कि "मूल बात यह है कि आज हम अपने देश की चीजों को हेय दृष्टि से देखते हैं। देश में खुशहाली तो तभी होगी जब हम देश को प्यार करेंगे। जो व्यापारी धोखा करते हैं वे देश को कमजोर करते हैं, ऐसे लोगों से देश की ताकत या दौलत नहीं बढ़ेगी।" जिनेन्द्र के अनुयायी ही वस्तुओं का परिग्रह कर अपने धर्म से च्युत हो रहे हैं। महावीर ने अपरिग्रह का उपदेश दिया और मुहम्मद साहब ने अपने लिए कोई वस्तु दूसरे दिन के लिए उठाकर या बचा कर नहीं रखी। दोनों अपरिग्रही थे। मुनिश्री को खेद है कि आज इन दोनों के नामलेवा उन्हीं के संदेश से पराङ्मुख हैं।

अपने अन्दर का अंधकार

मुनिश्री पर्वों के मनाने के पक्ष में तो हैं—चाहे वे राष्ट्रीय पर्व हों या सांस्कृतिक पर्व हों, लेकिन वे चाहते हैं कि इन पर्वों से सम्यक्त्व की उपलब्धि हो—इनसे ऐसा ज्ञानप्रदीप प्रज्वलित हो जो सभी के हृदय में घिरे अंधकार को नष्ट कर सके—'ज्ञानेनपुंसः सकलार्थ सिद्धि'—ज्ञान से सब इच्छाओं की पूर्ति हो सकेगी। दीपावली के विषय में वे कहते हैं कि तीर्थंकर को दीप अर्पित करना भावनाओं के उज्ज्वल प्रतीकों का समर्पण करना है। दीपावली को मात्र दीपों की अवली तक सीमित मत रखो, आत्मा की गहराई में उतार कर देखो। संसार में सारे पाप अंधेरे में ही होते हैं, इसीलिए अंधेरे को दूर करो, संसार को प्रकाशपुंज से भरो, पाप-मुक्त करो। आज हमारी आजादी भी लाल किले पर तिरंगा फहराने या राष्ट्रपति की सवारी निकालने तक परिसीमित है। यहीं तक आजादी नहीं, देशोन्नति में जुटने और देश को खुशहाल बनाने में ही आजादी है।

प्रकृति के अनन्य पुजारी

मुनिश्री प्रकृति के अनन्य उपासक हैं। प्रकृति के नाना मोहक रूपों में वे भावात्मक एकता के दर्शन करते हैं। "हमारे देशवासी विदेशों की सैर करने को तो बड़ा महत्व देते हैं परन्तु अपने देश के गौरव हिमालय के प्राकृतिक सौंदर्य की ओर ध्यान नहीं देते। उन्हें यहाँ आना चाहिये और यहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य का

लाभ उठाना चाहिये। हिमालय वह स्थान है जहाँ देश की भावात्मक एकता के दर्शन होते हैं। देश-भर के स्त्री-पुरुष यहाँ अपनी-अपनी धर्म-भावना लेकर आते हैं और पूरे देश का एक सुंदर चित्र प्रस्तुत करते हैं।" उन्होंने कितने ही पर्वतीय स्थानों का भ्रमण कर यह अनुभव किया है। मुनिश्री संगीत के भी प्रेमी हैं, वे संगीतकार, कलाकार, कवि-साहित्यकार का समादर करते हैं, स्वयं भी अच्छे साहित्यकार हैं। 'महावीर-भक्तिगंगा' में उनके संगीत-प्रवण हृदय की लय सुनायी देती है। हिन्दी में उन्होंने अनेक पुस्तकों का प्रणयन किया है, जैनधर्म को आधुनिक परिवेश में फिट करने का सफलायास परिलक्षित होता है। एक साहित्यकार के रूप में उनकी जागरूक एवं सूक्ष्म दृष्टि समाज और देश की हृदय-गति को पकड़ती चलती है।

एक राष्ट्र-संत, एक विश्व-सन्त

निःसंदेह आज जीवन के प्रतिमान परिवर्तित हो गये हैं। मनुष्य की सात्विक प्रवृत्तियाँ भौतिक ऐश्वर्य की चकाचौंध में सम्यक्त्व को देख नहीं पा रही हैं। ऐसे समय मुनिश्री का जीवन जो एक खुली पुस्तक है; उसका अवलोकन करना चाहिये। उनमें अदम्य साहस है और एक 'मिशनरी स्पिरिट' है। त्याग, तप, संयम, शौच, अपरिग्रह आदि उत्तम गुणों को अपने आचरण में उतारने वाले मुनिश्री भगवान महावीर के सच्चे, निष्ठापूर्ण संदेशवाहक हैं। उनका जीवन पावन सुरसरि के सदृश सभी को विना रंग-भेद या सम्प्रदाय-वर्ग-भेद के समान रूप से पवित्र करने वाला, कलुषहर्ता है, पापमुक्त करने वाला है। राष्ट्रसन्त मुनिश्री की जीवन-दृष्टि में हिमालय की उच्चता, आकाश की व्यापकता और सागर की गम्भीरता समाहित है। वे जीवन और देश की आधुनिक समस्याओं का समाधान जैनधर्म के परिवेश में खोजने वाले राष्ट्र-सन्त हैं और एक विशाल विश्व-धर्म की स्थापना में दत्तचित्त विश्वपुरुष के रूप में ऊर्ध्वगामी हैं। □□

भोगों की लालसा एक अन्तहीन मृगतृष्णा है। इसमें भटके हुए को पानी नहीं मिलता। मनुष्य को चाहिये कि वह जितना शीघ्र इस प्रदेश से निकल सके, निकल जाए; और उस सरोवर की खोज करे जिसमें निर्मल जीवन हो। —मुनि विद्यानन्द

विश्वधर्म के मन्त्रदाता ऋषि

एक दूसरे के प्रति आदर रखने और अनेकता के गर्भ में विद्यमान एकता की ओर दृष्टि करने में ही हमारा हित और बुद्धिमत्ता है।

—नाथूलाल शास्त्री

मुनिश्री के मुखारविन्द से विश्वधर्म का जयघोष श्रवण कर और उनके लोकहितकारी अध्यात्मपूरित सार्वजनिक प्रवचन में सहस्रों की संख्या में उपस्थित विविध समाज की जनता को देखकर अनेक बन्धु यह प्रश्न करते हैं कि यह नवीन विश्वधर्म और उसका नारा मुनिश्री का चलाया हुआ है और मुनिश्री सर्वधर्मों (संप्रदायों) के मानने वाले हैं इस नाम से लोकानुरंजन का उनका क्या प्रयोजन है? हमारे समक्ष भी ऐसी उत्कण्ठा और चर्चा प्रस्तुत की गयी है।

मानव-हृदय को संस्कृत कर उसमें विद्यमान विकारों को दूर करने का प्रयत्न ही धर्म का उद्देश्य है। जीवमात्र सुख और शान्ति से रहे; 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' की भावना विकसित हो। अहिंसा और समन्वय की भावना से यह भूतल स्वर्गोपम दृष्टिगोचर हो। प्राणिमात्र संघर्ष से बचे, मत्स्यन्याय (सर्वाइवल ऑफ द फिटेस्ट) का आश्रय न ले, इस आदर्श को प्रस्थापित करने और 'जीओ और जीने दो' का संजीवन मंत्र प्रदान करने हेतु समय-समय पर युगपुरुषों का प्रादुर्भाव होता रहा है। इन आदर्शों और लक्ष्यों पर कुठाराघात करने वाले भी उन युगपुरुषों के शिष्य या अनुयायी ही हुए हैं जिन्होंने उनके उपदेशों के नाम पर बड़ी-बड़ी दीवारें खड़ी कर दीं और

कलह एवं विद्वेष का वीज वो दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि युगपुरुषों और उनके उपदेशों के नाम पर भिन्न-भिन्न संप्रदाय (पंथ) वन गये और परस्पर आदर एवं सहिष्णुता के स्थान पर वौद्धिक और शारीरिक हिंसा होने लगी।

वीतराग सर्वज्ञ तीर्थकरों ने मानवता के विकास का मार्ग अहिंसा की ज्योति से ही अलोकित किया था। अहिंसा ही व्यापक एवं मूल सत्य है; जिसका साक्षात्कार श्रमण-धारा के अनुयायियों ने किया। आचार्य समंतभद्र के शव्दों में 'अहिंसा भूतानां जाति विदितं ब्रह्म परमम्' अर्थात् अहिंसा परम ब्रह्म रूप है, अहिंसा से ही परमात्मपद की उपलव्धि होती है और परमात्मपद ही अहिंसा का चरमोत्तम रूप है। आत्मा से परमात्मा वनने के लिए मन, वचन और काय रूप त्रिविध अहिंसा की परिपूर्ण साधना अपेक्षणीय है। जैनदर्शन केवल शारीरिक अहिंसा तक ही सीमित नहीं है, वहाँ वौद्धिक अहिंसा भी अनिवार्य है। इस वौद्धिक अहिंसा को अनेकान्त, स्याद्वाद, समन्वय, सहअस्तित्व, सहिष्णुता, सर्वोदय, विश्वधर्म और जैनधर्म आदि नामों से संवोधित किया जाता है। मुनिश्री विद्यानन्दजी ने उक्त नामों में से 'अहिंसा धर्म की जय' और 'विश्वधर्म की जय' नामों को चुन लिया है और वे अपने प्रवचनों में जैनधर्म के सर्वोदयी भव्य प्रासाद के 'आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह' इन चार महान् स्तंभों की महत्ता का विवेचन करते हैं। यह प्रासाद कोई नया नहीं है युग-युग में तीर्थंकारों ने भी इसका जीर्णोद्धार किया है और इसे युगानुरूपता दी है। मुनिश्री ने भी विश्व का हितकारी धर्म होने से इसके उक्त नामों में से विश्वधर्म नाम को पसन्द किया है जो मुग्ध पुरुषों को नया दीखता है। वास्तव में हम प्रथाओं, परम्पराओं और रीतिरिवाजों (रूढ़ियों) में इतने वंध गये हैं कि कोई भी नया शव्द, नयी भाषा जिसमें हमारे त्रिकालावाधित मूलधर्म का ही प्रतिपादन और समर्थन होता हो, युगानुरूपता को सहन नहीं कर सकते। हमारी मान्यता है कि जो हमारा है वही सत्य है, न कि जो सत्य है वह हमारा है। लोकरूढ़ियों में धर्म की कल्पना ने धर्म के यथार्थ रूप को परिवर्तित कर दिया है। साधु-जन परंपरा से प्राप्त संप्रदाय-रूपी शरीर को छोड़ नहीं सकते। उन्हें 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' के रहस्य को उद्‌घाटित कर स्व-पर का कल्याण करना है, अपने कर्त्तव्य का परिपालन करते हुए जनता को भी धर्म की ओर प्रेरित करना है। जहाँ निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहणकर अपने शरीर, घर, समाज और उससे संवंध रखने वाले, माता, पिता, पुत्र, पत्नी आदि परिवार का मोह छोड़ा जाता है, उस कुटुम्ब की सीमित दीवार को तोड़कर 'वसुधैव कुटुम्वकम्' के व्यापक दायरे में विवेक-पूर्वक श्रमण-चर्या का निर्वाह करना पड़ता है; वहाँ भी 'स्व' की व्यापक अनुभूति के लिए पर-मात्र से वंधन-मुक्त होने का उद्देश्य टूट नहीं जाता है। परम्परानुसार आत्महित के साथ परहित (लोकसेवा) साधुजनों के लिए त्याज्य नहीं है।

वर्तमान युग समन्वय का अनुकूल युग है। भगवान् महावीर का पच्चीस सौवाँ परिनिर्वाण-महोत्सव सार्वजनिक रूप में मनाया जाएगा। वीर-शासन में जो मतभेद उत्पन्न हुआ और हम अनेक संप्रदायों में विभाजित हुए, अव वह परिस्थिति भी नहीं रही। हम एकसूत्रता में न बंध सकें तो मन-भेद को भुलाकर प्रेम और सहयोग द्वारा संगठित हो सकते हैं।

संपूर्ण विश्व में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए पहले हम में त्याग और समता-बुद्धि होना आवश्यक है। अब एक ही धर्म के अनुयायियों में एक दूसरे को मिथ्या-दृष्टि कहना युग की पुकार नहीं है। युग की पुकार हमें मुनिश्री से जानना है। एक दूसरे के प्रति आदर रखना और अनेकता के गर्भ में विद्यमान एकता की ओर दृष्टि करने में ही हमारा हित और वुद्धिमत्ता है।

सन् १८९३ में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अनुयायी बनकर भारतीय धर्मदूत स्वामी विवेकानंद भौतिकवादी देश अमेरिका में गये और भारतीय संस्कृति का शंखनाद किया। शिकागो के विश्वधर्म-सम्मेलन का वह अपूर्व दृश्य स्मरणीय है जब संसार के सभी दार्शनिक और तत्त्वज्ञानी स्वामीजी द्वारा विश्वधर्म की व्याख्या श्रवण कर मुग्ध हो गये थे। यद्यपि स्वामीजी वेदान्ती थे पर उन्होंने विश्व-कल्याण, सहयोग, सामंजस्य और अहिंसा (युद्धविरोधी विचार) संबंधी भारतीय धर्म की विशेषताओं का और सर्वधर्म-समन्वय का प्रतिपादन कर विदेश में धर्म के प्रति महान् श्रद्धा एवं आकर्षण उत्पन्न किया था। हमें आज देश और विदेशों में अपने ऐसे ही व्यक्तित्व और भाषणों द्वारा एक नयी चेतना का सृजन करने वाले धर्म और संस्कृति के साधकों की जरूरत है, जो सोई हुई आत्माओं को प्रवुद्ध कर सकें। यह वातावरण किसी भी धर्म (संप्रदाय) की आलोचना का नहीं है; भावनात्मक एकता की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिये। समंतभद्र स्वामी के उस सर्वोदय तीर्थ (अकेकान्त) को स्मरण रखा जाए जो समस्त आपत्तियों, वैर-विरोधों को दूर करने वाला और सर्व प्राणियों में मैत्री कराने वाला है। अपने इसी विशिष्ट व्यक्तित्व और शैली में दिये गये मधुर एवं ओजस्वी प्रवचनों में विश्वधर्म के मंत्रदाता ऋषि मुनिश्री विद्यानन्दजी हैं, जो कर्तरिका (कैंची) का काम न कर सूची (सुई) का काम करते हैं। □□

पंक-पथों पर चलता हुआ मनुष्य जब मृत्यु का अतिथि होता है, तब ऐसा लगता है कि लाल (मणि) गँवाकर कोई थका-हारा, लुटा-पिटा व्यक्ति श्मसान के शवों की शान्ति-भंग करने आ पहुँचा हो।

—मुनि विद्यानन्द

विद्यानन्द-साहित्य : एक सर्वेक्षण

विरचित

१. **अनेकान्त-सप्तभंगी-स्याद्वाद** (इस पुस्तक में जैन-दर्शन की प्राचीनता के साथ सत्य को जानने की पद्धति के रूप में अनेकान्त-स्याद्वाद का विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक सप्रमाण विशद विवेचन किया है), मेरठ, १९६९ ।

२. **अपरिग्रह से भ्रष्टाचार-उन्मूलन** (इस पुस्तिका में मार्गदर्शन दिया है कि किस प्रकार अपरिग्रह को अपनाने से भ्रष्टाचार को जड़-मूल से मिटाया जा सकता है), आगरा, नवीन संस्करण १९७२ ।

३. **अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग** (यह पुस्तक एक गहन अध्ययन की सामग्री प्रस्तुत करती है। सोलहकारण के अन्तर्गत चौथी भावना 'अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग' है, मुनिश्री ने कई रोचक संदर्भ देकर विषय को सरल और उपयोगी वना दिया है । यह उत्कृष्ट दार्शनिक कृति है), इन्दौर, १९७१ ।

४. **अहिंसा : विश्वधर्म** (यह एक ऐसी कृति है, जिसे जैन-जैनेतर ज्ञान-पिपासुओं ने तो पढ़ा ही, किन्तु जिसने विदेशों का ध्यान भी आकर्षित किया है), इन्दौर, १९७३ ।

५. **आदिकृषि-शिक्षक तीर्थंकर आदिनाथ** (इस पुस्तिका में 'आदि पुराण' के महत्त्व-पूर्ण तथ्यों को उद्घाटित करते हुए समझाया है कि भगवान् आदिनाथ द्वारा उपदिष्ट कृषि मार्ग को अपनाना राष्ट्र के लिए अत्यन्त उपादेय और हितकर है), आगरा, नवीन संस्करण १९७२ ।

६. **आध्यात्मिक सूक्तियाँ** (मुनिश्री ने आत्म-कल्याण के मार्ग पर चलने वाले आत्मशोधार्थियों के लिए एक प्रेरक आध्यात्मिक चयनिका के रूप में इस पुस्तिका को तैयार किया है। चुने हुए वोधप्रद सूक्तों का यह ऐसा अप्रतिम संकलन है, जिसमें श्लोकों को अर्थसहित प्रस्तुत किया गया है), इन्दौर, १९७३ ।

७. **ईश्वर कहाँ है ?** (इस पुस्तिका में ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या के साथ स्पष्ट किया है कि चरित्र ही ईश्वरीय रूप है), आगरा, नवीन संस्करण १९७२ ।

८. **कल्याण मुनि और सम्राट् सिकन्दर** (इस पुस्तिका में तीर्थंकर आदिनाथ और महावीर के सम्वन्ध में ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत करने के साथ ही सिकन्दर के भारत पर

आक्रमण करने, उसकी कल्याण मुनि से भेंट होने, फिर मुनिश्री का यूनान में विहार करने आदि की शोधपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है), आगरा, नवीन संस्करण १९७२।

९. **गुरु-संस्था का महत्त्व** (इस पुस्तिका में समझाया है कि किस प्रकार गुरु सम्यक्त्व की त्रिधारा के मूर्तरूप हैं, उनके सद्भाव से समाज पशुत्व से मनुष्यत्व और देवत्व की ओर अग्रसर होता है), जयपुर, १९६४।

१०. **तीर्थंकर वर्द्धमान** (मुनिश्री ने अपने मेरठ-वर्षायोग : १९७३ में जो अध्ययन-अनुसंधान किया और जो अभीक्ष्ण स्वाध्याय-सिद्धि की, उसी की एक अपूर्व परिणति है उनकी आज से बीसेक वर्ष पूर्व प्रकाशित कृति 'वीर प्रभु' का यह आठवाँ उपस्कृत संस्करण इसमें भगवान् महावीर के जीवन पर खोजपूर्ण सामग्री तो दी ही है, साथ ही उन तथ्यों का भी संतुलित समायोजन किया है जो अब तक हुई गंभीर खोजों के फलागम हैं। यही कारण है इसमें प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक, ज्योतिषिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक दृष्टियों से महत्वपूर्ण प्रमाणिक विवरण भी सम्मिलित है; यह ग्रन्थ अनेकान्त पर व्यापक जानकारी से युक्त है), इन्दौर १९७३।

११. **दैव और पुरुषार्थ** (इस पुस्तिका में दैव की उपासना पुरुषार्थ-परायण होकर करने की प्रेरणा दी गयी है), आगरा, नवीन संस्करण १९७२।

१२. **नारी का स्थान और कर्तव्य** (इस पुस्तिका में नारी-जीवन को एक स्वस्थ और तेजस्वी मार्गदर्शन दिया गया है), इन्दौर, १९७१।

१३. **निर्मल आत्मा ही समयसार** (यह कुन्दकुन्दाचार्य की बहुमूल्य कृति 'समयसार' पर मुनिश्री के स्वतन्त्र, सारपूर्ण, मौलिक प्रवचनों का अपूर्व ग्रन्थ है), इन्दौर, १९७२।

१४. **पावन पर्व रक्षाबन्धन** (इस पुस्तिका में रक्षाबन्धन को मैत्री-पर्व, सौहार्द-महोत्सव के साथ 'वात्सल्य-पूर्णिमा' के रूप में प्रस्तुत किया है। कथा भी रोचक शैली में दी है), आगरा, नवीन संस्करण १९७२।

१५. **पिच्छि-कमण्डलु** (मुनिश्री-रचित कृतियों में इस ग्रन्थ को शीर्षस्थ स्थान प्राप्त है, यह एक ओर मौलिक एवं सारगर्भित है, तो दूसरी ओर मुनिश्री के प्रातिभ दर्शन एवं क्रान्तदृष्टित्व से ओतप्रोत है। इस ग्रन्थराज में जिनेन्द्र भक्ति, गुरु-संस्था का महत्त्व, नरजन्म और उसकी सार्थकता, जैनधर्म-मीमांसा, चारित्र बिना मुक्ति नहीं, पिच्छि और कमण्डलु, शब्द और भाषा, वक्तृत्व-कला, मोह और मोक्ष, लेखन-कला; साहित्य, स्वाध्याय और जीवन, समाज, संस्कृति और सभ्यता, वर्षायोग, धर्म और पन्थ, दीक्षा-ग्रहण-विधि, सल्लेखना जैसे विविध एवं व्यापक विषयों का समावेश हुआ है। इनमें प्रतिपादित विषयों ने आगे चलकर स्वतन्त्र पुस्तिकाओं का स्वरूप ग्रहण कर लिया है), जयपुर, द्वितीय संस्करण (परिवर्द्धित-संशोधित) १९६७।

१६. **मन्त्र, मूर्ति और स्वाध्याय** (इस पुस्तिका में णमोकार मन्त्र माहात्म्य, मूर्तिपूजा के रहस्य और स्वाध्याय के जीवन में महत्त्व को प्रतिपादित किया है), जयपुर, १९६४।

१७. **महात्मा ईसा** (इस पुस्तिका में ईसा मसीह के भारत-आगमन, उन पर श्रमण-संस्कृति का प्रभाव-जैसे तथ्यों के बारे में सप्रमाण लिखा है कि इतिहासविद् तथा शोधकर्त्ता इस बात पर प्राय: एकमत हैं कि महात्मा ईसा का सुप्रसिद्ध गिरिप्रवचन तथा पीटर, एण्ड्रू, जेम्स आदि शिष्यों को दिये गये उपदेश जैन-सिद्धान्तों के अत्यन्त समीप हैं)

१८. **विश्वधर्म की रूपरेखा** (इस पुस्तक में भगवान् ऋषभनाथ से महावीर तक की तीर्थंकर परम्परा की प्रामाणिकता प्रस्तुत करते हुए जैनधर्म की प्राचीनता का विवेचन किया है और प्रतिपादित किया है कि विश्व का सर्वसम्मत, विश्व-हितकारी धर्म 'अहिंसा' है। 'विश्वधर्म' की रूपरेखा अहिंसामयी है), दिल्ली, द्वितीय संस्करण १९६६।

१९. **विश्वधर्म के दशलक्षण** (यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है, जिसमें विश्वधर्म की एक सुसंगत रूपरेखा प्रस्तुत हुई है), इन्दौर १९७१।

२० **विश्वधर्म के मंगल पाठ** (इस पुस्तक में परम्परात सामग्री को नये ढंग से शुद्ध तथा मौलिक रूप में प्रस्तुत किया गया है), इन्दौर, १९७१।

२१. **वीर प्रभु** (इस पुस्तिका में भगवान् महावीर का संक्षिप्त किन्तु सारपूर्ण परिचय है, साथ ही उनके दिव्य उपदेशों को सरल-सरस लोकभाषा में प्रस्तुत किया है), आगरा, छठा संस्करण १९६६।

२२. **सप्त व्यसन** (इस पुस्तक में वसुनन्दी श्रावकाचार के संदर्भ में 'सप्त व्यसन'-जैसे परम्परित विषय को बड़े रोचक रूप में प्रस्तुत किया गया है), इन्दौर १९७१।

२३. **समय का मूल्य** (यह पुस्तक एक उत्कृष्ट कृति है। इसमें समय की महत्ता पर कई रोचक तथ्य हैं, इसकी शैली मन को मथ डालने वाली है), इन्दौर १९७१।

२४. **सर्वोदय तीर्थ** (इस पुस्तिका में स्पष्ट किया है कि सर्वोदय तीर्थ की परिकल्पना किस प्रकार विश्व मानवों के संपूर्ण हितों की रक्षा करने में सक्षम है), आगरा, नवीन संस्करण १९७२।

२५. **सुपुत्र:कुलदीपक:** (इस पुस्तिका में आज के यन्त्र-युग में कुल-दीपक विश्वदीपक कैसे बन सकते हैं, इस संदर्भ में युवा-पीढ़ी को बड़ा ही प्रेरक उद्बोधन दिया है), आगरा, नवीन संस्करण १९७२।

२६. **स्वतंत्रता और समाजवाद** (मुनिश्री ने तत्त्वार्थसूत्र के कई सूत्रों को एक नये ही संदर्भ में प्रस्तुत किया है। पुस्तक युगान्तकरकारी है और जैन-तथ्यों के संदर्भ में पहली बार समाजवाद की व्याख्या करने में समर्थ है), इन्दौर १९७१।

२७. **श्रमण संस्कृति और दीपावली** (इस पुस्तक में श्रमण संस्कृति और उसकी उपलब्धियों का विवेचन करते हुए राष्ट्रीय पर्व दीपावली की महत्ता स्पष्ट की गयी है साथ ही उसके आयोजन को दिशा भी दी है), इन्दौर १९७२।

अमृतवाणी (*यह पुस्तक मुनिश्री के इन्दौर वर्षायोग में दिये गये कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रवचनों के मुख्यांशों का संकलन है*) इन्दौर, १९७२।

पच्चीस सौ वाँ वीर-निर्वाणोत्सव कैसे मनायें (दिल्ली में ८ जुलाई, १९७३ को दिये गये क्रान्तिकारी प्रवचन का संपादित रिर्पोटिंग, दिशादर्शन देने में समर्थ तेजस्वी विचार), इन्दौर, १९७३ ।

मंगल प्रवचन (गांधी-शताब्दी पर प्रकाशित इस पुस्तक में १०५ विषयों का समावेश किया गया है। मुनिश्री द्वारा समय-समय पर दिये गये प्रवचन का यह विषयानुक्रम में संकलित एवं संपादित सार-संक्षिप्त है); मेरठ, द्वितीय संस्करण १९६९।

मंगल प्रवचन (गांधी-शताब्दी पर प्रकाशित द्वितीय संस्करण १९६९ का यह पॉकेट बुक में तृतीय संशोधित संस्करण है। इन मंगल प्रवचनों का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि इन्हें पढ़ जाने पर जैनधर्म की एक लोकोपयोगी मूर्ति स्वयंमेव आँखों के सामने आ खड़ी होती है); श्री महावीरजी (राजस्थान,) १९७३ ।

ज्ञान दीप जलें (प्रेरक प्रसंगों से भरपूर मुनिश्री के अहिंसा का पथ प्रशस्त करने वाले विचार नवनीत, इस पॉकेट बुक में श्रमण संस्कृति और उसकी उपलब्धियाँ, संस्कृति और धर्म, धर्म दिगम्बर मुनि और श्रमण, दीपावली, समय का मूल्य, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, सप्त व्यसन आदि विषयों का सारांश दिया गया है), मेरठ १९७३।

मुनि विद्यानन्द की जीवनधारा (स्व. विश्वम्भरसहाय प्रेमी द्वारा लिखित इस पुस्तक में मुनिश्री की विचारधारा तथा प्रेरक सन्देश संक्षिप्त रूप में संपादित किये गये हैं, साथ ही अनेक संतों, विद्वानों और नेताओं से उनकी भेंटों का विवरण भी दिया गया है), सहारनपुर, १९६९ ।

हिमालय में दिगम्बर मुनि (पद्मचन्द्र शास्त्री द्वारा रचित यह ग्रन्थ मुनिश्री के आध्यात्मिक परिव्रजन तथा चातुर्मास की दैनंदिनी है, इसमें उनके प्रवचनों के जो भी अंश आये हैं, वे भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञों के बड़े काम के हैं, इसमें मुनिश्री के विराट् व्यक्तित्व का आभास मिलता है। संपूर्ण कृति मुनिश्री के आत्मबल और प्रखर साधना की गौरव गाथा है। यह एक यात्रा-ग्रंथ तो है ही, साथ ही यह ऐसा अद्वितीय ग्रन्थ भी है, जिसमें इतिहास, समाजशास्त्र, संस्कृतिशास्त्र, भाषा-विज्ञान, धर्म तथा नीतिशास्त्र, प्रजाति-विज्ञान इत्यादि आकलित है। प्रस्तुत ग्रन्थ मुनिश्री की आत्मोपलब्धि का सार-संक्षेप तो है ही, लोकोपलब्धि का भी एक सशक्त संदर्भ है), श्रीनगर-गढ़वाल (हिमालय), १९७० ।

अंगूर (मुनिश्री की प्रेरणा से संकलित इस पुस्तक में चुने हुए स्त्रोत, पाठ और भजन सम्मिलित हैं, श्रमण जैन भजन प्रचारक संघ द्वारा प्रकाशित एवं प्रसारित इसकी विभिन्न संस्करणों के रूप में डेढ़ लाख से ऊपर प्रतियाँ विक चुकी हैं, कतिपय भजनों के रिकार्ड भी वन गये हैं)।

ऐतिहासिक महापुरुष तीर्थंकर वर्धमान महावीर (इसकी रचना मुनिश्री के सान्निध्य में डा. जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल ने की है। इसमें लेखक ने मुनिश्री के निर्देशन में महावीर के जीवन का असंदिग्ध वृतान्त प्रस्तुत किया है), मेरठ, १९७३।

जैन इतिहास पर लोकमत (इसमें जैन दर्शन तथा इतिहास के विषय में भारत के सुप्रसिद्ध विद्वानों के प्रांजल मत संग्रहीत हैं), मेरठ, १९६८।

जैन शासन का ध्वज (यह जैन ध्वज के स्वरूप, इतिहास और व्यक्तित्व पर सर्वप्रथम प्रकाशन है; संप्रदायातीत तथ्यों से युक्त वहुरंगी पुस्तक मुनिश्री के मार्गदर्शन में डा. जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल ने तैयार की है), मेरठ, १९७३।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ भक्तिगंगा (इस पुस्तक के प्रारंभ में तीर्थकर पार्श्वनाथ का जीवन-चरित्र दिया गया है। भ. पार्श्वनाथ से सम्बन्धित १०१ भजनों को अर्थसहित प्रस्तुत किया गया है। इसके संकलन, संपादक और अनुवादक हैं डा. प्रेमसागर जैन), दिल्ली, १९३९।

तीर्थंकर महावीर भक्तिगंगा (यह मुनिश्री के पावन हृदय की प्रेरणा का परिणाम है। प्रारंभ में मुनिश्री द्वारा संक्षेप में लिखित तीर्थंकर महावीर का जीवन-चरित्र है। इसमें भ. महावीर से सम्बन्धित स्त्रोत तथा ४८ भजनों को अर्थसहित प्रस्तुत किया गया है), दिल्ली, १९६८।

भक्ति के अंगूर और संगीत-समयसार (मुनिश्री की प्रेरणा से डा. नेमीचन्द जैन द्वारा संपादित यह पुस्तक 'अंगूर' और 'सुसंगीत जैनपत्रिका' से किंचित् आगे की चीज है। इसमें कुछ सामग्री नई और कुछ पुनः संकलित है), इन्दौर, १९७१।

भरत और भारत (मुनिश्री के मार्गदर्शन में डा. प्रेमसागर जैन द्वारा रचित इस पुस्तक में ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत को ही इस देश के नाम 'भारतवर्ष' का मूलाधार ऐतिहासिक एवं पौराणिक प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया गया है), वड़ौत, १९६९।

भारतीय संस्कृति और श्रमण परम्परा (डा. हरीन्द्रभूषण जैन द्वारा लिखित श्रमण संस्कृति को इतिहास और अनुसंधान के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने वाली यह एक प्रमाणिक पुस्तक है; छोटी किन्तु तथ्य की धनी एक महत्त्वपूर्ण कृत्ति है), मेरठ, १९७३।

वीर निर्वाण विचार सेवा (मुनिश्री की प्रेरणा, प्रोत्साहन और आशीर्वाद से श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर के अन्तर्गत कार्यरत यह अखिल भारतीय विचार सेवा (फीचर सर्विस) विविध धार्मिक अवसरों और पर्वो पर जैन-जैनेजर विद्वानों से सपारिश्रमिक सामग्री तैयार करना कर पत्र-पत्रिकाओं में निःशुल्क प्रकाशनार्थ वितरित करती है। इसके द्वारा प्रसारित सामग्री को मराठी तथा गुजराती पत्रों ने भी अनुवाद के रूप में प्रकाशित किया है। इसके 'पर्युषण-अंक' और २५०० वां वीर-निर्वाण महोत्सव संदर्भ में एक दिशादर्शन : कार्यक्रम और आयोजन-अंक काफी लोकप्रिय हुए हैं), इन्दौर, १९७२।

सुसंगीत जैन पत्रिका (इसमें जैन संगीत को लेकर बड़ी मौलिक और खोजपूर्ण सामग्री है। वास्तव में जैन संगीत को लेकर इतना अच्छा संकलन अब तक देखने में नहीं आया। इसमें कई लेख अनुसंधान की निधि है। पत्रिका की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसने अपने अन्तर्भारती स्वरूप के कारण अखिल भारत की जैन प्राणधारा को एक सूत्र में पिरो लिया है), श्रमण जैन भजन प्रचारक संघ, दिल्ली, १९७०।

तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर (मुनिश्री के मार्गदर्शन में पद्मचन्द्र शास्त्री द्वारा प्रस्तुत भगवान् महावीर के जीवन पर पहली बार अत्यन्त प्रामाणिक तथ्यों पर आधारित पठनीय सामग्री तथा प्राचीन प्रतिमाओं के दुर्लभ चित्रों से युक्त कृति), इन्दौर, प्रकाश्य: १९७४। ○○

ज्ञानी ज्ञान और वैराग्य के दो तटों में घेरकर जीवन-नदी को मोक्ष-समुद्र तक पहुँचाने में प्रयत्नशील रहता है। उसने निर्मल जल में संस्कृति के कमल खिलते हैं। उससे स्पर्श कर जो पवन गुजरता है, वह शीतलता से भर जाता है। उसके तटों पर जो बीज गिरते हैं, उनके छायादार वृक्ष बनते हैं और उसके पास प्यास लिये अंजलि बढ़ाता है, उसे अमृत पीने को मिलता है।

—मुनि विद्यानन्द

तपस्या के चरण

चलते-चलते राह बन गये, तपते-तपते बने उजाली।
तन प्राणी-प्राणी का तन है, मन उपवन उपवन का माली ।।

रूप अतन, जीवन चन्दन है, रोम-रोम कमलों का वन है।
श्वासों में साहित्य सुमन है, हाथों में विद्या का धन है ।।
बात-बात में गांधी-वाणी, राग-राग में भोले शंकर।
अधरों पर दुखियों की कविता, आँखों में सारे तीर्थंकर ।।
विद्या-धन ऐसा सागर है—जो न कभी रत्नों से खाली।
चलते-चलते राह बन गये, तपते-तपते बने उजाली ।।

दुनिया त्यागी, कपड़े छोड़े, छोड़ा नहीं हृदय कवियों का।
जोड़ा नहीं, दिया दाता को, तोड़ा नहीं हृदय कवियों का ।।
उपवासों में जग को भोजन, मौन व्रतों में मंत्र ज्ञान के।
मस्तक पर त्रय रत्न दीप्त हैं, उर में अंकित शब्द ध्यान के ।।
मन्दिर-मन्दिर के दीपक स्वर, चाह अमर पूजा की थाली।
चलते-चलते राह बन गये, तपते-तपते बने उजाली ।।

जिधर दिगम्बर पग धरते हैं, उधर बुझे दीपक जल जाते।
जिस पर दया-दृष्टि करते हैं, उसके नष्ट बीज फल जाते ।।
जो सत्संग नहीं तजता है, उसको दाग नहीं लगता है।
जो चरणों को मुकुट बनाते, उनको स्वार्थ नहीं ठगता है ।।
मानस में शशि की शीतलता, माथे पर सूरज की लाली।
चलते-चलते राह बन गये, तपते-तपते बने उजाली ।।

स्याद्वाद में सबकी बोली, भावों में भक्तों की भाषा।
पूजा में जन-जन की पूजा, चावों में सबकी अभिलाषा ।।
गतिविधि में युग-युग की निधियाँ, यति में विश्व-क्रान्ति की सीता।
प्रकट हुआ आलोक वीर का, मुखर हुई मुनियों की गीता ।।
रसना नहीं रसों से खाली, साधू नहीं गुणों से खाली।
चलते-चलते राह बन गये, तपते-तपते बने उजाली ।।

☐ रघुवीरशरण 'मित्र'

(संयुक्त पुरुष : श्रीगुरु विद्यानन्द, पृष्ठ ३४ का शेष)

आज का 'त्राहिमाम्' पुकारता विश्व लोकवल्लभ विद्यानन्द को अपने बीच धुरी के रूप में पाना चाहता है।

का सेठाश्रयी पंडित होने को अपनी आत्मा का अपमान समझता है। जिनेश्वरों के धर्म-शासन की व्याख्याता वह पंक्ति-परम्परा आज लुप्तप्राय: है, महाराज ! गोपालदास वरैया और गणेशप्रसाद वर्णी की जनेता धर्म-कोंख आज बाँझ होने की हद पर खड़ी है। क्या समाज के सर्वेश्वरों को इसकी चिन्ता कभी व्यापी है ? कतई नहीं। कान पर जूं तक नहीं रेंगती; क्योंकि यह व्यवस्था ग़ैरसामाजिक और ग़ैरज़िम्मेवाराना है। यह समाज है ही नहीं, केवल व्यक्त स्वार्थों के पारस्परिक गठबन्धन की दुरभि-सन्धि है।...'

'जानता हूँ। जो तुम्हारा दर्द है, वही तो मेरा भी दर्द है ! सब कहो, सुनना चाहता हूँ।'

'....धर्म-शास्त्र और जिनोपदिष्ट तत्त्वज्ञान का ककहरा तक भी न समझने वाले समाज के चोटीपतियों ने धर्ममूर्ति ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद, बैरिस्टर चम्पतराय, वैरिस्टर जुगमन्दरलाल जैनी, अर्जुनलाल सेठी और न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमार जैन जैसे जाने कितने ही जिनेश्वरी सरस्वती के धुरन्धरों पर तरह-तरह के कलंक और लांछन लगाये। कइयों को प्रस्ताव पास करके जाति-बहिष्कृत भी किया गया। उन पर अत्याचार हुए।...और सुनाऊँ, महाराज ....?'

'कह दिया न, सब सुनाओ।'

'जैन पुरातत्त्व के विलक्षण खोजी और जिनवाणी के अनन्य उद्धारक पं. नाथूराम प्रेमी ने जब सर्वप्रथम जैन वाङमय को मुद्रित कर प्रकाशित किया, तो शास्त्र की आसातना के इस पाप की खातिर, उनकी दूकान को बम्बई की गटरों में फिकवा दिया गया। उसके बाद नाथूराम प्रेमी ने जिन-मन्दिर का द्वार नहीं देखा।.... आज उन्हीं प्रेमीजी की कृपा के प्रसाद से छापे में मुद्रित जैन शास्त्र बम्बई के उसी 'मारवाड़ी मन्दिर' से लगाकर सारे भारत के जिन-मन्दिरों के भण्डारों में समादृत भाव से विराजमान हैं, और लाखों जैनियों के धर्म-लाभ का सुलभ साधन हो गये हैं।.... ऐसी तो बेशुमार कहानियाँ हैं, महाराजश्री।'

'एक और तुम्हारे मन में आ रही है, वह भी सुना दो...।'

'नवीन भारत के ऋषि-कल्प साहित्यकार और चिन्तक जैनेन्द्रकुमार की माँ की लाश उठाने के लिए आने को दिल्ली के हर जैन श्रावक ने इनकार कर दिया। और माँ के शव के पास एकाकी खड़े निरीह जैनेन्द्र की आँखों आगे, श्राविकाश्रम की अधिष्ठात्री रामदेवी की लाश पर, आश्रम के हिसाब-किताब की जाँच-कमेटी बैठी। उसके बाद जैनेन्द्र ने अपने को 'जैन' कहा जाना पसन्द नहीं किया।...जैन तो मेरे नाम के साथ भी लगा है,

पर तथाकथित जैनत्व की सीमाओं से मैं कभी का निष्क्रान्त हो चुका।.....इस समाज की आज भी वही मनोवृत्ति है, आज भी वही रवैया है—शायद हालत बदतर है।....'

'वह तो है, अब तुम क्या कहना चाहते हो ?'

'यही कि हिसाबी-किताबी द्रव्य का अन्न खाकर, महावीर लिखना मुझ ब्रह्म-कर्मी के वश का नहीं है। मुझे इस मायाजाल से कृपया मुक्त ही रखें। केवल आपका आशीर्वाद चाहता हूँ कि अपने आत्मगत महावीर की रचना करने में सफल हो सकूँ। 'योगक्षेमवहाम्यहं' श्री महावीर मेरा भार उठायेंगे ही ....।'

स्पष्ट देख सका, मेरा शब्द-शब्द मुनिश्री के हृदय के आर-पार गया है। मेरी आवाज़ के दर्द से उनका पोर-पोर अनुकम्पित हुआ है; फिर भी वे निश्चल हैं। अपलक एकटक मेरी ओर निहार रहे हैं। फिर निरुद्वेग शान्त स्वर में बोले :

'नहीं, अब मेरे हाथ से छटक जाओ, यह सम्भव नहीं। सुनो वीरेन्द्र, मैं भी तुम्हारी ही तरह बालपन से ही विद्रोही रहा हूँ। और आज जो कुछ हूँ, वह उसी की चरम परिणति है। अभी कुछ बरस पहले मेरे साथ भी ऐसी नौबत आयी थी। कहा गया था, इस साधु की रोटी बन्द कर दो, इसे कपड़े पहना दो। यह पर धर्मो की मिथ्यादृष्टि शास्त्र-वाणी का व्याख्यान करता है।....लेकिन मैं मैदान में डँटा रहा, भागा नहीं अपनी आन पर अविचल रहा। आज देख ही रहे हो, कहाँ हूँ....?'

'आपकी और बात है, महाराज, आप गृह-त्यागी सन्यासी हैं, और आपके पास प्रत्यक्ष तपोबल है, जिसे कोई हरा नहीं सकता। मैं ठहरा परिवार-भारवाही गृहस्थ और फिर भी स्वैराचारी कवि : कई मोर्चों पर एक साथ लड़ने को मजबूर। ऐसे में मेरे आन्तर तपो-संघर्ष और उन्मुक्त भावोन्मेष को समझने का कष्ट यहाँ कौन करेगा ?'

''मैं करूंगा तुम्हारी प्रेमाकुल विद्रोह-मूर्ति के पीछे इस बार मैं खड़ा हूँ। यह क्या काफी नहीं होगा ?'

....मैं आपा हार कर नतमाथ समर्पित हो रहा। समझ गया, यह 'गुरुः साक्षात् परब्रह्म' का अचूक आश्वासन, और अकुतोभय अभय-वचन है। मैंने कहा :

'....भगवन्, मेरे हृदय में जो महावीर इस घड़ी उठ रहे हैं, वे आज की असत्य, हिंसा, चोरी, परिग्रह और व्यभिचार की बुनियाद पर खड़ी आसुरी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह के दिगम्बर ज्वालामुखी की तरह प्रगट होंगे। अपने समय के पथभ्रष्ट ब्राह्मणत्व, क्षात्रत्व और वणिकत्व के विरुद्ध भी, वे इसी प्रकार प्रलयंकर शंकर की तरह उठे थे। ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज के संयुक्त अवतार, उस पुरुषोत्तम ने अपने काल की ससागरा पृथ्वी की धुरी हिला दी थी; और उसे वस्तु-सत्य की स्वाभाविक धर्मधुरी पर पुनर्प्रतिष्ठित किया था। यही होगा मेरे महावीर का स्वरूप।....'

'मेरा महावीर भी वही है, और उसकी युगानुरूप जीवन्त मूर्ति तुम्हारे सिवाय आज कौन इस देश में गढ़ सकेगा ? इसी कारण तो तुम्हें खोज रहा था। और लो, तुम स्वयम् ही आ गये।....'

ऐसे वल्लभ के हाथ से छटक कर अन्यत्र कहाँ शरण है ? मन्दिर में जो भगवान् प्रतिमा-योगासन में बैठे हैं, वही तो अभी मेरे सामने बोले। बरबस ही उस प्रेममूर्ति साधु के वीतराग घुटने पर, फिर मेरा माथा जा ढलका। मयूर-पींछी के कई मृदु-मन्द आघात मेरी चेतना को अगम्य ऊँचाइयों में उत्क्रान्त करते चले गए।....

....और आज देख रहा हूँ, श्रीगुरु विद्यानन्द की वह मांत्रिक वाणी मेरी क़लम पर साकार हो रही है। ऐसा लगता है, मानो चाँदनपुराधीश्वर के चरणों में बैठे हैं भगवद्पाद् गुरुदेव विद्यानन्द : और उनकी गोद में कवि युवराज की तरह रस-समाधि में निमज्जित लेटा है : और उसकी लेखनी पर भगवान् आपोंआप उतरते चले आ रहे हैं।....

○

......अगले दिन सवेरे विदा लेने गया। गुरु-भगवान् बोले : 'एक वस्तु तुम्हें देनी है....।' मेरे मस्तक पर पींछी डालते हुए वे उठकर अन्दर गये। लाकर जो गोपन चिन्तामणि वस्तु उन्होंने मेरे हाथ पर रक्खी, उसको अनावरण करने का अधिकार मुझे नहीं है।....बोले कि : 'नित्य इसका अभिषेक-आराधना करो, फिर देखो क्या होता है....!' ....जो हुआ है, सो तो आज देख ही रहा हूँ।

....श्रीगुरु के पाद-प्रान्त में जाने कितनी देर माथा ढाले रहा। फिर सर उठाकर घुटनों के बल बैठा, तपस्वी के उस विश्व-विमोहन स्वरूप को निहारता रह गया। प्राण में जन्म-जन्मों के सारे संचित दुःख-कष्ट एक साथ उमड़ आये। शब्द असम्भव हो गया। आँखों में उजल रही आरती में ही सब कुछ आपोंआप निवेदन हो गया। अकातर, असंलग्न, निरावेग, फिर भी नितान्त आत्म-वल्लभ-सी वह वीतराग दृष्टि अनिमेष मुझ पर लगी रही।....

....अद्वैत मिलन की उस अकथ घड़ी के साक्षी थे, केवल बाबूभाई पाटोदी।....

....जयपुर जाने को तैयार खड़ी बस की ओर तेज़ी से लौट रहा था। पर पैर धरती पर नहीं पड़ रहे थे।....उसी महाभाव मूर्ति की परिक्रमा कर रहे थे, जिसे देश-काल में पीछे छोड़ आया था। पर क्या सचमुच पीछे छोड़ आया था, और क्या फिर लौट-कर अन्यत्र जाना सम्भव हो सका था ?....

....जीवन में कई चेहरे हृदय पर अंकित हुए होंगे। कोई कामिनी-प्रिया मेरी साँसों तक पर छपकर रह गयी होगी। किसी आवाज़ की विदग्ध मोहिनी से मैं बरसों पागल रहा हूँगा। पर कोई मुख-छवि, कोई आवाज़, कोई मुस्कान मेरे आत्म-द्रव्य के हाथ ऐसी तद्रूप न हो सकी, कि जो स्मरण करते ही सांगोपांग मेरे समक्ष मूर्त हो जाये। केवल एक मुख-छवि, एक आवाज़, एक मुस्कान, ऐसी है, जो देश-काल के सारे व्यवधानों को भेदकर, चाहे जिस क्षण मेरे अन्तर में हठात्, बिजली की लौ की तरह जीवन्त और ज्वलन्त हो उठती है।....वही, जिसे पहली बार १९ अक्टूबर १९७२ के दिन, चाँदनपुर में देखा और सुना था।....वह फिर अनन्त, अपनी हो कर रह गयी....!

○

एक प्रेरक व्यक्तित्व :
मुनिश्री विद्यानन्द स्वामी

अपने लड़कपन में मैंने कई दिगम्बर मुनि देखे थे, और उनके घिसे-पिटे धर्मो-पदेशों को सुनकर मुझे वेहद वोरियत महसूस होती थी। उन प्रवचनों में न तो कोई जान होती थी, और न रोजमर्रा की जिन्दगी से कोई सीधा संवंध। वे शुष्क शब्दों में और उवा देने वाले तोतारटन्त अन्दाज़ में रूढ़ जैनाचार का व्याख्यान करते थे।...

—डॉ. ज्योतीन्द्र जैन

सन् १९७२ के जुलाई में मैं वियेना विश्वविद्यालय से पीएच. डी. लेकर, तीन वर्ष के यूरुप प्रवास के वाद, एक प्रशिक्षित नृतत्त्व-वैज्ञानिक (एन्थ्रॉपोलॉजिस्ट) के रूप में भारत लौटा। मैं तव ज्यूरिख (स्विट्जरलैण्ड) के 'रीटवर्ग म्यूजियम' के एक शोध-वैज्ञानिक की हैसियत से भारत में जैन कला और संस्कृति पर प्रलेखन-कार्य (डाक्यूमेन्टेशन) करने आया था। इससे पूर्व मैं आदिम कवीलाई धर्मों के अध्ययन में तज्ञता प्राप्त कर चुका था। यही मेरे प्रशिक्षण का विषय रहा था। और इसमें मुझे वुनियादी दिलचस्पी थी।

यद्यपि एक दिगम्बर जैन परिवार में ही मेरा जन्म हुआ था, किन्तु वचपन में और उसके वाद भी जैनधर्म के किसी भी पहलू से मैं आकृष्ट न हो सका था। मगर उसके वाद एक आधारभूत तत्त्व में मुझे वेशक दिलचस्पी रही, और वह था ईश्वर का अस्वीकार, तथा व्यापक अर्थ में उसकी यह मान्यता कि व्यक्ति स्वयं ही अपने कर्मानुसार अपने सुख-दु:ख के भोगों के लिए जिम्मेवार है। वही अपने भाग्य और जीवन-स्थिति का निर्णायक है, कोई अज्ञात विधाता या ईश्वर नहीं। इसके अतिरिक्त जैनधर्म में कभी कोई दिलचस्पी मेरी नहीं रही थी। मुझे जैनों से अरुचि थी, क्योंकि मुझे हमेशा यह अहसास होता रहा कि वे जैनाचार की कट्टर और रूढ़ शारीरिक साधनाओं को ही अधिक महत्त्व देते हैं और उसके आधारभूत तत्त्वज्ञान में अन्तर्निहित सूक्ष्म भावार्थों को भुलाये रहते हैं।

जैनधर्म के नाम पर अक्सर मैंने यही देखा था कि जैन लोग अपने उपवासों की संख्या में गर्व लेते हैं, और परिवार में कोई उपवास करे तो उसका जुलूस निकालने और उस उप-लक्ष्य में उपहार वाँटने में ही उपवास की पूर्णाहुति मानी जाती है। मैंने ऐसे ही जैनों को देखा था जो वाह्य दिखावटी धार्मिक क्रियाओं में ही वेतरह उलझे थे, पर अपनी कषायों

और उत्तेजनाओं पर जो कतई काबू नहीं पा सके थे, और इस ओर उनका कोई लक्ष्य भी नहीं था। मेरा यह ख्याल था कि जैनी लोग प्रथम कोटि के पाखण्डी हैं।

सो यहाँ आकर काम करने में जैनधर्म या जैन लोगों में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं थी। मैं भारत लौटा था केवल जैन कला और संस्कृति का एक प्रलेखन या लेखा-जोखा तैयार करने के उद्देश्य से। मैं कोई श्रद्धालु जैनी नहीं हूँ और जैन संस्कृति तथा कला के अध्ययन में मेरी यह तटस्थता एक विधायक और आवश्यक योग्यता ही मानी जा सकती है; क्योंकि इसी तरह मैं जैनों के इन पहलुओं का एक अनाग्रही, वस्तुनिष्ठ और पूर्वग्रह-मुक्त अध्ययन प्रस्तुत कर सकता हूँ।

मैं जब यह काम शुरू ही करने जा रहा था, तभी मेरे नाना, बम्बई के एक जौहरी श्री मथुरालाल तलाटी ने मुझे बताया कि अभी श्री महावीरजी में एक आधुनिक मिजाज के प्रभावशाली और तेजस्वी दिगम्बर जैन मुनि वर्षावास कर रहे हैं, और कार्यारम्भ करने से पहले मुझे जाकर उनसे मिलना चाहिये। बताया गया कि उनका नाम मुनिश्री विद्या-नन्दजी है। इस सुझाव से मैं कोई खास उत्साहित न हुआ।

अपने लड़कपन में मैंने कई दिगम्बर जैन मुनि देखे थे, और उनके घिसे-पिटे धर्मोप-देशों को सुन कर मुझे बेहद बोरियत महसूस होती थी। उन प्रवचनों में न तो कोई जान होती थी और न रोजमर्रा की जिन्दगी से उनका कोई सीधा सम्बन्ध। वे शुष्क शब्दों में और उबा देने वाले तोतारटंत अन्दाज में रूढ़ जैनाचार का व्याख्यान करते थे, जिसे जैनधर्म के ग्रंथों में आसानी से पढ़ा जा सकता था, और उसका ज्ञान पाने के लिए ऐसे किसी मुनि का प्रवचन सुनने के लिए जाना एकदम अनावश्यक था। दूसरे जैन मेनियों का दर्शन ही मुझे सदा अरुचि-कर रहा था, क्योंकि वर्तन और वाणी में ज्यादातर मैंने उन्हें बहुत रूखे-सूखे, अदय और असहिष्णु पाया था, और लगता था कि वे मानो मुनित्व को महज भार की तरह अपने कंधों पर ढो रहे हैं : पर मुझे इस विषय पर अपना काम तो करना ही था, सो मैंने सोचा क्यों न 'श्री महावीरजी' से ही अपना कार्यारम्भ करूँ, जोकि एक महत्त्वपूर्ण जैन तीर्थक्षेत्र भी है।

□

सो अक्टूबर १९७२ की एक सुबह मैं अपने माता-पिता के साथ श्री महावीरजी जा पहुँचा। पता चला कि मुनिश्री विद्यानन्दजी अभी यहीं पर हैं। यहाँ मंदिर की तस्वीरें उता-रने और मंदिर तथा धर्मशाला में जैनों के व्यवहार-वर्त्तन का निरीक्षण करने में मैंने दो दिन बिताये। मैंने देखा कि स्थूलकाय जैन स्त्री-पुरुष एक दूसरे के साथ उग्रता से धक्का मुक्की करते हुए एक-दूसरे को पीछे ठेल कर, सबसे आगे पहुँच वेदी पर विराजमान भगवान की प्रतिमा को चाँवल चढ़ाने के अपने संघर्ष में ही बेहद पिले हुए थे। अपनी इस दर्शन-लालसा से वे इतने बदहवास थे कि आगे पहुँचने की अपनी व्यग्रता में वे छोटे-छोटे रोते बच्चों के पैर कुचल देने में भी जरा नहीं हिचकते थे, और उन्हें बेरहमी से ठेल कर भीड़ में घुसे जा रहे थे।

तीसरे दिन अपने बापूजी (मेरे पिता वीरेन्द्रकुमार जैन) के सुझाव पर मैंने मुनिश्री विद्यानन्दजी के दर्शनार्थ जाना स्वीकार किया। जब हमने कमरे में प्रवेश किया तो माँ और

मुनिश्री बोले : क्या केवल इसी कारण तुम वहाँ न जाओगे, कि जीप गाड़ी नहीं है ?' मैंने कहा : 'जी हाँ, महाराज।'

पिताजी ने परम्परागत रीति से मुनिश्री का वन्दन किया । मैंने भी उनका अनुसरण किया और चुपचाप एक ओर बैठ गया । मुनिश्री और मेरे पिता के बीच कोई घंटा भर अनेक तरह की चर्चा-वार्ता होती रही ।

मुनिश्री विद्यानन्द को देख कर भौंचक्का रह गया । यहाँ मैंने एक ऐसे दिगम्बर जैन मुनि को देखा, जो औरों से एकदम भिन्न दिखायी पड़ा, जिसका बात करने का ढंग निराला था, जो अपने विचार और अभिव्यक्ति में एकबारगी ही तेजस्वी, प्रतिभावन्त और मौलिक था । मुनिश्री विद्यानन्द के उस साक्षात्कार ने जैन मुनियों के प्रति मेरी सारी पूर्व धारणाओं को तोड़ दिया । प्रकृति से वे प्रसन्न और जीवन्त थे । ऐसा कतई न लगा कि वे अपने मुनित्व को भार की तरह अपने कंधे पर ढो रहे हैं, जैसा कि इससे पहले मुझे लगा करता था । और मुनियों की तुलना में मुझे लगा कि मुनिश्री विद्यानन्द अपने धर्म की अविचल प्रतीति पा गये हैं। उनके चेहरे पर, और उनके वर्तन में एक सूक्ष्म आनन्द का भाव था, संयम और अनासक्ति की दृढ़ता थी । मेरे मन में अब तक सच्चे जैनत्व की ऐसी ही कोई धारणा रही थी । सो मुनिश्री विद्यानन्द स्वामी के व्यक्तित्व और वार्तालाप से मैं कुछ इस कदर प्रभावित हो गया, कि मेरे मन में ऐसी प्रतीति जागी कि मुनिश्री की भावमूर्ति को मन में संजोये रख कर और उनके सम्पर्क में रह कर, जैन कला-संस्कृति के अध्ययन की अपनी इस योजना को मैं बखूबी सम्पन्न कर सकूँगा ।

□

अगली बार जब मुनिश्री अलवर में चातुर्मास कर रहे थे, तो मैंने तय किया कि मैं वहाँ जाकर कुछ दिन उनके सामीप्य में बिताऊँ । हिन्दुस्तान की फिजाओं में चारों ओर गर्म लू के झकोरे बह रहे थे, और उनके बीच गुजरते हुए मैंने अहमदाबाद से अलवर तक का लम्बा सफर किया । मेरे मन में मुनिश्री से मिलने की लौ-लगन लगी हुई थी, जो सदा आनन्दित मुद्रा में रहते हैं, फिर भी जो सहज ही आत्मस्थ और संयत हैं । अलवर में मुनिश्री के साथ बातों के कई लम्बे दौरों से मैं गुजरा । जैन मूर्ति-विधान और मूर्ति-शिल्प-शास्त्र से लगा कर स्काई-स्क्रेपर और पाश्चात्य जगत् के यांत्रिक सुख-ऐश्वर्य तक, अनेक विषयों पर उनसे गहरी वार्ता होती थी । मैंने देखा कि मुनिश्री के भीतर, भौतिक जीवन और उसके विविधि लीला-विलास को जानने की एक विधायक जिज्ञासा थी । मेरे इस विषय में कुतूहल करने पर वे बोले : 'कौन कहता है कि प्रकृति को हमें नहीं जानना चाहिये, कि भौतिक जगत् के परिचय से हमें दूर रहना चाहिये ? जगत् और प्रकृति को जाने बिना उसका त्याग कोई कैसे कर सकता है ?'

मैंने प्रसंगात् मुनिश्री से कहा कि इस इलाके में, जंगलों के भीतर कोई साठ मील की दूरी पर पूर्व-मध्यकाल के जैन मंदिरों के खण्डहर मौजूद हैं । मैं उस स्थान पर जाना

चाहता था, पर चूंकि सड़कें वहुत खराव थीं, इस वजह से 'जीप' गाड़ी के विना वहाँ नहीं पहुँचा जा सकता था। सो मैंने वहाँ जाने का अपना इरादा त्याग दिया था। मुनिश्री वोले : 'क्या केवल इसी कारण तुम वहाँ न जाओगे, कि 'जीप' गाड़ी नहीं है?' मैंने कहा : 'जी हाँ। महाराज !'...

तव वे वोले कि 'एक घंटे वाद फिर मुझ से आकर मिलना, मुझे तुम से कुछ वात करना है।' जव घंटे भर वाद मैं उनके पास गया तो महाराजश्री ने घोषित किया : "कल सुवह ठीक छह वजे, धर्मशाला के द्वार पर एक जीप तुम्हारी प्रतीक्षा में खड़ी होगी, जो तुम्हें तुम्हारे गन्तव्य 'नवगजाजी' ले जाएगी। तुम कल अलवर के जंगल में वह पूर्व-मध्ययुगीन जैन देवालय अवश्य देखोगे।"....मैं स्तंभित रह गया, ...नहीं मैं चकरा गया, ...नहीं केवल चकराया ही नहीं, मैं द्रवीभूत हो गया। ....मेरे चेहरे पर छा गये भाव के वादल को उन्होंने देख लिया। ....उन्होंने उसे लक्षित किया, और इसीसे उन्होंने मुझे वहाँ एक क्षण-भर भी और न ठहरने दिया और तुरन्त मुझे कमरे से वाहर चले जाने का इंगित कर दिया। उनके भीतर के इस आत्मनिग्रह और संयम को देख कर मैं अधिकाधिक उनकी ओर आकृष्ट होता चला गया।.....

अगले दिन सवेरे मैं 'नवगजाजी' चला गया। वहाँ मैंने सात अत्यन्त सुन्दर शैव और जैन मंदिरों के ध्वंसावशेष देखे। 'नवगजाजी' की प्रमुख तीर्थंकर-मूर्ति अतिशय प्रभावशाली थी और उसका शिल्पन वहुत नाजुक ढंग से हुआ था। वह तेरह फुट तीन इंच ऊँची एक भव्य ऊँची प्रतिमा थी। उसके मस्तक पर दो फुट-छह इंच व्यास का एक छत्र था, जो दो हाथियों पर आधारित था। इस समूचे शिल्प की ऊँचाई सोलह फुट-तीन इंच है, और चौड़ाई छह फुट है। मैं वहां से कोई सौ फोटो उतार कर धर्मशाला लौट आया।

मैंने मुनिश्री के समक्ष उस स्थान और मूर्तियों की भव्यता और सौंदर्य का वर्णन किया। मुनिश्री उसके प्रति इस कदर आकृष्ट हुए कि एक वच्चे जैसी कुतूहल जिज्ञासा से उन्होंने पूछा : 'क्या मैं भी वहाँ तक पहुँच सकता हूँ ?' □

इस प्रसंग के वाद मेरा मुनिश्री के पास फिर जाना नहीं हो सका है। अव जैन कला-संस्कृति के प्रलेखन की मेरी योजना समाप्त-प्रायः है। एक वरस गुजर चुका है। मैं कोई वीस हजार किलोमीटर की यात्रा इस देश के विविध विस्तारों में कर चुका हूँ; और सात हजार तस्वीरें मैंने उतारी हैं। इस सारी सामग्री का उपयोग १९७४ में झ्यूरिख (स्विटजरलैण्ड) में होने वाली जैन कला और संस्कृति की प्रदर्शनी में होगा।

उसके वाद यह प्रदर्शनी यूरुप के अन्य देशों में भी प्रवास करेगी। इस सामग्री के आधार पर मैं अपने मित्र और सहयोगी डॉ. एवरहार्ड फिशर की सहकारिता में 'जैन प्रतिमा-विज्ञान' पर एक पुस्तक भी लिख रहा हूँ जोकि हॉलैण्ड में प्रकाशित होगी।

मैं स्वीकार करूँ, कि इस कार्य को सम्पन्न करने में मुनिश्री के व्यक्तित्व से मुझे सतत प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त होता रहा। कृतज्ञ भाव से मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ। (मूल अंग्रेजी से अनूदित) □□
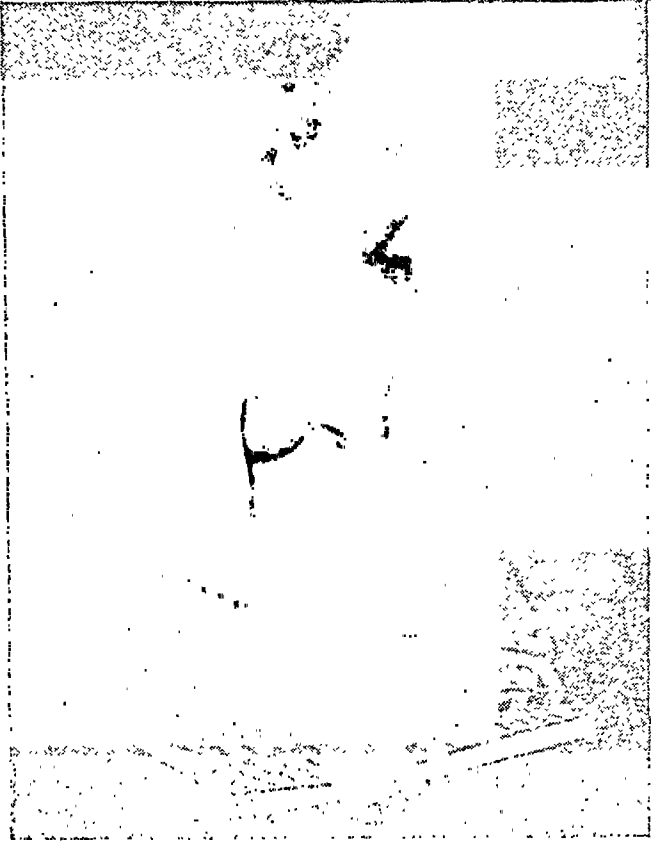
मुनि विद्यानन्द-स्तवनम्

(शिखरिणी छंद)

स्व. डा. नेमिचन्द्र जैन शास्त्री

यदीयैः तेजोभिः परिणतविचारैः प्रवचनैः,
मनोरागद्वेषाः विलयमधिगच्छन्ति जगताम्।
शिवं सत्यं दिव्यं सुखदमथ यद्दर्शनमहो,
सदा विद्यानन्दो जयतु भुवि सोऽयं मुनिवरः ।।१।।

यदीयं व्यक्तित्वं गुणगणनिधानं सुविदितम्,
यदीयं पाण्डित्यं बुधजनसमीहास्पदमभूत् ।
प्रसिद्धिसिद्धिर्वा दिशि दिशि यदीया प्रचलिता,
पद-द्वन्द्वे तस्य प्रणतिरनिशं मे विलसतात् ।।२।।

यदीया सत्कीर्त्तिः तुहिनधवलाभा शिखरिणी
प्रतिष्ठा यस्यास्ति प्रभुपदसमानावनितले।
यदीयं सम्मानं निखिलजनवर्गेष्वतिशयम्,
उपास्ते तं 'चन्द्रः' प्रणतहृदयो 'नेमि' सहितः ॥३॥

चमत्कारं वाणी वितरति यदीया सुललिता,
यदीयत्यागस्यापरिमित कथा कास्तु कथिता।
लभन्ते नो शान्तिं क इह परमां यस्य शरणे,
अपूर्वः निर्ग्रन्थः विहरतितरां कोऽपि भुवने ॥४॥

परं पूज्यं लोकैः जगति जननं यस्य सततम्,
परं श्लाघ्यं लोकैरमलचरितं यस्य सुगुरोः।
परं ध्येया लोकैरमररचना यस्य निखिला,
महावीरस्वामिप्रथितवरशिष्यो जयतु सः ॥५॥

जनोऽसौऽल्पज्ञो वा भवति सुमहान् यस्य कृपया,
यदीय स्पर्शो वा मदुमपि सुवर्णं प्रकुरुते।
यदीयाशीर्वाणी विकिरति सुधासिन्धुलहरीम्,
समन्तादौभद्रः भवतु चिरभद्राय स भुवः ॥६॥

नमस्तस्मै भूयो युगपुरुषवर्याय सततम्,
नमस्तस्मै भूयोऽखिल जननमस्याय सततम्।
नमस्तस्मै भूयो भवतु च मुनीन्द्रायसततम्,
अहं लोके मन्ये यमिमकलङ्कं श्रुतधरम् ॥७॥

(जिनके प्रभाव और सद्वाणी से जन-मन के रागद्वेषादि विकार शान्त होते हैं और दर्शन से सुख एवं शान्ति प्राप्त होती है; वे मुनिश्री विद्यानन्द जगत् में सदा जयवन्त हों ॥1॥ जिनका व्यक्तित्व गुण-गण-समृद्ध और सर्वविदित है और जिनकी विद्वत्ता की विद्वज्जन सराहना करते हैं, तथा प्रत्येक दिशा में जिन्हें प्रसिद्धि और सिद्धि प्राप्त है, उन मुनिश्री विद्यानन्द के चरण-युगल में निरन्तर विनम्र बना रहूँ ॥2॥ जिनका सुयश हिम के समान सर्वत्र व्याप्त है और लोक में प्रभु-पद की भांति जिनकी प्रतिष्ठा है, समस्त जनता में जिनका अतिशय सम्मान है; उन मुनिश्री को नम्र हृदय नेमिचन्द्र उपासना करता है ॥3॥ जिनकी सुन्दर वाणी चमत्कार उत्पन्न करती है, उनके महान् त्याग का क्या वर्णन किया जाए ? जिनकी शरण जाने पर किसे शान्ति नहीं मिलती? ऐसे अपूर्व दिगम्बर श्रमण मुनिश्री विद्यानन्द का लोक में सदा विहार होता रहे ॥4॥ सांसारिकों द्वारा जो सदैव पूज्य बने हुए हैं, जिन सुगुरु का निर्मल चरित्र प्रशंसनीय है और जिनका समस्त स्थायी साहित्य जनता के लिए पढ़कर चिन्तन करने योग्य है; ऐसे भगवान् महावीर के विख्यात श्रेष्ठ शिष्य मुनिश्री विद्यानन्द जयवन्त हों ॥5॥ जिनकी कृपा से अल्पज्ञ भी महान् ज्ञानी बन जाते हैं, जिनका स्पर्श लोहे को भी स्वर्ण बना देता है और आशीर्वादपूर्ण वाणी अमृतमय सागर के समान आनन्द प्रदान करती है, ऐसे मंगलमय मुनिश्री विद्यानन्द चिरकाल तक जगत् का मंगल करते रहें ॥6॥ हम युग-पुरुष श्रेष्ठ मुनिश्री को सदा प्रणाम करते है ! सर्वलोक-पूज्य मुनिश्री को निरन्तर प्रणाम करते हैं ! उन मुनिराज को बारंबार प्रणाम है, संसार में जिन्हें मैं निर्दोष श्रुतधर मानता हूँ ॥7॥)

अनु.—नाथूलाल शास्त्री

मुनि-दीक्षा से पूर्व

कोण्णर (कर्नाटक) १९४६
हूमच (कर्नाटक) १९४७
कुम्भोज (महाराष्ट्र) १९४८
शेडवाल (मैसूर) १९४९ से १९५६
हूमच क्षेत्र (कर्नाटक) १९५७
सुजानगढ़ (राजस्थान) १९५८
सुजानगढ़ (राजस्थान) १९५९
बेलगांव (कर्नाटक) १९६०
कुन्दकुन्दाद्रि (कर्नाटक) १९६१
शिमोगा (कर्नाटक) १९६२

मुनि-दीक्षा के बाद

दिल्ली १९६३
जयपुर (राजस्थान) १९६४
फीरोजाबाद (उत्तरप्रदेश) १९६५
दिल्ली १९६६
मेरठ (उत्तरप्रदेश) १९६७
बड़ौत (उत्तरप्रदेश) १९६८
सहारनपुर (उत्तरप्रदेश) १९६९
श्रीनगर-गढ़वाल (हिमालय) १९७०
इन्दौर (मध्यप्रदेश) १९७१
श्रीमहावीरजी (राजस्थान) १९७२
मेरठ (उत्तरप्रदेश) १९७३

वर्षायोग
जयपुर, इन्दौर, मेरठ

दिल्ली में आचार्य श्री देशभूषणजी के पास मुनि-दीक्षा लेने के पश्चात् मुनि श्री विद्यानन्दजी अपने गुरु के साथ सन् १९६४ में जयपुर में प्रथम वर्षायोग के लिए पधारे। उस समय जयपुर जैन समाज मुनिश्री की विद्वत्ता एवं वक्तृत्व शक्ति से बिल्कुल अनभिज्ञ था। मुनि संघों के प्रति वैसे भी जैन समाज का एक वर्ग उदासीन था। उस समय पंडित चैनसुखदासजी जीवित थे और उनका जयपुरवासियों पर पूर्ण वर्चस्व स्थापित था। मुनिश्री का वर्षायोग-स्थापना के पश्चात् कभी-कभी प्रवचन होता जो कभी आचार्यश्री के पहिले और कभी बाद में होता था। रत्न को कितना ही छिपाओ वह छिप नहीं सकता; इसी कहावत के अनुसार मुनिश्री की विद्वत्ता एवं प्रवचन-शैली ने जयपुर के नवयुवक समाज पर प्रभाव जमाना प्रारम्भ किया और एक दूसरे के प्रचार के आधार पर काफी संख्या में लोग उनके प्रवचनों में जाने लगे।

मुनिश्री की लोकप्रियता में वृद्धि के कारण गुरु-शिष्य में कुछ-कुछ मनमुटाव रहने लगा; लेकिन उन्होंने अपना प्रवचन बन्द नहीं किया और समाज को अपने जाग्रत विचारों से आकृष्ट करने लगे। पंडित चैनसुखदासजी को जब मुनिश्री के क्रान्तिकारी विचारों के सम्बन्ध में जानकारी मिली तो उन्हें अत्यधिक प्रसन्नता हुई और एक दिन

वड़े दीवानजी के मन्दिर में दोनों की भेंट रखी गयी। वह दो सन्तों के मिलन-जैसा था। तीक्ष्ण-बुद्धि पंडितजी को मुनिश्री को समझने में देर नहीं लगी और उन्हें ऐसा लगा जैसे जीवन में प्रथम वार उन्हें अपने विचारों के अनुकूल युवक सन्त मिला हो। उस ऐतिहासिक भेंट के पश्चात् मुनिश्री पंडितजी की ओर आकृष्ट होते गये।

मुनिश्री एवं पंडितजी के भेंट के समाचार जयपुर-समाज में विद्युत् वेग के समान फैल गये और मुनिश्री विद्यानन्दजी पंडितजी के मुनि हैं तथा उन्हीं की विचारधारा वाले हैं ऐसा लोगों ने कहना आरम्भ कर दिया। जव सर्वप्रथम वड़े दीवानजी के विशाल प्रांगण में मुनिश्री एवं पंडितजी को एक मंच पर वैठा हुआ देखा और दोनोंने समाज एवं संस्कृति के पुनरुत्थान की वातें दोहरायीं तो सारा नगर झूम उठा और एक ही दिन में मुनिश्री जयपुर जैन समाज के ही नहीं किन्तु समस्त नगर के मुनि वन गये। नगर की सर्वाधिक लोकप्रिय संस्था राजस्थान जैन समाज द्वारा उनके प्रवचन आयोजित होने लगे। पहिले उनके प्रवचन मन्दिरों में होने लगे और जव मन्दिरों का विशाल प्रांगण भी छोटा पड़ने लगा तो महावीर पार्क में उनका साप्ताहिक प्रवचन रखा जाने लगा; लेकिन जव जन-मेदिनी ही उमड़ पड़े तो मुनिश्री को पार्क तक ही कैसे सीमित रखा जा सकता था? आखिर रामलीला मैदान में उनके विशेप प्रवचन आयोजित होने लगे। एक दिन स्टेशन रोड पर एक विशाल पंडाल में मुनिश्री का प्रवचन रखा गया। विपय था: "हम दुःखी क्यों हैं?" मंच पर मुनिश्री के अतिरिक्त राजस्थान के राज्यपाल डा. सम्पूर्णानन्दजी एवं पंडित चैनसुखदासजी, विराजमान थे। भापण प्रारम्भ हुआ। पंडितजी ने एवं राज्यपाल महोदय ने विपय का अत्यधिक सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया; लेकिन जव मुनिश्री का प्रवचन आरम्भ हुआ तो उन्होंने सर्वप्रथम कहा कि जिस सभा में एक ओर सम्पूर्ण आनन्द वाले सम्पूर्णानन्दजी विराजमान हैं और दूसरी ओर चैन और सुख वैठे हुए हैं तथा वे स्वयं भी विद्यानन्द-युक्त हैं तो फिर "हम दुःखी क्यों हैं" यह विपय ही क्यों रखा गया? मुनिश्री के कहने में इतना आकर्पण था कि दो मिनट तक सारी सभा में प्रसन्नता एवं हँसी की लहर दौड़ती रही। स्वयं राज्यपाल भी मुनिश्री की प्रवचन-शैली से इतने आकृष्ट हुए कि फिर तो वे उनकी सभाओं में स्वयमेव आने लगे और उन्होंने अपने पद एवं गौरव तथा सुरक्षा-नियमों की भी चिन्ता नहीं की।

जयपुर नगर ने मुनिश्री के जीवन-निर्माण की जो भूमिका निभायी वह सदैव उल्लेखनीय रहेगी। उनकी कीर्ति, प्रशंसा एवं प्रसिद्धि वढ़ने लगी। और एक महीने में ही वह वटवृक्ष के समान विशाल हो गयी। उनके प्रवचन नगर के विभिन्न मोहल्लों के अतिरिक्त वापू नगर, आदर्श नगर, अशोक नगर, स्टेशन रोड, मोहनवाड़ी आदि उपनगरों में रखे गये और नगर के अधिकांश नागरिकों ने उन्हें श्रद्धापूर्वक सुना। राज्यपाल, मुख्यमंत्री, मंत्रिगण, विधान-सभाध्यक्ष, राज्य के उच्चाधिकारी, विश्व-विद्यालय के प्राध्यापक, विद्वान्, व्यापारी एवं विद्यार्थि-वर्ग सभी ने मुनिश्री के प्रवचनों

का लाभ उठाया और ३-४ महीनों तक सारा नगर ही विद्यानन्दमय हो गया। उनको रविवासरीय सभाओं में १० हजार से २०-२२ हजार तक की भीड़ होती। ऐसी भीड़ जयपुर नगर के इतिहास में किसी सन्त के प्रवचन में प्रथम वार देखने को मिली थी।

वर्षायोग के चार महीने एक-एक दिन करते निकल गये और जब मुनिश्री के विहार की तिथि निश्चित हुई तो जयपुर की जनता अवाक्-सी रह गयी। मुनिश्री ने अपने चातुर्मास में २५ से भी अधिक विशाल एवं विशेष सभाओं को सम्बोधित किया और ३-४ लाख स्त्री-पुरुषों ने उनके प्रवचनों से लाभ लिया। उनकी अन्तिम सभा त्रिपोलिया वाजार-स्थित आतिश मार्केट में रखी गयी जिसमें २५ हजार से भी अधिक उपस्थिति थी। मुनिश्री को जयपुर के नागरिकों की ओर से जो भावभीनी एवं अश्रुपूरित नेत्रों से विदाई दी गयी वह जयपुर के इतिहास में उल्लेखनीय रहेगी। वे आगे-आगे थे और उनके पीछे-पीछे था हजारों का समुदाय। तीन मील तक यही क्रम रहा। आखिर यही सोचकर कि मुनिश्री वापिस आने वाले नहीं हैं लोगों ने उनके चरणों में नत-मस्तक होकर अपने घरों की राह ली। वास्तव में जयपुर के नागरिकों को वह चातुर्मास सदैव स्मरण रहेगा। अब तो हजारों नागरिकों की यही हार्दिक अभिलाषा है कि जयपुर को पुनः मुनिश्री अपने चरणों से पावन करें और अपने प्रवचनों में उन्हें जीवन-विकास का मार्गदर्शन दें।

—डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल

इन्दौर

और सच ही व्यापार-उद्योग नगर इन्दौर सन् १९७१-७२ में तीरथ हो गया। गरीब-अमीर, मजदूर-मालिक, अध्यापक-छात्र, हिन्दू-मुसलमान, सिक्ख-ईसाई, श्वेताम्बर-दिगम्बर-स्थानकवासी, सभी जाति-पांति, धर्म, पद, मान-मर्यादा, विचार-भेद भूलकर स्त्री-पुरुष-वाल-वृद्ध नगर के हर कोने से हजारों-हजारों की संख्या में प्रतिदिन प्रातः निर्धारित समय पर उस ओर ही बढ़ते हुए नजर आते थे जिस ओर मुनिश्री के प्रवचनों का प्रबंध हो। चाहे मालवा मिल्स का मजदूर-क्षेत्र या गीता भवन का धर्मस्थल, चाहे वैष्णव विद्यालय का विशाल प्रांगण या रामद्वारा चौक या कपड़ा मार्केट का महावीर चौक, तिलक नगर-नेमीनगर के एकान्त इलाके सब ओर ही ठसाठस भरे हुए मंत्र-मुग्ध श्रोता, शान्ति परमशान्ति से—जिसे अंग्रेजी में पिनड्राप सायलेंस कहते हैं—मुनिश्री के प्रवचनों में एकाग्र चित्त लगे हुए—और ऐसा नजारा एक दिन नहीं, दस दिन नहीं, पचास दिन नहीं, लगातार छह माह तक।

आदिनाथ मांगलिक भवन का मुनिश्री का आवास-स्थल प्रातः से संध्या तक भक्तों से, विद्वानों से, कुलपतियों से, अध्यापकों से, छात्र-छात्राओं से, कला-मर्मज्ञों से लेखकों से, संपादकों से, कार्यकर्ताओं से, विचार-गोष्ठियों, तत्त्वचर्चा, शंका-समाधान, अध्ययन-अनुसंधान, मार्गदर्शन और तरह-तरह की गूंज-प्रतिगूंजों से ध्वनित होता रहा।

और भारत के कोने-कोने से सुदूर उत्तर-ठेठ दक्षिण पूर्व आसाम व पश्चिम तक हर भाषा-भाषी मुनिश्री के दर्शनों को इन्दौर आता रहा, आता रहा--कृतकृत्य होता रहा--होता रहा और इन्दौर तीर्थ हो गया।

और यही वह इन्दौर था जहाँ पहिले भी मुनि श्री आनन्दसागरजी, शान्तिसागर जी क्षाणी, वीरसागरजी आदि के चातुर्मास अत्यन्त शान्ति एवं धार्मिक वातावरण में सानन्द सम्पन्न हुए थे। और एक मर्तबा एक चातुर्मास में इन्दौर में वह विद्वेष की अग्नि समाज में प्रज्वलित हुई कि वर्षों इन्दौर में सामूहिक धार्मिक वातावरण का विलोप हो गया; समाज विभक्त हो गया। और इस विक्षुब्ध वातावरण में साधुओं का इस ओर रुख करना असुविधापूर्ण लगने लगा।

समाज में अपने ही प्रति रोष था--युवावर्ग क्षुब्ध था और समाज के मन में अपनी पूर्व भूलों के प्रति ग्लानि। ऐसे वातावरण में महायोगी, संतप्रवर, विश्वधर्म-प्रेरक साधु के इन्दौर-आगमन की स्वीकृति की मंगल ध्वनि गूंजने लगी—सुदूर कैलाश की ओर से इन्दौर की ओर बढ़ते हुए मंगल चरणों की ध्वनि से समाज आह्लादित हो गया और मुनिश्री की कीर्ति-गाथा से नगर का जन-जन चमत्कृत।

जुथ-के-जुथ स्त्री-पुरुष सैकड़ों-सैकड़ों मीलों की दूरी पर ही स्वागतार्थ पहुँचने लगे--दर्शनार्थ पहुँचने लगे और सप्ताह-सप्ताह मंगल विहार में पगपग-साथसाथ मंगल वाणी गूंजती रही। जात-पाँत, ऊँच-नीच के भेद भूलकर मानव-मानव कृतकृत्य होते गये। पावन भागीरथी का यह प्रवाह इन्दौर की ओर बह चला।

और तब.....जब इन्दौर में मुनिश्री पधारे; हर्ष-विभोर लाखों-लाख जन-जन ने वह स्वागत किया कि--न भूतो न भविष्यति। वर्णनातीत-मात्र देखने की बात थी; कल्पना की बात भी नहीं।

इस ज्ञान-गंगा के निर्मल तट पर इन्दौर का जन-जन, मालव का जन-जन और दूर-दूर के यात्री महीनों अवगाहन करते रहे और अनजाने में महीनों का समय आँख झपकते निकल गया। विदा की वेला आयी, अश्रुधाराएँ बहती रहीं--बहती रहीं--जन-जन अश्रुपूरित नेत्रों से मीलों-मील पीछे-पीछे भागते रहे और.....

करजोर 'भूधर' बीनवै कब मिलहिं वे मुनिराज !
यह आस मनकी कब फले, मम सरहिं सगरे काज !!

मुनिश्री के इन्दौर-चातुर्मास से युवावर्ग धन्य हुआ उसकी डगमग आस्था लौट आयी; प्रौढ़ वर्ग उदार अनुभूति से अभिभूत हो गया और वृद्ध कहते रहे यह प्रत्यक्ष समवशरण अब देखने को नहीं मिलेगा। साथ ही जन-जन की तब से अब तक भावना चातक वत-मुनिश्री की ओर लगी है कि अब कब ?..... कब ?

कब मिलहिं वे मुनिराज !
संसार विषउ विदेश में जे विना कारण वीर !
ते साधु मेरे उर बसौ मेरी हरहु पातक पीर !!

--माणकचन्द पाण्ड्या

मेरठ

मैं पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी के सम्पर्क में १९६७ में आया। यह मुनिश्री का मेरठ में प्रथम वर्षायोग था। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं वक्ता होने के समाचार चारों ओर फैल चुके थे। मेरठ में मुनिश्री का प्रवचन टाउन हॉल में होता था, उनके प्रभावशाली प्रवचनों की सारे शहर में बड़ी चर्चा थी। टाउन हॉल का प्रांगण खचा-खच भरा रहता था। महाराज-श्री बहुत अनुशासन-प्रिय व्यक्ति हैं। व्यवस्था करने में हमें प्रशिक्षण बहुत ही सतर्क रहना पड़ता था। उनकी सभा में बहुत शान्ति रहती थी जो प्राय: अन्य आमसभाओं में मुश्किल से ही दीखती है। जैन-जैनेतर जत्थमजत्थ उमड़ पड़ते थे।

एक दिन राजस्थान विधान-सभा के अध्यक्ष श्री निरंजननाथ आचार्य मुनिश्री की सभा में पधारे। टाउन हॉल का प्रांगण खचाखच भरा हुआ था। उनका प्रभावशाली भाषण हुआ; उन्होंने कहा—मैं महाराजश्री के सम्पर्क में जयपुर में आया था। उनकी विद्वत्ता, प्रभावशाली भाषणों एवं उत्कृष्ट चारित्र्य का मेरे जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा और मैं उनका शिष्य बन गया। महाराजश्री जयपुर से फीरोजाबाद, आगरा, दिल्ली आदि स्थानों की पदयात्रा करते-करते मेरठ पधारे हैं। जहाँ महाराजश्री जाते मैं भी वहीं पहुँच जाता हूँ। आज मैं उनके चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए स्वयं को बड़ा भाग्यशाली समझ रहा हूँ। महाराजश्री की वाणी में जादू है। उसमें मधुरता है। वे पक्के समन्वयवादी हैं।

श्री विशम्भरसहाय प्रेमी हमारे शहर के प्रसिद्ध साहित्यकार एवं पत्रकार रहे हैं। इसी वर्ष उनका देहान्त हो गया। वे कट्टर आर्यसमाजी एवं कांग्रेसी थे। शहर की बहुत-सी संस्थाओं से उनका सम्पर्क था। देश के बड़े-बड़े साहित्यकार एवं कवियों की उनके यहाँ भीड़ लगी रहती थी। वे भी महाराजश्री के व्यक्तित्व एवं विद्वत्ता से प्रभावित होकर उनके परम शिष्य बन गये थे। वे प्राय: प्रति दिन नये-नये साहित्यकारों एवं कवियों को महाराजश्री के दर्शनार्थ लाते थे। सभी साहित्यकार, पत्रकार एवं कवि महाराजश्री की वाणी सुनकर गद्‌गद् हो उठते थे। एक दिन प्रेमीजी महाराजश्री के पास बनारस विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति डा. मंगलदेव शास्त्री को लाये और वे काफी वृद्ध हैं; उच्चकोटि के विद्वान् हैं। वेदों एवं उपनिषदों के साथ-साथ उन्होंने जैनधर्म का भी काफी अध्ययन किया है। उन्होंने काफी समय तक महाराजश्री से चर्चा की। महाराजश्री ने भी वैदिक ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया है। जब उन्होंने श्रीमद्‌भागवत में तीर्थंकर ऋषभदेव और श्रमण-संस्कृति की चर्चा की तो डॉ. साहब महाराजश्री से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने जैनधर्म पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने की अभिलाषा व्यक्त की और महाराज के चरणों में नत-मस्तक हो अपनी आदरांजलि अर्पित की। इसके बाद वे जब कभी भी मेरठ आये, तब महाराजश्री के दर्शनार्थ अवश्य पधारे। इस प्रकार मैंने देखा कि स्वर्गीय श्री विश्वम्भरसहाय प्रेमी

की निष्ठा महाराजश्री के प्रति अटूट रही। वे महाराजश्री के प्रवचनों को प्रतिदिन अपने पत्रों में छापते थे। उन्होंने माहाराजश्री के विषय में कितने ही लेख लिखे और महाराजश्री के द्वारा लिखी कितनी ही पुस्तकों का उन्होंने संपादन किया। जब महाराजश्री बदरीनाथ की यात्रा के लिए हिमालय की ओर चले, तब इस यात्रा में उनका काफी योगदान रहा। वे आजन्म महाराजश्री के पूर्ण भक्त और उनके प्रति पूर्ण निष्ठावान रहे।

श्री कालीचरण पौराणिक कट्टर कर्मकांडी ब्राह्मण हैं। वे मेरठ सनातन धर्म सभा के अध्यक्ष हैं और शहर में सभी उनका बड़ा सम्मान करते हैं वे महाराजश्री के वर्षायोग में उनके सम्पर्क में आये वे प्राय: प्रतिदिन प्रवचनों में आते थे। महाराजश्री के द्वारा भगवान् राम पर प्रभावशाली भाषण सुनकर वे गद्गद् हो गये। पौराणिकजी ने महाराजश्री विद्वत्ता एवं चारित्र्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की और एक दिन अपने भाषण में स्पष्ट कहा कि मैंने अपने समस्त जीवन में मुनिश्री विद्यानन्दजी से बढ़कर कोई ऋषि या मुनि नहीं देखा। जितने दिन माहाराजश्री मेरठ में रहे पौराणिकजी प्राय: प्रतिदिन उनके प्रवचनों में आते रहे। वे महाराजश्री से धार्मिक चर्चाएँ और शंकाओं का समाधान करते रहे। महाराजश्री का प्रभाव उन पर इतना पड़ा कि उनकी विदाई पर भाषण करते-करते उनका हृदय भर आया और तीन मील पैदल चलकर महाराजश्री को शहर की सीमा तक छोड़ने आये।

मेरठ में रहते हुए महाराजश्री ने अनेक जैन-अजैन विद्वान् जो भी उनके सम्पर्क में आये उन्हें अपनी विदग्ध वाणी द्वारा प्रभावित किया; जो अजैन लोग दिगम्बर मुनि को देखकर मुख फेर लिया करते थे वे आज दिगम्बर मुनि को श्रद्धा से नत-मस्तक अपनी श्रादरांजलि अर्पित करते हैं।

१९७३ के वर्षायोग में एक दिन महाराजश्री भैसाली ग्राउण्ड से प्रवचन करके शहर की धर्मशाला लौट रहे थे तो रास्ते में एक भीमकाय पुरुष उनके चरणों में आ

गिरा। महाराजश्री के रुके और उन्होंने अपनी मन्द-मन्द मुस्कान से उनकी ओर देखा। वह बोला आपने मुझ पर बड़ा भारी उपकार किया है। मैं जाति का ब्राह्मण हूँ। जब आप पहली बार मेरठ आये थे, एक दिन मैं आपका प्रवचन सुनने गया। आपके प्रवचन का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा। मैं प्रतिदिन शराब पीता था। किन्तु मैंने उसी दिन से शराब न पीने का संकल्प कर लिया, जिसे मैं आज तक निभा रहा हूँ। महाराजश्री ने करुणापूर्ण दृष्टि से उसे निहारा और अपनी कोमल पिच्छी आशीर्वाद के रूप में उसके झुके हुए मस्तक पर रख दी। वह भी श्रद्धा से बार-बार महाराजश्री के चरणों में और झुक गया। ऐसा है महाराजश्री का प्रभाव !

मुनिश्री के मुख पर प्रति समय खेलने वाली मन्द-मन्द मुस्कान एवं उनकी मधुर वाणी का नयी पीढ़ी पर बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ता है। उन्होंने शिक्षित युवक एवं युवतियों को अपनी ओर आकर्षित किया, उनके बिना किसी पूर्वाग्रह के आहार ग्रहण किया और उनकी भावनाओं को परिष्कृत कर उनका आदर किया।

इस प्रकार हम देखते थे कि महाराजश्री के पास नवयुवकों की भीड़ सदैव लगी रहती थी। उन नवयुवकों ने धर्म और चरित्र का मूल्य समझा। महाराजश्री ने उनके जीवन को एक नया मोड़ दिया। बुरी संगत में पड़कर जो कुसंस्कार उनमें घर कर गये थे उनसे छुटकारा दिलाने का प्रयास किया और जिसमें उन्हें कल्पनातीत सफलता प्राप्त हुई। आज के दूषित वातावरण में पल रही इस नयी पीढ़ी को जो प्रायः धर्म से पराङ्मुख हो रही है। मुनिश्री ने चरित्र-निर्माण की प्रेरणा दी। महाराजश्री ने अनुभव किया था कि आज नयी पीढ़ी में सिनेमा के भड़कीले संगीत की ओर रुचि बढ़ रही है। उन्होंने इस रुचि को नया मोड़ दिया और प्राचीन जैन कवियों के सुन्दर भजनों एवं गीतों का संकलन करवाया। एक "श्रमण जैन भजन-प्रचारक संघ" नामक संस्था का निर्माण कर उन प्राचीन कवियों के सुन्दर सार्थक पदों के रिकार्ड तैयार कराये तथा इस ओर नयी पीढ़ी की रुचि पैदा की। उनकी प्रेरणा से ही घर-घर में आज धार्मिक संगीत सुनायी देने लगा है। आज जैनधर्म के रिकार्ड भारत के
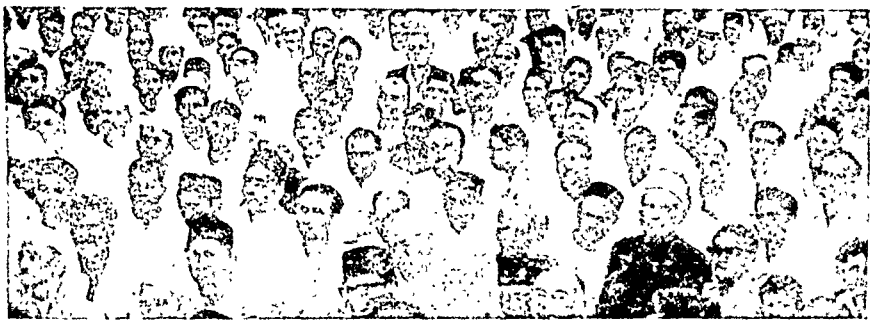
प्राय: सभी आकाशवाणी-केन्द्रों से प्रसारित होते हैं। उन्होंने धार्मिक एवं चरित्र-निर्माण करने वाले साहित्य को सरल भाषा में लिखाकर नयी पीढ़ी के हाथों तक पहुँचाया। इस प्रकार उन्होंने युवा पीढ़ी के चरित्र-निर्माण में बहुत योगदान किया। महाराजश्री की प्रेरणा से युवा पीढ़ी आज धर्म के मूल्य और उसकी महत्ता को समझने लगी। अब वह उसे एक निरर्थक वस्तु न समझ, जीवन का एक अनिवार्य अंग समझती है। महाराजश्री का समाज के प्रति किया गया यह महान् उपकार कभी भी बुलाया नहीं जा सकता। इस संदर्भ में समाज सदैव उनका ऋणी रहेगा।

महाराजश्री के इस १९७३ के वर्षायोग में मेरठ में कड़ी सर्दी पड़ रही थी। महाराजश्री ने 'जैनमिलन' नामक संस्था द्वारा २५० कम्बल गरीबों में वितरण करने की प्रेरणा दी। एक समारोह में मेरठ के जिलाधीश ने उन कम्बलों को गरीबों एवं अनाथालय के बच्चों में वितरित किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाराजश्री का हृदय सदा ही करुणा से ओत-प्रोत रहता है। कितने ही साधनहीन युवकों को उन्होंने समाज द्वारा सहायता दिलायी है।

महाराजश्री के पास सदा ही जैन-जैनेतर विद्वानों का जमघट लगा रहता था। उनसे धार्मिक एवं साहित्य की चर्चाएँ बराबर चलती रहती थीं। कुछ प्रमुख विद्वान् थे स्वर्गीय डा. नेमिचन्द्र आरा, पं. दरबारीलाल कोठिया बनारस, डा. ए. एन. उपाध्ये कोल्हापुर, डा. पन्नालाल साहित्याचार्य सागर, पं. सुमेरचन्द्र दिवाकर सिवनी, डा. देवेन्द्रकुमार नीमच, डा. नेमीचन्द जैन इन्दौर, श्री निरंजननाथ आचार्य जयपुर, डा. सिंह भूतपूर्व उपकुलपति मेरठ विश्वविद्यालय, डा. कपूर (वर्तमान) उपकुलपति मेरठ विश्वविद्यालय; श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली; श्री अक्षयकुमार जैन (सम्पादक 'दै.नवभारत टाइम्स') दिल्ली; प्रसिद्ध उपान्यासकार श्री जैनेन्द्रकुमार दिल्ली, श्री यशपाल जैन (संपादक 'जीवन-साहित्य') दिल्ली।

इसके अतिरिक्त उन्होंने कितने ही जैन-अजैन विद्वानों को भगवान् महावीर पच्चीस सौ २५०० वें परिनिर्वाण-महोत्सव के संदर्भ में जैन साहित्य एवं तीर्थंकर महावीर के जीवन-चरित्र को विभिन्न भाषाओं में लिखने के लिए प्रेरित किया, इनमें प्रमुख हैं डा. हरीन्द्रनाथ भूषण (विक्रम विश्वविद्यालय) उज्जैन, डा. रामप्रकाश अग्रवाल (मेरठ कालेज) मेरठ, श्री रघुवीरशरण 'मित्र' मेरठ; आचार्य वृहस्पति (आल इंडिया रेडियो) दिल्ली; श्री जी. आर. पाटिल महाराष्ट्र, डा. सांगवे कोल्हापुर, डा. नेमीचन्द जैन इन्दौर, डा. निजाम उद्दीन (इस्लामिया कालेज,) श्रीनगर-कश्मीर; डा. जयकिशन-प्रसाद खण्डेलवाला आगरा, डा. सागरचन्द जैन बड़ौत।

महाराजश्री की प्रेरणा से मेरठ में 'वीर निर्वाण भारती' नामक संस्था की स्थापना हुई, जिसके द्वारा उपरोक्त विद्वानों द्वारा लिखित कुछ पुस्तकों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है।

महाराजश्री की प्रेरणा से इस संस्था ने देश के चार जैन-अजैन विद्वानों को च्चीस सौ रुपये की नकद धनराशि एवं एक स्वर्णपदक प्रदान किया। इन्हें हास-रत्न विद्यावारिधि-जैसी उपाधियों से अलंकृत भी किया गया। उसमें प्रथम पुरस्कार पटना विश्वविद्यालय के डा. योगेन्द्र मिश्र को उनकी पुस्तक 'एन अर्ली हिस्ट्री आफ वैशाली' पर; दूसरा प्रसिद्ध इतिहासकार डा. ज्योतिप्रसाद जैन लखनऊ, तीसरा डा. पी. सी. राय चौधरी पटना को उनकी पुस्तक 'जैनिज्म इन विहार' पर तथा चौथा पंडित वालचन्द जैन को 'धवल जयधवल' आदि महान् ग्रन्थों की टीका करने के उपलक्ष्य में प्रदान किया गया। यह प्रथम अवसर है कि जैन समाज द्वारा विद्वानों को इस प्रकार पुरस्कृत किया गया है। यह महान् कार्य महाराजश्री के प्रेरणा का ही प्रतिफल है। महाराजश्री ने भगवान् महावीर के २५०० वें परिनिर्वाण-महोत्सव के उपलक्ष्य में लगभग पचास जैन-अजैन विद्वानों को पुरस्कृत कराने की योजना वनायी है।

देश के विभिन्न प्रदेशों के प्रसिद्ध उद्योगपति एवं समाज के प्रतिष्ठा-पुरुष भी महाराजश्री के दर्शनार्थ आते रहते थे। जिसमें अधिकतम भगवान् महावीर के पच्चीस सौ वें परिनिर्वाण-महोत्सव पर महाराजश्री से परामर्श करने व आदेश प्राप्त करने आते थे। इनमें प्रमुख थे प्रसिद्ध उद्योगपति श्री साहू शान्तिप्रसाद देहली. सेठ राजकुमार-सिंह इन्दौर, सेठ हीरालाल इन्दौर, सर सेठ भागचन्द सोनी अजमेर, सेठ लालचन्द (फिएट कार के निर्माता) वम्वई, साहू श्रेयांसप्रसाद वम्वई, श्री कन्हैयालाल सरावगी पटना व भूतपूर्व विधायक श्री वावूलाल पाटौदी इन्दौर आदि।

महाराजश्री के दर्शनार्थ कभी-कभी कई प्रदेशों के मुख्यमंत्री एवं संसद्-सदस्य एवं विधायक भी पधारते रहते थे। उनमें प्रमुख थे श्री प्रकाशचन्द्र सेठी (मुख्यमंत्री मध्यप्रदेश); चौधरी श्री चरणसिंह (भूतपूर्व मुख्यमंत्री उत्तरप्रदेश); श्री चन्द्रभान गुप्त (भूतपूर्व मुख्यमंत्री उत्तरप्रदेश); श्री मिश्रीलाल गंगवाल (भूतपूर्व मुख्यमंत्री मध्यप्रदेश); श्री निरंजननाथ आचार्य (भूतपूर्व स्पीकर राजस्थान); श्री रामचन्द्र 'विकल' संसद्-सदस्य आदि। □ □

दिगम्वर मुनि की आहार-चर्या मुद्रा जिसे मुनिश्री विद्यानन्दजी ने अपने इन्दौर-वर्षायोग के समय किसी विचार-विमर्श के संदर्भ में स्वयं चित्रित किया था।
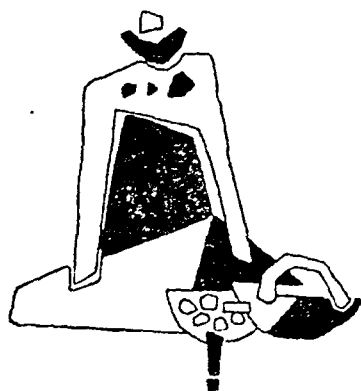
क्या इन्दौर इसे बर्दाश्त करेगा ?

'मैं तो चौराहे-चौराहे श्रमण-संस्कृति का संदेश लोकहृदय तक पहुँचाने में संलग्न हूँ; क्या इन्दौर इसे बर्दाश्त कर सकेगा ?'
—बाबूलाल पाटोदी

आज से पचास वर्ष पूर्व दक्षिण भारत के शेडवाल ग्राम में माता सरस्वती उपाध्ये की भाग्यवान कोख से सुरेन्द्र का जन्म हुआ। भारत के नक्शे पर शेडवाल भले ही एक छोटा-सा देहात हो किन्तु इसने श्रमण-संस्कृति के कई धुरंधरों को जन्म देने का सौभाग्य अर्जित किया है। शेडवाल की माटी जानती थी सुरेन्द्र आगे चलकर एक सार्वभौम विभूति बनेंगे और दिगदिगन्त तक उसकी सुवास फैलायेंगे। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात" की कहावत चरितार्थ हुई और दृढ़-निश्चयी संकल्प-पुरुष सुरेन्द्र सांसारिक प्रपंचों को तिलांजलि देकर बचपन से ही इष्टदेव की आराधना में लग गये। जब आचार्यश्री महावीरकीर्तिजी आये तो युवा सुरेन्द्र ने उनसे क्षुल्लक की दीक्षा ग्रहण कर ली और आध्यात्मिक साधना की अगली सीढ़ी के लिए पूरे बल से तैयारी करने लगे। सारी माया-ममता को छोड़ वे क्षुल्लक-जीवन की कठोर साधना करते हुए बम्बई, कलकत्ता और जयपुर के प्रमुख ग्रन्थागारों की खोज-यात्रा पर निकल पड़े। क्षुल्लकत्व और मुनित्व के मध्यवर्ती जीवन में उन्होंने लगभग आधा लाख ग्रन्थों का अध्ययन-मनन किया और निर्ग्रन्थता की ओर बड़ी निष्ठा से आगे बढ़ आये। सन् १९६३ में वे दिल्ली आये और वहाँ आचार्यरत्न मुनिश्री देशभूषणजी से उन्होंने मुनि-दीक्षा ग्रहण की।

मुनि-दीक्षा के बाद उनकी ज्ञान-पिपासा और बढ़ गयी और वे राजस्थान की राजधानी जयपुर आ गये। यहाँ उन्होंने अपना पहला वर्षायोग संपन्न किया। पंडित-

मैं किसी बन्धन में नहीं बंधता ।   मालवा का आग्रह वे टाल नहीं सके ।

प्रवर स्व. चैनसुखदासजी से यहीं उनकी भेंट हुई। लगा जैसे दो ज्वालामुखी एक साथ मिले हों। पंडितजी की प्रार्थना पर मुनिश्री ने निश्चय किया कि धर्म को मंदिरों की चहरदीवारी से बाहर लाया जाए और उसे जन-जन तक पहुँचाया जाए। इसी तारतम्य में उन्होंने सामाजिक दुराग्रहों और मतभेदों को चुनौती दी और कुछ लोक-मंगलकारी कदम उठाये। इस तरह धर्म को सामाजिक प्रबुद्धता की दिशा में मोड़कर एक नयी ही सामाजिक चेतना को जगाया और महावीर की जनवादी परम्परा को पुनः लोकमन से जोड़ा।

जयपुर से उनकी धवलकीर्ति आगे बढ़ी। मेरे हृदय में उनके प्रति अपार श्रद्धा तब उमगी जब मैंने सुना कि इस दिगम्बर महामुनि ने मुलतान पाकिस्तान से राजस्थान आये हुए जैन भाइयों को उनके बीच पहुंचकर दूध में शक्कर की भाँति एक मेक कर लिया। बात यह थी कि पाकिस्तान से आये जैन भाइयों को लेकर जयपुर समाज में एक विवाद खड़ा हुआ जिसने आगत भाइयों को इस दुविधा में डाल दिया कि या तो वे

धर्म वदलें या फिर समाज उन्हें आत्मसात् करे। मामला मुनिश्री तक पहुँचा। उन्होंने दूसरे ही दिन अपार जन-मेदिनी के वीच घोपणा की कि वे मुलतान से आये भाइयों की कालोनी में विहार करेंगे और जव तक जयपुर-समाज उन्हें मिला नहीं लेगी वे वहीं रहेंगे। मुनिश्री वहां गये, जिनालय वना और अन्ततः मुलतानी जनों को मिलाया गया। यह था एक प्रखर सूर्योदय जिसे राजस्थान ने देखा।

जयपुर-वर्षायोग के वाद मुनिश्री विद्यानन्दजी श्रमण-संस्कृति की सार्वभौम अन्तरात्मा का शंखनाद करते हुए भगवान् ऋपभदेव की साधना-भूमि हिमालय की ओर वढ़े। श्री वद्रीनारायणजी की यात्रा करते हुए उन्होंने श्रमण और वैदिक संस्कृतियों के वीच कई आध्यात्मिक अनुवन्ध किये और चारों ओर समन्वय और सौहार्द की निर्मल धारा प्रवाहित की। कैलाशवासी श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार के स्नेहाग्रह पर मुनिश्री ऋपिकेश एवं हरिद्वार गये और वहाँ अपनी अनैकान्तिनी वाणी से जनता-जनार्दन को उपकृत किया।

श्री वद्रीनारायण तीर्थ के प्रवेश-द्वार में भगवान् पार्श्वनाथ का एक अत्यन्त प्राचीन जिनालय है। अलकनन्दा के मनोज्ञ तट पर स्थित यह मन्दिर वर्पा के थपेड़े खाकर विलकुल जीर्ण-शीर्ण हो गया था। समाज के आपसी मतभेद के कारण मन्दिर की हालत इतनी दयनीय थी कि वह जलाऊ लकड़ी की टाल के रूप में परिवर्तित हो गया था। मुनिश्री ने श्रीनगर-समाज के नेताओं को एकत्रित किया; किन्तु घोर निराशा हुई। मुनिश्री मौन रहे किन्तु उन्होंने श्रीनगर में वर्पायोग का निश्चय कर लिया। उन्होंने अपने इस दृढ़ संकल्प के साथ पास के ही मठ में अपना पड़ाव डाल दिया और जैन-जैनेतरों की एक सभा वुलायी। सव ने उत्साहपूर्वक सहयोग का हाथ वढ़ाया और कुछ ही दिनों में जलाऊ-लकड़ी की टाल एक सुन्दर जिनालय में परिवर्तित हो गयी। जिनालय के इर्द-गिर्द एक उद्यान वनाया गया, जहाँ सुयोग से जिनाभिपेक के लिए एक जलस्रोत भी निकल आया। फिर एक धर्मशाला वनी और आपसी वैर समाप्त हो गया। देश-भर के लोग श्रीनगर पहुँचे और हिमालय एक आध्यात्मिक तीरथ वन गया।

इधर मालवा में भी मुनिश्री की शुभ्र कीर्ति जन-जन में फैली। इन्दौर से हम लोग श्रीनगर पहुँचे। इस अद्वितीय तपस्वी के दर्शन से कृतकृत्य हुए और प्रार्थना की कि "मुनिश्री, आप मालव भूमि को अपने मंगल विहार से उपकृत कर।" मुनिश्री ने आश्वस्त किया कि वे प्रयत्न करेंगे किन्तु साथ ही यह भी कहा "मैं किसी वन्धन में नहीं वंधता। निग्रन्थ हूँ, वीतराग-पथ का पथिक। मुझे तो भारत के चप्पे-चप्पे में श्रमण-संस्कृति की प्रतिध्वनियां सुनायी देती हैं। अव हम इसे किसी कैद में नहीं रख

सकते। यह सार्वभौम संस्कृति है। मैं चौराहे-चौराहे इसका संदेश पहुँचाऊँगा। क्या इन्दौर मेरे इस संकल्प को बर्दाश्त कर सकेगा ?" मैं सच कहता हूँ, उस समय मेरा वक्षस् गर्व से तन गया और मस्तक गौरव से ऊँचा उठ गया। मुझ में उत्साह की एक अपूर्व लहर दौड़ गयी। लगा जैसे सदियों बाद अकलंक और समन्तभद्र की परम्परा जीवन्त हुई है और भारत का मंगल विहार कर रही है। मेरा संकल्प अविचल हो गया और मैंने मन ही मन निश्चय किया कि मुनिश्री को हर हालत में इन्दौर लाया जाएगा। मालवा के आग्रह को वे किसी तरह टाल नहीं पायेंगे।

हम लोग पुनः ज्वालापुर गये। मुनिश्री ने मालवा का नम्र निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। ज्वालापुर में जो अलख जगा था, उसे देख मैं अचम्भित रह गया। सतीश जैन सूट में नंगे पांव मुनिश्री के साथ दौड़-दौड़कर चल रहे थे। मैंने कल्पना भी नहीं की थी मुझ-जैसा व्यक्ति जो किसी मुनि को देखकर किनारा कस जाता था, आज आहार देने जा पहुँचेगा और कोई दिगम्बर मुनि मेरे हाथों आहार ग्रहण करेगा। सच, मैं उस दिन धन्य हो गया जब मुझ भाग्यशाली के हाथों से, इन्द्र की विभूति जिनका चरण-चुम्बन करती है, नतशिर रहती है आठों प्रहर जिनके सम्मुख उन्होंने आहार ग्रहण किया। मुनिश्री ने मालवा ने मालवा की ओर विहार किया। पूरे मार्ग मैं उनके साथ रहा। मुझे लगा-जैसे साक्षात् समवशरण संचरण कर रहा है। अपार जनमेदिनी सारे विद्वेष छोड़कर उनके प्रवचनों में उमड़ी पड़ती थी। भीषण गर्मी में भी संतवाणी सुनने के लिए वर्ग और संप्रदाय का भेद भूलकर प्रायः सभी लोग उनकी प्रवचन-सभाओं में पहुंचते थे। मैंने देखा उनकी वाणी में अपार तेज, अदृप्त करुणा, समन्वयमूलक अनेकान्त और स्याद्वाद थे और वे मानव-मंगल की अरुक यात्रा पर अविराम चल रहे थे।

जब वे इन्दौर पहुँचे तो सहस्रों-सहस्रों लोग उनकी मंगल अगवानी के लिए उमड़ पड़े। क्या आप विश्वास करेंगे कि एक या दो दिन नहीं वरन् संपूर्ण वर्षायोग में लगभग छह मास तक जत्थे-के-जत्थे लोग नियमित उनकी प्रवचन-सभाओं में सम्मिलित हुए और उनके रसास्वादन से कृतकृत्य हुए। भगवान् राम के जीवन पर हुआ मुनिश्री का प्रवचन इन्दौर नगर ही नहीं सारे देश के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने जैसी घटना है। वैष्णव विद्यालय के प्रांगण में हुई इस सभा में एक लाख से अधिक लोग पूरे तीन घंटे तक बैठे इस तरह मौन कि ओस की बूंद के गिरने की आवाज़ भी सुनी जा सके। अनुशासन में कठोर, मुमुक्षुओं के लिए विश्वकोश, और विद्वज्जनों के स्वाति-नक्षत्र पूज्य मुनिश्री के इक्यावनवें जन्मदिन पर उन्हें मेरे कोटि-कोटि प्रणाम !

☐☐

मुनिश्री विद्यानन्दजी की हस्ततल-रेखाओं का करसामुद्रिक विश्लेषण
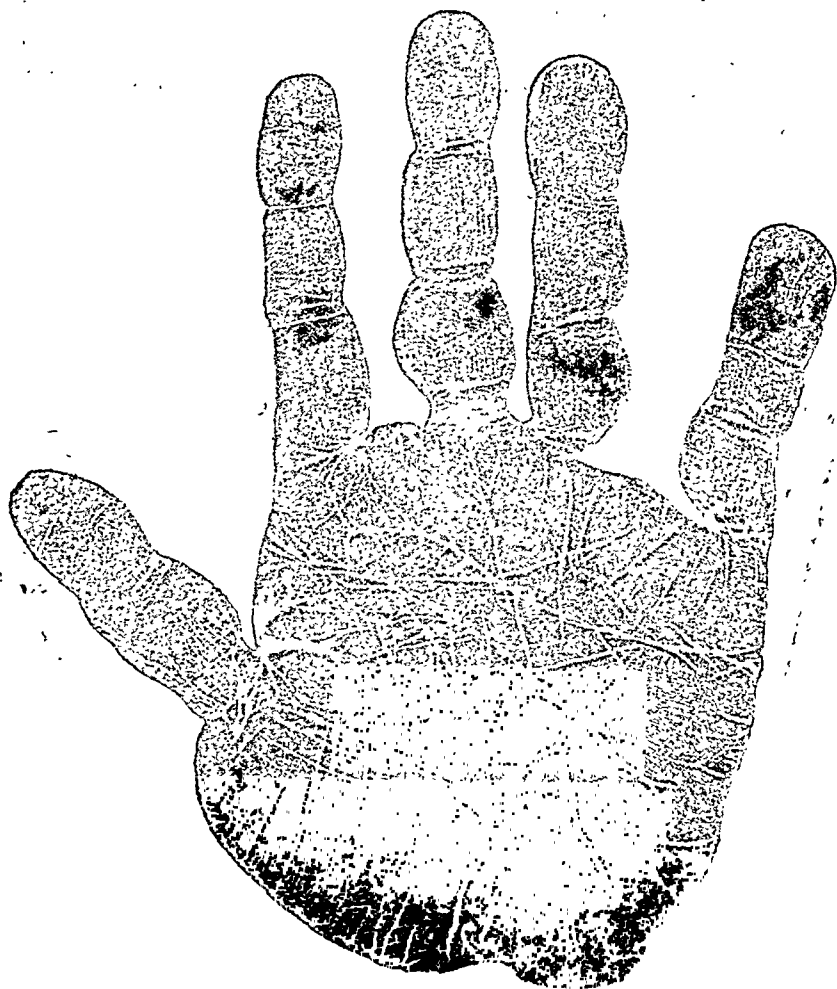
दिल्ली : ७ जुलाई १९६७

करसामुद्रिक समीक्षण के अनुसार मुनिश्री की जीवन-वितति १०१ वर्ष होगी। आपका स्वास्थ्य श्रेष्ठ रहेगा; शरीर में कहीं कोई विषम-असाध्य रुग्णता नहीं होगी।

आपका शुक्र उन्नत है, ठीक वैसा ही जैसा श्री जवाहरलाल नेहरू के हस्ततल में था, अतः आप अपनी वास्तविक वय के अनुपात में अधिक युवा और उल्लसित दिखायी देंगे। आपमें मानसिक और कायिक ऊर्जा अदम्य और अद्वितीय है, अतः आप सब तरह के उपसर्ग, दबाव और श्रान्तियों के प्रति अपरम्पार सहिष्णुता और धैर्य बनाये रख सकेंगे। आपके पदतल में 'पद्मरेखा' है, जिसका अर्थ है सर्वोच्च कोटि का राजयोग, विश्व-भ्रमण, अपार ख्याति और नाम। गुरु, बुध और शुक्र के कारण आपकी वाणी स्वर्णाभ और सम्मोहक रहेगी; इसीलिए अन्तहीन जनमेदिनी को सम्मोहित तथा मन्त्रमुग्ध रखने में आपको बेजोड़ सफलता प्राप्त होगी। प्रत्येक मास की भाग्यशाली तिथियाँ हैं : ७, १४, २३ और २५; प्रतिवर्ष के भाग्यशाली माह हैं : जनवरी, अप्रैल, मई, जून, जुलाई, सितम्बर और नवम्बर। सामुद्रिक तथ्यों के अनुसार आपको अन्तर्राष्ट्रीय कोटि की प्रसिद्धि प्राप्त होगी। ७ जुलाई १९६५ से १९७५ तक आपके जीवन में कई महत्वपूर्ण अध्याय खुलेंगे। जीवन के ३४, ३७ और ४१वें वर्ष अधिक महत्त्वपूर्ण साबित होंगे। २५वें और २७वें वर्ष भी महत्त्वपूर्ण और स्मरणीय थे; इन्हें इसलिए महत्त्व का कहा जाएगा क्योंकि क्रमिक परिवर्तन, अर्थात् आध्यात्मिक उपलब्धियों और अभिनिष्क्रमण की दृष्टि से इनका महत्त्व है। इन्हीं वर्षों में भवितव्य की भूमिका का निर्माण हुआ। आपके शत्रु और प्रतिद्वंद्वी सदैव परास्त और समर्पित होते रहे हैं, होते रहेंगे तथा लोकहृदय सदैव आपकी उपासना और सम्मान करता रहेगा। ४३, ४५, ४७ और ५२वें वर्ष आपके जीवन के अत्यन्त सौभाग्यशाली वर्ष सिद्ध होंगे। आप जैसे-जैसे जीवन के उत्तरार्द्ध का आरोहण शुरू करेंगे, ऊंचाइयाँ स्वतः प्रकट होती जाएंगी। मूंगा और पन्ना आपके मांगलिक नग हैं। सोमवार का उपवास आपके लिए आवश्यक है। केशरिया (ज़ाफ़रान) आपके लिए भाग्यशाली रंग है। आपकी हस्तपगांगुलियों में 'शंख' चिह्नित हैं, जो विश्व-विख्यात आध्यात्मिक जीवन की ख्याति के प्रबल राजयोग के प्रतीक हैं। बुध अत्यन्त उन्नत स्थिति में है।

—बाबू मेहरा, दिल्ली

हम बीतते हैं

समय नहीं बीतता, सिर्फ हम बीतते हैं; हम आते हैं, जाते हैं, होते हैं, नहीं हो जाते हैं। समय अपनी जगह है। समय नहीं बीतता है लेकिन लगता है कि समय बीत रहा है; इसलिए हमने घड़ियाँ बनायी हैं जो बताती हैं कि समय बीत रहा है। सौभाग्य होगा वह दिन जिस दिन हम घड़ियाँ बना लेंगे जो हमारी कलाइयों में बंधी हुई बता देंगी कि हम बीत रहे हैं।

—रजनीश

मुनिश्री विद्यानन्दजी की जन्म-पत्रिका
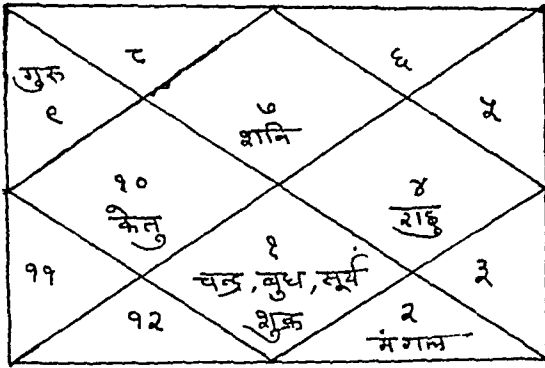
शुभ नाम—सुरेन्द्रकुमार उपाध्ये, पितृनाम—श्रीकाप्पा अण्णप्पा उपाध्ये, मातृनाम-श्रीमती सरस्वतीदेवी उपाध्ये, जन्मस्थान—शेडवाल (मिरज के पास, जिला-बेलगांव, राज्य-कर्नाटक); जन्म-समय : वैशाख कृष्ण १४, बुधवार, विक्रमाब्द १९८२ (दाक्षिणात्य चैत्र कृष्ण १४), जन्मकाले अमावस्या, ११।४० क्रांति घटीपलानि, ६।४५, सायंकाल; दिनांक २२ अप्रैल १९२५; शेडवालस्थानपरत्वेन सूर्योदय ५।४४ स्थानीय; ६।१३ भारतीय मानक समय; सूर्यास्त ६।१६ स्थानीय, ६।४५ भारतीय मानक समय; दिनप्रमाण ३१।२० घटी-पल, १२।३२ घंटा-मिनिट; चन्द्रस्पष्ट ०।२।२४ अश्विनी-प्रथमचरण मुक्तकाला १४४; नामाक्षर—'च'; गण—देवगण; इष्टकाल—३१।२० घटी-पल प्रातः सूर्यस्पष्ट ०।८।३३।१०; लग्न—६।९; दशम—३।८।१८

स्पष्टा ग्रहाः			
	सूर्य ०।१।२।२७;	बुध ०।२।५०;	शनि ६।१८।७
	चन्द्र ०।२।२४;	गुरु ८।१९।९;	राहु ३।१६।१७
	मंगल १।२६।६;	शुक्र ०।८।४०	

महादशायां वर्षमासदिनानि

महादशा	वर्ष	मास	दिन	दिनांक	
केतु	५	८	२६	२२-४-२५	१८-१-३१
शुक्र	२०	०	०	१८-१-३१	१८-१-५१
सूर्य	६	०	०	१८-१-५१	१८-१-५७
चन्द्र	१०	०	०	१८-१-५७	१८-१-६७
मंगल	७	०	०	१८-१-६७	१८-१-७४
राहु	१८	०	०	१८-१-७४	१८-१-९२
बृहस्पति	१६	०	०	१८-१-९२	१८-१-२००८

मुनिश्री विद्यानन्द : जैसा मैंने देखा-समझा

मेरा तो कभी-कभी ऐसा विश्वास हो जाता है कि आज २५०० वर्षो के बाद जो स्थिति (जनता की दृष्टि में) तीर्थंकर महावीर की है, वही स्थिति आज से २५०० वर्षों बाद मुनिश्री विद्यानन्द की भी हो सकती है।

☐ पद्मचन्द जैन शास्त्री

परम पुरुष विद्यानन्दजी के सर्वप्रथम दर्शन मुझे १९६३ में दिल्ली-वर्षावास में हुए। उन दिनों वे समन्तभद्र विद्यालय में विराजमान थे। मैंने देखा—मुनिश्री मध्यममार्गी हैं। और वे किसी भी विषय पर धारा-प्रवाह जन-मन-उद्बोधक वाणी बोलते हैं। वे जो बोलते हैं परिमार्जित और परिपक्व। जनसाधारण को भी उनके विचार हृदयंगम करते देर नहीं लगती। वे उभयत: शरीर और जाति-पंथ-संप्रदायगत भावनाओं की अपेक्षा से दिगम्बर हैं। वे अन्य बहुत से बाह्याचार-विपुल-साधु-त्यागियों से सर्वथा विपरीत उठे हुए हैं। उनके पास ज्ञानध्यान-क्रिया-शोधक उपकरणों के अतिरिक्त बाह्याडम्बर, परिग्रह, बस-मोटर, मणि-मूंगे आदि अपने नहीं। अपने संघ के व्यक्तियों को संचय-मुक्त रहने की दिशा में आदेश देते हुए मैंने उन्हें अनेक बार देखा है, उनसे आदेश भी पाया है। इसके अतिरिक्त वे आगन्तुक से प्रभावकारी, सौम्य व्यवहार रखते हैं। इस कारण भी अभ्यागत उन्हें चाहता है—उनकी ओर आकृष्ट होता है। मैं भी आकर्षित हुआ—मैंने भी उनके चरणों में हिमालय से मालवा तक सैकड़ों मीलों की पद-यात्रा की और अनेक अनुभव लिये—गरीबों के बीच और अमीरों के बीच भी।

मुनिश्री विद्यानन्द का जीवन, उनके द्वारा प्रस्तुत धर्म की व्याख्या और जनता से उनका तादात्म्य तीनों इतने एकाकार हैं कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय में मन-वचन तथा काया किसी द्वार से किंचिन्मात्र भी अन्तर प्रतिभासित नहीं होता। जहाँ मुनिश्री का साकार जीवित शरीर समस्त जीवों से स्वाभाविक जन्म-जात समता रखता है, वहाँ उनके द्वारा प्रस्तुत धर्म की परिभाषा भी सर्वजीव समभाव से ओत-प्रोत रहती है और उनकी वाणी भी सदा विश्वैकरूप—विश्वधर्म का प्रतिपादन करती है। फलत: उनके सम्पर्क में समागत लाखों-लाखों जन उन्हें भेद-भाव-शून्य त्रियोग से निरखते, सुनते और समझते हैं। विभिन्न ज्ञाता विभिन्न समयों में उन्हें चाहे जिस रूप में देखें, जानें और मानें; पर नि:सन्देह वे मुनिश्री की उस प्रतिमा को आँखों से ओझल नहीं कर सकते, जो जन-जन की दृष्टि में अपना अस्तित्व जमाये और हृदयों में स्थान बनाये हुए है। मूर्त-रूप में मुनिश्री को हम जैन दर्शन के 'स्यात्पदलांछित अनेकान्तवाद' के पूर्ण-प्रतीक रूप में पाते हैं—वे ऐसे भी हैं और वैसे भी हैं;

अर्थात् 'जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी' का वे पूर्ण-समन्वय हैं। वे 'वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसमादपि 'रूप हैं, द्वैत-अद्वैत की समष्टि हैं और प्रकृति-पुरुष के तीरथधाम हैं। मुनिश्री विद्यानन्दजी ज्ञान–स्व की साधना और सरस्वती जिनवाणी की आराधना में युगपत् तत्पर हैं—उन्होंने दोनों को एकाकार कर लिया है। वे वीर-वाणी को देश में उसी प्रकार विखेर रहे हैं जिस प्रकार एक चतुर वागवान तैयार की हुई भूमि में वीज विखेर देता है और अल्पकाल वाद संसार को लहलहाते पुष्पों वाले सुरभित पौधे तैयार मिलते हैं, वे उनकी सुरभि से मुदित होते हैं। स्मरण रहे, मुनिश्री के विहार से पूर्व ही अग्रिम नगर में अग्रिम भूमि तैयार हो जाती है और मुनिश्री धर्म-वीज-वपन का कार्य करते अविरल गति से चलते चले जाते हैं।

यम से यम-विजय

सुना जाता है 'यम' जिसे पकड़ लेता है, छोड़ता नहीं। सव डरते हैं यम से। पर हिम्मत है मुनिश्री की जो यम को पकड़े हुए हैं। वे कहते हैं—तू औरों को नहीं छोड़ता तो हम तुझे नहीं छोड़ेंगे—'परित्राणाय जीवानाम्'। और यह सच है कि चाहे जो भी परिस्थिति क्यों न हो, मुनिराज यम (जीवन-पर्यन्त प्रतिज्ञा निभाने) को नहीं छोड़ते, छोड़ भी नहीं सकते। जैनाचार में जीवन-पर्यन्त के लिए धारण की हुई मर्यादा को 'यम' नाम दिया गया है। सच्चे मुनि यम पर सर्वथा विजय पाकर ही रहते हैं और आश्चर्य यह कि वे स्वयं कोई साधन नहीं वनते इस विजय में। यम को ही यम (राज) के अन्त का साधन वनाते हैं। मेरी दृष्टि में मुनिश्री ने हिमालय पर पदन्यास कर, यम-विजय के महान्यास का मार्ग खोल दिया।

न जाने लोगों को क्यों रुचि जागृत हुई है अव ? उप+न्यास करने की ! हमारे महापुरुषों ने तो जो किया सदा महत् ही किया। उनके कर्तव्य और पुराण सभी महान् थे। लघु, उप, निकट आदि जैसे न्यासों की कल्पना भी न थी उन्हें। भला, वे उप–निकट जाते भी तो किसके ? जवकि उनके ध्यान, ध्याता, ध्येय सभी एक थे। महान् कार्य में लघु का तो प्रश्न ही न था उन्हें।

हमें गौरव है कि हमारे मुनिश्री का उत्साह आत्मानुरूप रहा और उन्होंने हिमालय पर चरणों का 'उप' नहीं, अपितु 'महा' न्यास किया। मैं समझता हूँ—संभवतः मुनिश्री को अपने मूल-देशनाम से भी कुछ प्रेरणा मिली हो इस महान्यास में। वे कर्नाटक के रहे हैं। और कर्नाटक का सीधा, सरल, ग्रामीण अर्थ है— कर+न+अटक अर्थात् कर, अटक मत— अविरल गति से करते चल। फलतः मुनिश्री वढ़े और वढ़ते रहे द्वार से द्वार तक। ठीक ही है, प्राचीन युग के साधु-सन्त भी द्वार-द्वार अलख लगाते फिरे हैं।

द्वार से द्वार (कोटद्वार-श्रीनगर-हरद्वार)

मुनिश्री ने हिमालय पर आरोहण किया—प्रारम्भिक स्थान कोटद्वार था और अन्तिम हरद्वार। आदि-अन्त दोनों द्वार, साथ ही मध्यद्वार भी। न जाने मुनिश्री को इस यात्रा में कितने द्वार मिले? दीनद्वार, दुखीद्वार, श्रावकद्वार, श्राविकाद्वार आदि; इनके अतिरिक्त और भी अनेकों द्वार थे—अमुक नदीद्वार, अमुक झरनाद्वार, अमुक नगरद्वार, अमुक उपत्यकाद्वार आदि। मुनिश्री वढ़े, साथी वढ़े, जल्दी वढ़े, धीरे वढ़े। वढ़े, वढ़े और वढ़े! मुनिश्री ने हिमालय में १९७ दिन व्यतीत किये। इस यात्रा में वे तिब्वत की सीमा माणागाँव और नीलगिरि के सान्निध्य तक पहुँचे। वद्रीविशाल आदि मूलस्थिति, डिमरी जाति का प्राचीनतम (दिगम्वरत्व) इतिहास आदि अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों के उद्घाटन इस यात्रा में हुए। यात्रा के वहाने आदि तीर्थंकर के विहार-तपस्थल आदि पर भी जन-जागरण हुआ। सर्वधर्माराधकों में दिगम्वरत्व की प्रतिष्ठा होना इस युग की नयी वात है।

कुछ लोगों का स्वभाव होता है—वे अवसर मिलते ही, दवे मुँह ही सही, गुणवानों में दोष निरीक्षक दृष्टि रखते हैं। फलत: एक वार एक महामान्य मुझसे वोल उठे—'विद्यानंदजी तो राजनीति में पड़ गए और वे मुक्ति के स्थान पर यश की उपासना भी करने लगे।' मैं कहाँ चुप रहने वाला था। झट वोल उठा—'इस युग में दक्षिण ने उत्तर को अनेक विभूतियाँ दी हैं। पू. आ. शान्तिसागरजी भी उन्हीं में थे। आ. श्री देशभूषणजी के शिष्य मुनिश्री विद्यानन्द भी उन्हीं विभूतियों में हैं। इन्होंने सुदूरदक्षिण-पथ से उत्तर-हिमालय के उत्तुंग शिखरों (वद्रीनाथ-माणागांव) तक जैन-धारा वहाने के लिए मंगल-विहार किया। भावी पीढ़ियाँ ऐसे मुनिराज की गाथाएँ युग-युगों तक गाएँगी।

मुनिश्री राजनीतिज्ञ तो हैं, राजनैतिक नहीं। वे राजनीति और राजनैतिकों के मंच से कोसों दूर रहते हैं। मुझे याद है, दिल्ली में गोरक्षा-आन्दोलन के प्रसंग में मुनिश्री ने अन्य संप्रदायी सन्त को स्पष्ट कहा था—'साधु-सन्त को आन्दोलनों से क्या प्रयोजन?' इसी प्रकार मुनिश्री के उज्जैन-प्रवास में उन्हें केन्द्रीय सरकार का पत्र मिला, तो मुनिश्री ने अपने उद्गार निम्नभावों में स्पष्ट किए—दिगम्वर साधुओं को समिति-सदस्यता से क्या प्रयोजन? वे तो ग्राम-ग्राम घूमकर तीर्थंकरों के सन्देश पहुँचाते ही रहे हैं, जो धर्म-सेवा होती रहेगी, स्वयं करते रहेंगे और करते भी हैं।

मुनिश्री किसी का लिहाज किए विना ही, न्याय-नीति और धर्मसम्मत वात कह देते हैं। ऐसा सर्वसाधारण के लिए करना वड़ा कठिन है. उसे आगा-पीछा सोचना पड़ सकता है। मुझे स्मरण है-जव मुनिश्री ने दिल्ली से इन्दौर के लिए विहार किया, तव २५०० वीं निर्वाण-तिथि मनाने की चर्चा वहुचर्चित वन रही थी। लोग निर्वाण-तिथि समिति के अध्यक्ष के नामांकन के विषय में चर्चा उठा चुके थे। ऐसी चर्चाओं में राजनैतिक, धनी, विद्वान् प्राय: सभी प्रकार के लोग होते थे। जव मुनिश्री का ध्यान उधर गया तव उन्होंने भोगल-दिल्ली

(शेष पृष्ठ १२१ पर)

क्या करें

व्यक्ति, समाज, संस्थाएं, कार्यकर्ता, पत्र-पत्रिकाएं

३१ दिसम्बर १९७३ को मेरठ में एक पत्रकार ने मुनिश्री विद्यानन्दजी से कुछ प्रश्न किये थे, जिनके समाधान उपयोगी होने के कारण यहाँ दिये जा रहे हैं।

संत्रास, संदेह, तनाव, अविश्वास और भ्रष्टाचार के इस युग में व्यक्ति को क्या करना चाहिये ?

व्यक्ति एक महत्त्वपूर्ण इकाई है, उसे आत्मशुद्धि की अनवरत साधना करनी चाहिये। वह यदि परिशुद्ध होता है, तो समाज का ढांचा बदला जा सकता है, अन्यथा सब कुछ असंभव ही है। आज सामुदायिक क्रान्ति की बात सब करते हैं, आत्मक्रान्ति के लिए कोई नहीं कहता; किन्तु धर्म का अभियान व्यक्ति से ही आरंभ होता है। इसलिए मैं कहूँगा कि व्यक्ति को अपने जीवन में धर्मतत्व की गहरी साधना करनी चाहिये। धर्मविमुख होकर व्यक्ति कोई मंगलकारी भूमिका नहीं निभा सकता। व्यक्ति को सबसे पहला काम यह करना चाहिये कि वह अपने जीवन से कृत्रिमताओं को विदा कर दे और अपनी साहजिकता में आ जाए। सहज होने पर कोई समस्या नहीं होगी। स्वाभाविकता समस्या नहीं है, बनावटीपन समस्या है। इससे लोकजीवन में कथनी-करनी का अन्तर मिट जाएगा, तनाव कम होगा, संत्रास मिटेगा। और परस्पर विश्वास का संस्कार जमेगा। जब तक व्यक्ति में स्वाभाविकता के झरने नहीं खुलते लोकमंगल की संभावनाएं समृद्ध नहीं होंगी।

समाज को क्या करना चाहिये ? आज सामुदायिक जीवन बिलकुल फीका है, कहीं किसी में बर्बरता और हिंसा का सामना करने का साहस नहीं है ? इस संदर्भ में क्या करना होगा ?

क्या करना होगा, यह तो एक लम्बी प्रक्रिया है; किन्तु इतना अवश्य किया जाना चाहिये कि समाज नयी पीढ़ी के लिए उदार और युक्तियुक्त बने। उस पर कुछ भी थोपा न जाए, उसकी आकांक्षाओं की अवहेलना भी न की जाए और उससे ऊलजलूल अंधी अपेक्षाएँ भी न की जाएँ। उसके लिए धार्मिक आचार-विचार के साधन जुटाये जाएँ ताकि धर्म पर उसकी आस्था अडिग हो और आत्मा-परमात्मा के संबंध में वह स्वतन्त्र रूप में कुछ जान सके। बढ़ती हुई भौतिकता के समानान्तर यदि सहज आध्यात्मिकता को नयी पीढ़ी तक नहीं पहुँचाया गया तो वर्तमान स्थिति लगातार बिगड़ती जाएगी, उसमें सुधार की अपेक्षा हम नहीं कर सकते। इस दृष्टि से भौतिक और आध्यात्मिक ऊर्जा में संतुलन बनाये रखना समाज के हित में ही होगा।

इन दिनों आप नयी-नयी संस्थाओं को जन्म दे रहे हैं, किन्तु जो पुरानी संस्थाएं पहिले से कार्यरत हैं, उन्हें बदले हुए संदर्भों में क्या करना चाहिये ?

कोई भी संस्था ईंट-पत्थर, चूने-गारे से नहीं बनती । वह जड़ पदार्थों की सभा मात्र नहीं है अतः हमें चाहिये कि हम संस्था को साधन मानें और उत्तम कार्यकर्ता तैयार करने को साध्य । आज संस्थाएँ तो बनती हैं किन्तु कार्यकर्ता नहीं होते । मैं जिन संस्थाओं को प्रेरित करता हूँ, उनमें कार्यकर्ता पहले देखता हूँ । नयी-पुरानी सभी संस्थाओं को कार्यकर्ताओं पर ही अधिक ध्यान देना चाहिये । आज न तो विद्वान् पंडित ही हैं और न ही समाजसेवी व्यक्तित्व; जो हैं, वे भी जाने लगे हैं । अतः हमें अपने संपूर्ण साधन-स्रोतों के साथ इस कमी को पूरा करने में जुट जाना चाहिये । प्रशिक्षित और निष्ठावान कार्यकर्ता जब तक आगे नहीं आयेगा, संस्थाएं निष्प्राण रहेंगी; कागज पर बनी हुई तस्वीर-मात्र ।

आज हिंसा और परिग्रहमूलक व्यवस्था में जैन पत्र-पत्रिकाओं की क्या भूमिका होनी चाहिये ?

पत्र-पत्रिका फिर वह चाहे जैन हो या जैनेतर, उसे मनुष्य को केन्द्र मानकर चलना चाहिये; और उखड़ते हुए नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों के पुनःसंस्थापन में पूरे बल से सहायता करना चाहिये । उन्हें प्राचीन इतिहास की उज्ज्वलताओं को उजागर करना चाहिये और सत्प्रवृत्तियों को अनवरत प्रोत्साहित और पुरस्कृत । उनका सदाचार भ्रष्टाचार, हिंसा और सामुदायिक जीवन को पतन के रास्ते जाने से रोक सकता है । □□

जैसा मैंने देखा–(पृष्ठ ११९ का शेष)

की एक जन-सभा में यह घोषणा की कि तीर्थंकर महावीर की निर्वाण-तिथि प्रबन्धक समिति में उसीको अध्यक्ष बनाया जाय जो धर्माचरण के अनुकूल हो और शराब न पीता हो, कुव्यसन-सेवी न हो । मैं नहीं जानता कि तब लोगों ने क्या अनुभव किया–कैसा अनुभव किया या तद्नुसार आचरण के लिए क्या प्रयत्न किया ? और अब कैसा प्रोग्राम होना है ? यहां तो मेरा तात्पर्य केवल मुनिश्री की निर्भीक वक्तृता से है कि वे कितने स्पष्ट वक्ता हैं। 'कह दिया सौ बार उनसे, जो हमारे दिल में है।'

उक्त तथ्यों के आधार पर यदि हम निष्कर्ष निकालना चाहें, तो यों कह सकते हैं कि पूज्य मुनिवर हर क्षेत्र में अनमोल हैं । वे सर्वगुणसंपन्न हैं । उन्हें ज्ञान है, विशेष ज्ञान–विज्ञान है और भेद-विज्ञान भी है । मेरा तो कभी-कभी ऐसा भी विश्वास हो जाता है कि आज २५०० वर्षों के बाद जो स्थिति (जनता की दृष्टि में) तीर्थंकर महावीर की है, वही स्थिति आज से २५०० वर्षों बाद मुनिश्री विद्यानन्द की भी हो सकती है । तीर्थंकर को ज्ञान-विज्ञान के साथ भेद-ज्ञान की चरमोपलब्धि प्राप्त थी और ये भी भेद-विज्ञान की आत्म-परक चरमोपलब्धि करते ही उस स्थिति को पाने में समर्थ हो सकते हैं–जन-जन से दूर, शान्त एकान्त में विराजते हैं, वैसी सामर्थ्य रखते हैं । मैंने मुनिश्री की हिमालय-उपलब्धि में ये ही भाव-एकान्तवास के उद्गार अनेक बार मुनिश्री के श्रीमुख से श्रवण किये ।

□ □

शास्त्र पढ़कर ही यदि कोई सत्य को जान ले तो सत्य बड़ी सस्ती बात हो जाएगी; फिर तो शास्त्र की जितनी कीमत है उतनी ही कीमत सत्य की भी हो जाएगी। शास्त्र पढ़कर सत्य जाना नहीं जा सकता है, सिर्फ पहिचाना जा सकता है।

—रजनीश

पुरविया क्षितिज पर जो उदित हुआ
आज तक नहीं डूबा

तीर्थंकर
वर्धमान महावीर

जन्म : कुण्डग्राम

पिता : सिद्धार्थ

माता : त्रिशला

कुल : नाथ

जाति : लिच्छवि

वंश : इक्ष्वाकु

गोत्र : काश्यप

पंच कल्याणक

गर्भ : आषाढ़ शुक्ला ६
शुक्रवार, १७ जून ५९९ ई. पू.

जन्म : चैत्र शुक्ला १३;
सोमवार, २७ मार्च ५९८ ई. पू.

दीक्षा : मगसिर कृष्ण १०
सोमवार, २९ दिसम्बर ५६९ ई.पू.

कैवल्य : वैशाख शुक्ला १०
रविवार, २६ अप्रैल ५५७ ई.पू.

देशना : श्रावण कृष्णा १,
शनिवार, १ जुलाई ५५७ ई.पू.

निर्वाण : कार्तिक कृष्ण ३०, मंगलवार
१५ अक्टूबर, ५२७ ई. पू.

☐ नईम

१

आये तुम.........
धरती के चेहरे पर पीड़ा के साये
.....तुम आये
रीत रहे तालों-सा अंदेशा,
लाये तुम प्यासों को संदेशा,
घर-वाहर, मेघदूत वनकर घहराये

सूखीं जो छाती थीं माओं की,
काठी खट गयीं थीं पिताओं की,
मृगतृष्णा के पठार तोड़ छितराये

ठीक सामने से हर वार सहा,
विना जिये अक्षर भी नहीं कहा,
मानव की क्या विसात देवता लजाये.
आये..........तुम आये.

२

आज अपने सामने—
जो कर गया हमको खड़ा,

कुछ अधिक था आदमी से, मूर्तिमय विश्वास था,
आँख वालों के लिए वह समूचा मधुमास था
भीतरी औ' वाहरी
दो मोर्चों पर वह लड़ा

सभ्यता को भेड़ियों की माँद से खींचा, निकाला,
ये नहीं देंगे गवाही, वो नहीं देंगे हवाला ?
वोझ कंधों पर लिए–
सीधी चढ़ाई वह चढ़ा

हम अनाभारी नहीं है किन्तु यह साक्षातSSर
हर मुखौटे को हमारे कर रहा है तार……तार……
पारदर्शी आइना था
आदमी से भी वड़ा
आज अपने सामने जो
कर गया हमको खड़ा.

३

सूरज वह………
पुरविया क्षितिज पर जो उदित हुआ
आज तक नहीं डूवा
देखे आकाश और, सूरज भी देखे हैं,
लेकिन उसके आगे इनके क्या लेखे हैं ?
लोक-वेद ने गाया, मन आखिर मन ही है–
आज तक नहीं ऊवा

ताप और शीतलता साथ-साथ लिये हुए,
दुखियारे दीनों के हाथों में हाथ लिये,
मरुथल में कंटीली खजूर नहीं—
हरी-भरी-सी दूवा

एक चुनौती-सा वह काल के लिए अव तक,
दुर्निवार यात्रा पर चला जा रहा अनथक,
पूछो मत साधू से जात-पाँत,
ग्राम, धाम, या सूवा.
पुरविया क्षितिज पर……
आज तक नहीं डूवा.

○ ○

महावीर : सामाजिक क्रान्ति के सूत्रधार

आत्मजीवन का परम सत्य ही लोकजीवन का परम सत्य है, यह स्वयंसिद्ध है और इसी में महावीर के मार्ग की सामाजिक महत्ता छिपी है।

☐ भानीराम 'अग्निमुख'

महावीर एक आत्म साधक थे, समाज-सुधारक नहीं। आत्म-साधना वैयक्तिक होती है, समाज के लिए उद्दिष्ट नहीं; लेकिन जिसे हम समाज कहते हैं वह व्यक्ति की सामूहिक इच्छा की ही परिणति-मात्र है। अगर व्यक्ति नहीं चाहता तो समाज नहीं होता। यदि आज व्यक्ति न चाहे तो उसके लिए समाज का अस्तित्व रहता ही नहीं। व्यक्तियों से मिलकर समाज वना है, अतः उसकी रचयिता और नियामक व्यक्ति-व्यक्ति के अन्तःकरण में निहित भावना-मात्र है। समाज में यदि पाप है तो वह व्यक्ति का अपना है, पुण्य है तो वह भी व्यक्ति का अपना है। समाज की नींव सहकार है। इसके अभाव में एक पल भी समाज का अस्तित्व नहीं रह सकता।

हम जव समाज की वात करते हैं तो अपने को उससे काटकर अलग कर लेते हैं। हर व्यक्ति यही करता है। अगर सारे ही व्यक्ति समाज से अलग हैं, उसके गुण-दोषों के लिए उत्तरदायी नहीं, तटस्थ आलोचक-मात्र हैं, तो फिर समाज किसका है? किसने निर्मित किया है? किसने कायम रखा है? हम इन प्रश्नों से भाग नहीं सकते, इनका उत्तर हर व्यक्ति को अपने में ईमानदारी से खोजना है, उनके अनुसार उचित कदम उठाना है। यदि समाज में विषमता है, शोषण और हिंसा है तो इसका वीज हमें अपने अंतःकरण के शून्य विवर में कहीं मिलेगा और वहीं से उसका उन्मूलन भी संभव है। समाज और उसकी व्यवस्था तो छाया-मात्र है व्यक्ति की, और व्यक्ति प्रतिविम्व मात्र है, अपने अन्तःकरण के रंग-रूपों का।

महावीर आत्म-साधना का मार्ग वताते हैं और यह व्यक्ति के लिए है लेकिन व्यक्ति के अनेक वाहरी आयाम हैं जो समाज, राष्ट्र और समग्र विश्व में रचे-पचे हैं। व्यक्ति का रूपान्तरण हो गया तो सारी मानवता का हो गया, अन्तःव्यक्ति-क्रान्ति हो गयी तो विश्व-क्रान्ति भी स्वतः हो गयी। वह नहीं हुई तो कुछ भी नहीं हुआ। पैगम्वर मुहम्मद के शव्द इस संदर्भ में एक जीवन्त सत्य का उद्घाटन करते हैं: "एक आदमी का विनाश हो गया तो समझ लो, सारी मानव-जाति का

विनाश हो गया और एक व्यक्ति का कल्याण हो गया तो समझ लो, सारी मानवता का कल्याण हो गया।" व्यक्ति एक ही होता है, एक-एक व्यक्ति मिलकर समाज, देश और सारी मानवता बन जाती है।

अतः महावीर का मार्ग समाज के संस्थागत रूप के लिए उद्दिष्ट नहीं है, लेकिन समाज पर उसका प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता।

अतः महावीर आत्म-साधना के प्रचेता हैं; लेकिन लोकजीवन में उससे क्रान्ति होती है, यह एक स्वयं प्रमाणित सत्य है।

□

साधना की एक अनिवार्य शर्त है–जीवन-शुद्धि। "धन्य हैं वे जिनका अन्तःकरण निर्मल है"–ईसा मसीह ने जेतून के पर्वत से कहा—"क्योंकि वे प्रभु को देखेंगे।" यह प्रभु क्या है? महावीर का उत्तर स्पष्ट है– सच्च भवं"–सत्य ही प्रभु है, 'सच्चं लोयम्मि सारभूयं'–सत्य ही लोक में सारभूत है। सत्य क्या है? जो है वह सत्य है—अस्तित्व, अपनी समग्र पूर्णता में। अस्तित्व एक ओर अखण्ड, अविभाज्य और अभेद सत्ता है जिसमें हम सब समाहित हैं और जो हम सबमें समाहित हैं। 'एगे आया'–एक आत्मा की मूलभूत सत्ता महावीर का सत्य है, सम्पूर्ण और अखण्ड। वह भगवान् है। इस सत्य की अराधना जीवन का लक्ष्य है। सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ एकात्मकता का बोध जिसमें हमारा व्यक्तिमूलक अहं समुद्र में बूँद की तरह विलीन हो जाता है और उस एकाकारता–एकात्मकता में अपने को खोना ही अपने को वास्तव में पाना है। क्राइस्ट के शब्दों में "जो अपने को खो देते हैं, वे अपने को पा लेते हैं और जो अपने को कायम रखना चाहते हैं, वे अपने को खो डालते हैं।"

एकात्मकता के समग्रबोध में अहिंसा स्वतः समाहित है, उसकी व्यवहारिक फलश्रुति के रूप में। गांधीजी ने ठीक कहा था। "सत्य की खोज में निकलने पर मुझे अहिंसा मिली।" आन्तरिक मूलसत्ता में जो आत्मबोध है, व्यवहार के स्तर पर वह अहिंसा है। अल्बर्ट स्वाइत्जर के शब्दों में यह जीवन का सम्मान–'रेवरेंस फॉर लाइफ' है। समाज, राष्ट्र और मानवता बहुत ही ऊपरी स्तर पर इस अहिंसा की ही अभिव्यक्ति हैं। इसके अभाव में उनका न सृजन संभव है, न संरक्षण, न अस्तित्व और न विकास। आत्मजीवन का परम सत्य ही, लोकजीवन का परम सत्य है, यह स्वयं प्रमाणित है और इसी में महावीर के मार्ग की सामाजिक महत्ता छिपी है।

धर्म की परिभाषा महावीर ने आचार के स्तर पर अहिंसा पर ही आधारित की है। "सव्वे पाणा, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिता-

वेयव्वा, ण परिचेतव्वा, एस धम्मे धुवे णिइए सासए"—सारे प्राणी, सारे जीव, सारे स्वत्वों का शोषण, पीड़न, स्वत्वहरण, दासत्व तथा प्राणविमोचन न करना, यही शाश्वत, चिरन्तन और अटल धर्म है; क्योंकि 'सव्वेपाणा जोविउ कामा'—सव प्राणी जीना चाहते हैं, 'मरणभया' मरने से डरते हैं, 'सुहसाया'—सुख चाहते हैं, 'दुक्ख पडिकूला'—दुःख सवको प्रतिकूल लगता है।

महावीर की अहिंसा केवल व्यवहार या वाणी के स्तर पर ही नहीं, क्योंकि ये तो उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम मात्र हैं, वह मन के अतल गह्वरों में घूमने वाले सूक्ष्म चेतना-चक्र में समाहित होकर उसे रूपान्तरित कर देती है, इसी में उसकी सार्थकता है, अतः मन, वचन, कर्म तीनों योग तथा करना, कराना और अनुमोदित करना, तीनों करणों के समस्त स्तरों तक उसकी व्याप्ति है। आत्म-साधना के इस परम सत्य में ही सामाजिक क्रान्ति के वीज अन्तर्निहित हैं।

□□

समाज की नींव व्यक्ति है। समाज का आधार सहयोग है। समाज व्यक्ति की सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति है। समाज के साथ व्यक्ति का सम्वन्ध कुछ करने, कुछ कराने और कुछ अनुमोदित करने में प्रकट होता है। यही महावीर के तीन करण हैं। यदि समाज में शोषण, विषमता और हिंसा हो तो यह स्पष्ट है कि वह व्यक्ति की इच्छा की अभिव्यक्ति है—समूह के स्तर पर। स्तर चाहे समूह का हो, लेकिन इच्छा व्यक्ति की है। लिप्सा व्यक्ति की है, उसका वीज व्यक्ति में है। व्यक्ति शोषण न करे, न कराये, न करने में सहयोगी वने, न उसका अनु-मोदन करे, न शोषणशील व्यवस्था के साथ किसी प्रकार का सम्वन्ध कायम रखे तो समाज के सामने मिट जाने या वदल जाने के अलावा कोई विकल्प रहता ही नहीं। यह समाज-क्रान्ति का सवसे सशक्त सूत्र है जिसकी महत्ता गांधीजी समझ सके और उन्होंने असहयोग और अवज्ञा के रूप में इसका सफल प्रयोग किया।

महावीर का स्पष्ट मंतव्य है कि अहिंसा धर्म है, हिंसा अधर्म, कि विषमता हिंसा है, शोषण हिंसा है, किसी पर किसी भी प्रकार की वाध्यतामूलक सत्ता हिंसा है। इस हिंसा को स्वयं करना, किसी से कराना, करते हुए किसी के साथ किसी प्रकार का सहयोग रखना, उसको किसी भी प्रकार अनुमोदन देना, उसका अनुशासन, नियम, कानून और सत्ता को मानना—सब हिंसा है, एक जैसी ही, एक जितनी ही। अतः महावीर के वास्तविक अनुयायी का आत्मधर्म स्वयं अहिंसा की साधना करना तथा हिंसा के किसी भी प्रकार पर टिकी व्यवस्था के साथ पूर्ण असहमति (टोटल डिस्सेण्ट) व्यक्त करना, पूर्णतः उसकी अवज्ञा करना, उससे पूर्णतः असहयोग करना है। पल-भर भी समाज इस स्थिति में अपने को एकदम वदले

विना कायम नहीं रह सकता। मार्क्स की रक्त-क्रान्ति और वर्ग। संघर्ष की व्यूह-योजना जो सम्पूर्ण कायाकल्प नहीं कर सकती उसका सूत्र महावीर ने स्पष्ट वताया है। यद्यपि उसका मूल धरातल आत्मिक है, लेकिन निष्पत्तियाँ समाज-परिवर्तनकारी हैं।

मार्क्स इस शताब्दी के सबसे वड़े साम्य-प्रचेता हैं। उनका करुणाशील हृदय वर्ग-भेद, वैपम्य और शोपण पर आधारित समाज-व्यवस्था का वीभत्स रूप देखकर कराह उठा और उन्होंने वर्ग-संघर्ष द्वारा साम्य-मूलक समाज-व्यवस्था की स्थापना का सूत्र दिया। आज आधा संसार उसे साकार करने में लगा है, लेकिन कर नहीं पा रहा है क्योंकि मूल में ही मार्क्स की कुछ भूल रही हैं। प्रथम, व्यवस्था पर सारा दोप आरोपित कर वह उसे वदलने का उपाय वताता है, लेकिन व्यवस्था का वीज व्यक्ति का अन्तर्मन है, इस वात को वह भूल गया है। दूसरे, हिंसा और वर्ग-घृणा स्वयं शोपण तथा विपमता के वीज हैं जिनसे साम्य-मूलक समाज-रचना संभव ही नहीं है। जिस द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर मार्क्स की क्रान्ति-व्यूह-रचना टिकी है, वह अपने-आप में ही भूलों से भरा है।

पच्चीस सौ वर्प पूर्व महावीर ने अपरिग्रह तथा विसर्जन के सूत्र संसार को दिये थे। महावीर की भावना पर निर्मित समाज में स्वामित्व का सम्पूर्ण विसर्जन अनिवार्य है क्योंकि वे 'संविभाग' को जीवन का आधार मानते हैं और संविभाग का अर्थ ही है समान विभाजन या वितरण। 'दान' में देने वाले और लेने वाले के वीच वर्ग-भेद रहता है; लेकिन संविभाग में वर्गहीनता अन्तर्निहित है। महावीर की स्पष्ट घोपणा है कि "असंविभागी नह तस्स मोक्खो"—असंविभागी के लिए धर्म या मोक्ष का अस्तित्व तक नहीं है। यह संविभाग करना, कराना, उसका अनुमोदन करना, असंविभागमयी व्यवस्था के साथ पूर्ण असहमति, असहकार और अवज्ञा करना, यह है साम्य-मूलक समाज-व्यवस्था की स्थापना के लिए महावीर का क्रान्ति-सूत्र। □□□

'स्वाध्याय-रूपी चिन्तामणि जिसे मिल जाती है, वह कुवेर के रत्नकोपों को पराजित कर देता है। ज्ञान के क्षेत्र में नवोन्मेप और ज्ञान-विज्ञान की खोज में स्वाध्याय ही प्रवल कारण है।

—मुनि विद्यानन्द

अहिंसा : महावीर और गांधी

यदि मनुष्य को मनुष्य रहना है तो उसे साबित बनना होगा। जैन लोग तो खण्डित प्रतिमा को नमस्कार भी नहीं करते। प्रतिमा खण्डित नहीं चलेगी, तो मनुष्य कैसे खण्डित चलेगा ? और मनुष्य साबित तभी बनेगा जब वह भीतर-बाहर का जीवन सहज बनाये।

—माणकचन्द कटारिया

अहिंसा कोई नारा नहीं है, न ही यह कोई धर्मान्धता (डॉग्मा) है। न अहिंसा परिभाषा की वस्तु है, न वह पंथ है। उसे न हम वाद कह सकते हैं, न हम उसे महज़ विचार मान सकते हैं। अहिंसा तो एक जीवन है, मनुष्य के जीवन की एक तर्ज़, जो केवल जीकर पहचानी जा सकती है, समझी जा सकती है।

प्रकाश की आप क्या व्याख्या करेंगे ? वर्णन से अधिक वह अनुभव की वस्तु है—उसी तरह अहिंसा मनुष्य के जीवन की एक विशेषता है। उसे जीता है तो वह मनुष्य रहता है, नहीं तो अहिंसा को खोकर समूची मानवता ही डूब सकती है।

अब क्या आप महज खाने-पीने की परिधि के साथ अहिंसा को जोड़ेंगे ? क्या आप रहन-सहन के दायरे से इसे बांधेंगे ? मैं मांस नहीं खाता तो क्या अहिंसक हो गया, या निरा शाकाहारी हूँ तो अहिंसक हो गया ? मैं किसी की हत्या नहीं करता, न शिकार खेलता हूँ, न कीट-पतंगों को मारता हूँ—मेरे लिए मांस-मछली-अंडा आदि अखाद्य हैं तो क्या मैंने अहिंसा को वर लिया ?—अब ये ऐसे प्रश्न हैं जिनकी तह में आप जाएँ तो महावीर के नजदीक पहुँचेंगे। महावीर पशु-बलि से घबड़ाकर, युद्ध में हो रहे विनाश को देखकर, राज्य-धन-यश की लोलुपता के कारण मनुष्य के द्वारा मनुष्य का हनन देखकर संसार से भागा और गहरा गोता लगा गया। अपने आप में डूब गया। अपने हृदय की अतल गहराई में उतर गया और जो रत्न वह खोजकर लाया वे अमूल्य हैं; अहिंसा को समझने में सहायक हैं; अहिंसा को जीने की कीमिया हैं।

मुझे एक धर्मालु मिले, जो जीवदया के हिमायती हैं—कबूतर के लिए जुआर और चींटी के बांबियों में आटा डालने का उन्हें अभ्यास हो गया है। प्राणिमात्र

के लिए वहुत दयावान हैं। खान-पान की भ्रष्टता से वे वहुत चिन्तित हैं। उनके लिए अहिंसा याने शुद्ध शाकाहार--खाद्य-अखाद्य का विवेक और जीवदया। मैं उन्हें समझाता रहता हूँ कि इतना तो आज के इस विज्ञान युग में परिस्थिति-विज्ञान (इकॉलॉजी) भी कर देगा। एक पूर्ण मांसाहारी के लिए पाँच एकड़ जमीन चाहिये, जवकि एक पूर्ण शाकाहारी के लिए एक एकड़ जमीन ही पर्याप्त है। मनुष्य को अपनी जनसंख्या का संतुलन वैठाना हो तो अपने-आप उसे मांसाहार छोड़ना होगा। आवादी के मान से इतनी जमीन है नहीं कि मनुष्य मांसाहार पर टिका रहे। शायद वहुत ही निकट भविष्य में मनुष्य को अपनी सीमा पहचानकर मांसाहार छोड़ ही देना होगा—तव क्या हम सम्पूर्ण मानव-जाति को अहिंसा-धर्मी मानेंगे? लेकिन इतना सरल मार्ग अहिंसा का है नहीं।

मूल वात दृष्टि की

इसीलिए महावीर वाहर की आचार-संहिता में नहीं गया। भीतर से अहिंसा उगेगी तो वाहर का आचार-व्यवहार, रहन-सहन अहिंसा के अनुकूल वनने ही वाला है। उसकी चिन्ता करनी नहीं पड़ेगी। महावीर ने मनुष्य को भीतर से पकड़ा। उसने जान लिया कि मनुष्य हारता है तो अपनी ही तृष्णा से हारता है, भस्म होता है तो अपने ही क्रोध से भस्म होता है, उसे उसका ही द्वेष परास्त करता है, अपनी ही वैर-भावना में वह उलझता है। वाहर से तो कुछ है नहीं। वस्तुओं से घिरा मनुष्य भी अलिप्त रह सकता है, वस्तु को नहीं छूकर भी वह उसके मोह-जाल में फँस सकता है। महावीर की यह अनुभूति वड़े मार्के की है। उन्होंने कहा है—

> "अनाचारी वृत्ति का मनुष्य भले ही मृगचर्म पहने, नग्न रहे, जटा वढ़ाये, संघटिका ओढ़े, अथवा सिर मुड़ा ले—तो भी वह सदाचारी नहीं वन सकता।"

मूल वात वृत्ति की है, दृष्टि की है। हम भीतर से अपने को देखें और उसकी सापेक्षा में इस जगत् को समझें। महावीर हमें वाह्य जगत् से खींचकर एकदम भीतर ले गये—यह है तुम्हारा नियंत्रण-कक्ष। क्रोध को अक्रोध से जीतो, वैर से अवैर को पछाड़ो, घृणा को प्रेम से पिघलाओ, वस्तुओं का मोह संयम के हवाले करो। तृष्णा का मुकाविला समता करेगी, लोभ पर अंकुश साधना का रहेगा और इस तरह आत्मा अपने ही तेज-पुंज में अपने को परखेगी, जांचेगी, सम्यक् मार्ग अपनायेगी।

इसी पराक्रम ने महावीर को 'महावीर' की संज्ञा दी। अपने गले का मुक्ताहार किसी को देकर झंझट से मुक्त होना सरल है, लेकिन गले में पड़ी मोतियों की माला से अपना मन छुड़ाना सरल काम नहीं है। इस कठिन मार्ग की साधना महावीर ने की और कामयावी पायी।

अपरिग्रह

अहिंसा के मार्ग में एक और पराक्रम महावीर ने किया। उन्होंने अपनी खोज में पाया कि अहिंसा की आधार-शिला तो अपरिग्रह है—अपरिग्रह की साधना के बिना अहिंसा टिकेगी नहीं। वस्तुओं से घिरे इस संसार में सहज होना है तो परि-ग्रह छोड़ना होगा। इससे ही बात नहीं बनेगी कि आप यह तय कर लें कि मैं यह खाऊँगा, यह नहीं खाऊँगा; इतना पहनूँगा, इतना नहीं पहनूँगा; इतना चलूँगा, इतना नहीं चलूँगा। मेरी धन-मर्यादा इतनी है, वस्तु-मर्यादा इतनी है। बात वस्तुओं को छोड़ने की नहीं, वस्तुओं से अलिप्त होने की है। महावीर की साधना इस दिशा में गहरे उतरी और उन्होंने वस्तुओं से अलिप्त होने की सिखावन दी। अहिंसा और अपरिग्रह को उन्होंने एक-दूसरे के लिए अपरिहार्य बना दिया। यह एक ही सिक्का है—इधर से देखो तो अहिंसा है और उधर से देखो तो अपरिग्रह है। वस्तुओं में उतरा-डूबा मन अहिंसा के पथ पर लड़खड़ा जाएगा; उन्होंने इसका स्वयं अनुभव लिया। अब यह जो आप उनका दिगम्बर रूप देखते हैं, वह महज त्याग नहीं है। निर्लिप्त रहने की साधना है। त्याग तो बहुत ऊपर-ऊपर की चीज है। अहिंसा के साधक को वस्तुओं से घिरे रहकर भी निर्लिप्त होने की साधना करनी होगी। और यह केवल साधक का ही रास्ता नहीं है, मनुष्य-मात्र का रास्ता है। मनुष्य के जीवन की तर्ज अहिंसा है तो उसे अलिप्त होने का अभ्यास करना ही होगा।

सम्यक् जीवन

अहिंसा की साधना में महावीर एक और रत्न खोज कर लाये। धर्म-जाति-लिंग-भाषा के नाम से मनुष्य ने जो ये रवैये बना लिये हैं, वे व्यर्थ हैं। मनुष्य मनुष्य है। अब उसकी काया स्त्री की है या पुरुष की, जन्म उसने इस कुल में लिया हो या उस कुल में, वह मूल में मनुष्य ही है। और मनुष्य के नाते अपने आत्म-कल्याण की उच्चतम सीढ़ी पर चढ़ने का उसे पूरा अधिकार है। स्त्री की छाया से डरने वाला सन्यासी-समाज महावीर की इस क्रान्ति से चौंका। कुलीनता की ऊँच-नीच भावना का हिमायती समाज काँपा, लेकिन महावीर अपनी वीरता में नहीं चूके। उनका अहिंसा-धर्म मानव-धर्म के रूप में प्रकट हुआ था। उन्होंने तो मनुष्य के बनाये चौखटों और घेरों से अहिंसा-धर्म को बाहर निकाला था। मनुष्य का धर्म वह है ही नहीं जो उसने पंथ, डॉग्मा, जाति या कौम के नाम से स्वीकारा है। उन्होंने मनुष्य का असली धर्म मानव-मात्र के हाथ में थमाया। 'आत्मधर्म'-आत्मा को पहचानो, जाति भूलो, कुल भूलो, स्त्री-पुरुष-भेद भूलो। मनुष्य अगर मनुष्य है तो अपनी आत्मा के कारण है।

जैसे हिंसा उसके जीवन की तर्ज नहीं है, उसी तरह धर्म-जाति-वर्ग-लिंग आदि कठघरे भी मनुष्य के जीवन की तर्ज़ नहीं हैं। महावीर **मानव-धर्म** के हिमायती थे। मनुष्य अपना धर्म छोड़कर और कौन-सा धर्म अपनायेगा? उसका धर्म यही है कि वह सम्यक् वने। मनुष्य के जीवन की कोई संहिता हो सकती है तो केवल तीन संहिताएँ हैं---सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य।

'ही' और 'भी'

उन्होंने मनुष्य के हाथ में एक और कसौटी रख दी। मनुष्य जो देखता है, सुनता है, समझता है और खोजकर लाता है, उसके परे भी कुछ है। अपने ही ज्ञान, अनुभव और अहंकार में डूवा मन 'ही' पर टिक जाता है। समझता है उसने जो देखा–पाया–जाना वही तो सच्चा है; लेकिन इस परिधि के वाहर भी कुछ है जिसे और कोई देख, परख सकता है। मनुष्य की वुद्धि को इस 'भी' पर टिकाने में महावीर ने गहरी साधना की। विज्ञान-युग में आइन्स्टीन के इस थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी–सापेक्षवाद को प्रयोगशाला से सिद्ध कर दिखाया है। मनुष्य को सहज वनाने में, नम्र वनाने में, उसकी वुद्धि को खुली रखने में, उसे अहंकार से वचाने में और इस व्यापक जगत् का सही आकलन करने में यह सापेक्षवाद वड़े महत्त्व का तत्त्व है। □□

इस तरह महावीर अपने युग के तीर्थंकर थे। उन्होंने मनुष्य के जीवन की तर्ज ही वदल दी। उसे वे हिंसा से अहिंसा की ओर ले गये, वैर से क्षमा की ओर ले गये, घृणा से प्रेम की ओर ले गये, तृष्णा से त्याग की ओर ले गये। तीर-तलवार के वजाय मनुष्य का आत्म-विश्वास अपने ही आत्मवल पर टिका। ईसा मसीह को यह कहने की हिम्मत हुई कि–'यदि तुम्हारे एक गाल पर कोई थप्पड़ मारे तो उसके सामने अपना दूसरा गाल कर दो।' मनुष्य के आरोहण में यह महत्त्वपूर्ण ऊँचाई थी। मीरा हँसकर गा सकी कि–'जहर का प्याला रानाजी ने भेजा, मीरा पी-पी हांसी रे।' त्याग, वलिदान, सहिष्णुता और क्षमा के उपकरण मनुष्य के हाथ लगे और उसे अपने अनुभव से यह समझ में आया कि ये उपकरण घातक उपकरणों के मुकाविले अधिक कारगर हैं। सारा पशुवल आत्मोत्सर्ग के सामने फीका पड़ जाता है।

उलझन

यों महावीर ने मनुष्य को आत्म-विश्वास दिया, आत्म-वल दिया, सम्यक् दृष्टि दी और अपने ही भीतर वसे शत्रुओं से लोहा लेने की कीमिया मनुष्य के हाथ में रख दी। यह एक ऐसी साधना थी जिस पर अहिंसा-धर्म का हर राही चल सकता था। मनुष्य ने चलना शुरू किया। युगों-युगों तक चलता रहा और आज भी इसे निजी जीवन का आरोहण मानकर वह चल रहा है। एक से एक ऊँचे साधक आपको समाज में दीखेंगे---सव कुछ छोड़ देने वाले आत्मलीन महातपस्वी। वे अपने आपमें

रममान रहे हैं—बाहर से जैसे उन्हें कुछ छू ही नहीं रहा है। उनके चारों ओर समाज हिंसा की ज्वाला में धू-धू जल रहा है। और वे सहज हैं, निश्चल हैं। बम गिर रहे हैं और बस्तियाँ नष्ट हो रही हैं—पर साधक अपनी साधना में लीन है। उन्हें मनुष्य की तर्ज को बदलनेवाली हिंसाओं से कोई मतलब नहीं। वे अपने खेमे में भीतर हैं और वहाँ की छोटी-छोटी हिंसाओं पर नियंत्रण पाने में लगे हुए हैं।

दूसरी ओर, जैसे साधक को बाहर का जीवन नहीं छू रहा, वैसे ही समाज को साधक की साधना नहीं छू पा रही है। समाज उसे महात्मा, महामानव, महा-पुरुष और तपोपूत की संज्ञा देकर चरण छू लेता है और अपने हिंसक जीवन के मार्ग पर अबूझ दौड़ रहा है। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, महावीर, मुहम्मद-जैसे महाप्रभु आये, और साधुमना लोगों की लम्बी जमात हमारे बीच आयी, रही हमें उपदेश देती रही। सिखावन दे गयी और खुद उन पर चलकर अहिंसा का पाठ पढ़ा गयी थी कि मनुष्य के जीवन की यही तर्ज है—इसे खोकर वह मनुष्य नहीं रहेगा, लेकिन दुर्भाग्य कि मनुष्य ने अपने जीवन की दो समानान्तर पद्धतियाँ बना लीं। भीतर से वह अहिंसा का पथिक है और बाहर समाज में वह वस्तु-धन-सत्ता, पशुबल और अहंकार पर आधारित है।

गांधी ने इस उलझन को समझा। कोई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा लगाये तो नम्र होकर दूसरा गाल उसकी ओर कर देने से तुम्हारा अहंकार तो गलेगा, लेकिन महज इस व्यक्तिगत साधना से समाज नहीं बदलेगा। समाज को अहिंसा की ओर ले जाना हो तो दिन-रात समाज में चलनेवाले शोषण, अपमान, जहालत और सत्ता की अन्धाधुन्धी से लोहा लेना होगा। अन्याय का सामना करना होगा। तब तक सामाजिक या राजनैतिक अन्याय के प्रतिकार का एक ही मार्ग दुनिया ने जाना था—बल और बल-प्रयोग। विधि-विधान, दण्ड, जेल, फौज, युद्ध और न्यायालय भी इसी विचार को पोषण देनेवाले उपकरण हैं। हजारों सालों से मनुष्य ने बल की सत्ता का खुलकर प्रयोग किया है। मनुष्य मनुष्य का बंदी रहा है, बल के सामने पंगु है, सत्ता ने उसे भयभीत बनाया है, वस्तुओं ने उसे तृष्णा दी है और वह अपने आप में ही विभाजित हो गया है। ए ब्रोकन मैन—एक टूटा हुआ मनुष्य। उसने अपने आत्ममार्ग के लिए मंदिरों की रचना की है, मसजिद और गिरजाघरों का निर्माण किया है। वह घंटों पूजा-पाठ कर लेता है, कीर्तन-भक्ति में रमा रहता है। उपवास-व्रत में लग जाता है। भूत दया की बात करता है। पशु-पक्षियों के लिए भोजन जुटाता है। लाचार मनुष्यों की सेवा के लिए उसने सामाजिक संस्थान खोले हैं। वह सेवक है, भक्त है, पुजारी है, उपासक है, विनम्रता ओढ़े हुए है, छोटे-छोटे त्याग साधता है, दयालु है, करुणा पालता है और प्रेम संजोता है। पर यह सब उसका व्यक्तिगत संसार है—आत्मसंतोष के महज उपकरण। वहाँ वह धर्मालु है, धर्मभीरु है।

लेकिन जब वह समाज-जीवन में प्रवेश करता है—और उसका अधिकांश समय समाज-जीवन में ही व्यतीत होता है, तब वह व्यापारी है, राजनीतिक है, सत्ताधीश है, धनपति है, शोषक है, स्वार्थी है, अहंकारी है, उसकी सारी वुद्धि, सारी युक्ति अधिकाधिक पाने और स्वार्थ-साधना में लगती है। परिणाम यह है कि मनुष्यों में एक हायरआरकी—श्रेणिवद्धता खड़ी हो गयी है। आप वहुत मजे-मजे में दीन-हीन-कंगाल निर्वसन और निराहार मनुष्य को नीचे की सीढ़ी पर देख सकते हैं—विलकुल दिगम्वर—त्याग के कारण नहीं, लाचारी के कारण। और उच्चतम सीढ़ी पर वैभव में लिपटे हुए समृद्ध मनुष्य को देख सकते हैं जो अपने ही ऐश्वर्य और मद में मदहोश है। मनुष्य की इस हायरआरकी ने मनुष्य को प्रायः समाप्त ही कर दिया है।

गांधी ने अच्छी तरह पहचाना कि मनुष्य की ये दो समानान्तर रेखाएँ इसे मनुष्य रहने ही नहीं देंगी। ऐसे में उसकी निजी नम्रता और भक्ति, त्याग और संयम भी उसे अहंकारी ही वनायेगा। इसलिए उसने मनुष्य को इस खंडित जीवन से वचाने की साधना की, मनुष्य को मनुष्य रहना है तो उसे सावित वनना होगा। जैन लोग तो खंडित प्रतिमा को नमस्कार भी नहीं करते। प्रतिमा खंडित नहीं चलेगी, तो मनुष्य कैसे खंडित चलेगा? और मनुष्य सावित तभी वनेगा जव वह भीतर-वाहर का जीवन सहज वनाये। अहिंसा की साधना में यह एक धीर-गम्भीर, कठिन और लम्वा आरोहण है। उतना सरल नहीं, जितना व्यक्तिगत साधना का मार्ग है। 'एकला चलो रे!' की भावना गुरुदेव टैगोर को वल दे सकी, नोआखाली में गांधी अकेला ही शान्ति-यात्रा पर चल पड़ा था, परन्तु समाज-जीवन यदि पशु-वल से घिरा हुआ है और उसी पर आधारित है तो मनुष्य कितना ही मंदिर-मसजिद की आराधना में लगा रहे और ध्यान-धारणा करता रहे अपने-आपको सावित नहीं रख सकेगा। रख पाया ही नहीं—इसीलिए तो वह टूटकर दो समानान्तर रेखाओं पर दौड़ रहा है।

गांधी का विस्फोट

इस दृष्टि से देखें तो महावीर के वाद लगभग ढाई हजार साल के अन्तर पर एक दूसरा विस्फोट गांधी ने अहिंसा के क्षेत्र में किया। उसने समाज-जीवन को वदलने का वीड़ा उठाया। **गुलामी से मुक्ति, शोषण से मुक्ति, भय से मुक्ति।** डरा हुआ मनुष्य कौन-सी धर्म-साधना कर सकता है? कायर की अहिंसा 'अहिंसा' नहीं है। संसार गांधीजी की इस साधना का प्रत्यक्षदर्शी है। निहत्थे लोगों ने महज अपने आत्मवल से साम्राज्य का झंडा झुकाया है, उसकी तोपों के मुँह मोड़े हैं। वहके हुए इन्सानों के सामने वह महात्मा अपना सीना ताने अड़ा रहा। लोगों के मन वदले। उसने आग उगलती ज्वालामुखी धरती पर प्रेम के वीज वोये-उगाये।

मनुष्य को, सत्ताधीशों को और मनुष्य के समुदायों को जीतने में उसने शरीर-वल का आधार लिया ही नहीं। मेरी कष्ट-सहिष्णुता आपके दिल को पिघलायेगी, मेरा त्याग आपके लालच को रोकेगा, मेरा संयम आपकी अफलातूनी पर वंदिश लायेगा। आप वहक रहे हैं, मैं मर मिटूंगा। मैं आपकी हिंसा का रास्ता रोकूँगा और आपको अहिंसा की ओर मोड़ूंगा—वंदूक से नहीं, स्वयं मर-मिट कर। वात खुद के अहिंसक होने या अहिंसा-धर्म पर चलने से नहीं वनेगी, वह तव वनेगी जवकि

में आपकी हिंसा को रोकने के लिए उत्सर्ग हो जाऊँ। **महावीर ने तप सिखाया अपने आत्म धर्म के लिए, गांधी ने मरना सिखाया समाज को अहिंसक बनाने के लिए। दोनों कठिन मार्ग हैं—जी-तोड़ श्रम-साधना के मार्ग हैं।** महावीर और गांधी—दोनों यह कर गये। मनुष्य को सिखा गये। गांधी ने 'सत्याग्रह' का एक नया उपकरण मनुष्य के हाथ में थमाया। एटम बम जहाँ फेल होता है, वहाँ सत्याग्रह पर आधारित जीवन-बलिदान सफल होता है। मनुष्य की आस्था निजी जीवन में 'हिंसा' पर से डिग चुकी थी, गांधी के कारण समाज-जीवन की 'हिंसा' पर से भी डिग चुकी है। समाज-जीवन में प्रेम, सहयोग, समझाइश, मित्रता और सहिष्णुता का आधार मनुष्य ले रहा है। दिशा मुड़ गयी है। यों लगातार ढेर-के-ढेर शस्त्र बन-रहे हैं, संहारक शस्त्र बन रहे हैं, फौजें बढ़ रही हैं, भय छा रहा है तथा दुनिया विनाश की कगार पर खड़ी है; पर भीतर से मनुष्य का दिल सहयोग और सहिष्णुता की बात कर रहा है। शस्त्र अब उसकी लाचारी है, आधार नहीं।

जैसे व्यक्तिगत जीवन में तृष्णा मनुष्य की लाचारी है आकांक्षा नहीं; क्रोध-बैर बेकाबू हैं, पर चाहना नहीं। लोभ और स्वार्थ उसके क्षणिक साथी हैं, स्थायी मित्र नहीं। उसी तरह सामूहिक जीवन में हिंसक औजार, संहारक शस्त्र, बल-प्रयोग, एकतंत्र राज्य-प्रणाली, फासिज्म, आतंकवाद मनुष्य की पद्धति नहीं हैं वह उस बहशीपन है। इस बुनियादी बात को गले उतारने में गांधी कामयाब रहा है।

महावीर ने मनुष्य के भीतर अहिंसा का बीज बोया तो गांधी ने उसकी शीतल छाया समाज-जीवन पर फैलायी। यह संभव ही नहीं है कि मनुष्य अहिंसा-धर्म की जय-जय बोले और रहन-सहन, खान-पान का शोधन करता रहे और समझता रहे कि वह अहिंसा-धर्मी हो गया। अपने भीतर की जीवन-तर्ज उसे समाज-जीवन में उतारनी होगी तभी अहिंसा की साधना में वह सफल हो सकेगा। यों हम देखें तो पायेंगे कि महावीर और गांधी एक ही सिक्के की दो बाजुएँ हैं। महावीर ने आत्म-बोध दिया और गांधी ने समाज-बोध। बात बनेगी ही नहीं जब तक आत्म-बोध और समाज-बोध एक ही दिशा के राही नहीं होंगे। महावीर के अनुयायियों पर एक बड़ी जिम्मेवारी गांधी ने डाली है। महावीर के अनुयायी अच्छे मनुष्य हैं—जीव-दया पालते हैं, करुणा और प्रेम के उपासक हैं, संयमी हैं, व्रती हैं, त्याग की साधना करते हैं, धर्मालु हैं—इतना करते हुए भी खंडित मनुष्य हैं।

अपनी व्यक्तिगत परिधि से बाहर समाज-जीवन में आते ही वे टूट जाते हैं। वहाँ उनकी सारी जीव-दया समाप्त है, सारा संयम बह जाता है, त्याग का स्थान संग्रह ले लेता है, स्वार्थ-तृष्णा-सत्ता उन पर हावी हो जाती है और तब अहिंसा महज एक चिकत्ती—'लेबल'—रह जाती है। अहिंसा तो एक साबित मनुष्य के जीवन की तर्ज है—उसके भीतर के, बाहर के जीवन की। महावीर और गांधी को जोड़ दें तो यह बाहर-भीतर की विरोधी तर्जें समाप्त होंगी और मनुष्य अहिंसा का सच्चा पथिक बन सकेगा। □□

अपरिग्रह के प्रचेता
भगवान महावीर

अन्तःमानस का परिवर्तन, साध्य-साधन की एकरूपता एवं अहिंसा तथा प्रेम का मार्ग आज तक सामूहिक क्रान्ति के लिए अपनाया ही नहीं गया, अन्यथा इतिहास का एक नया अध्याय ही खुल जाता।

☐ **मुनि रूपचन्द**

अपरिग्रहके दो पक्ष हैं : आत्मगत और समाजगत। आत्मगत पक्ष का सम्बन्ध अध्यात्म की साधना से है। अध्यात्म-साधक का मन जितना वाध्य वस्तुओं के प्रति ममत्व से मुक्त होगा उतना ही अन्तर्मुख होकर साधना को शक्ति-संयुक्त करेगा। इस आधार-भूमि पर अपरिग्रह वस्तुओं का नहीं, उनके प्रति ममत्व का विसर्जन है। वस्तुओं का अभाव हो या अतिभाव, मन निर्लिप्त हो, यह अध्यात्म-साधक के लिए अनिवार्य शर्त है। इसी भूमिका पर महावीर अपरिग्रह को प्रतिपादित करते हैं।

"लेकिन ममत्व का अभाव" अतिभाव और अभाव, वस्तु-जगत् की दोनों स्थितियों का, जो समाज के लिए घातक हैं, निवारण करता है, स्वामित्व का सर्वथा लोप कर समत्व पर आधारित सामाजिक अर्थतन्त्र का पुनर्निर्माण करता है और अगर वह ऐसा नहीं करता तो यह मानना चाहिये कि मन के धरातल पर ममत्व शेष है---आत्मगत भूमिका पर अपरिग्रह नहीं सधा है।

महावीर का महाभिनिष्क्रमण महापरिग्रह-ग्रस्त सामंती मूल्यों में जीने वाली हिंसक व शोषक समाज-व्यवस्था के ऊपर एक करारी चोट था; विलास और अपव्यय, शोषण और उत्पीड़न, विषमता और अहंता, वर्गभेद और जातिभेद के जलावर्त में फँसे समग्र सामाजिक तंत्र को झकझोरने वाला एक कदम था। जिसकी जीवन्त प्रेरणा लेकर भारतीय समाज अगर अपने को अपरिग्रह और अहिंसा की पीठिका पर पुनर्गठित करता तो मानवता के इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ अनायास ही लिखा जा चुकता; 'लेकिन', पता नहीं, इस 'लेकिन' का अन्त हम कभी कर पायेंगे या निकट भविष्य में यही हमारा अन्त कर डालेगा।

महावीर ने साधना के दो मार्ग सामने रखे—एक महाव्रत, जो सम्पूर्ण व अनागार हैं अर्थात् जिसमें कोई विकल्प या छूट है ही नहीं । आत्मगत भूमिका पर यह पूर्ण निर्ममत्व है तथा लोकजीवन की भूमिका पर स्वामित्व का सम्पूर्ण विसर्जन, सर्वस्व का अनावाध परित्याग । साधु का जीवन इस भूमिका पर नित्य संस्थित है ।

लेकिन उनके लिए जो अभी इस भूमिका से बहुत दूर हैं, महावीर ने साधना का एक ऐसा स्तर भी सामने रखा जो सागार है– जिसमें छूट है, विकल्प हैं और जिसको सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। महावीर की कल्पना का 'श्रमणोपासक' या 'श्रावक' पूर्णतः अपरिग्रही नहीं हो सकता; लेकिन अणुव्रत के स्तर पर परिग्रह का निरन्तर नियमन करते हुए वह आत्म-साधना की ओर अपने जीवन का क्षेत्र-विस्तार करता जाता है । श्रावक के तीन मनोरथों में सबसे पहला यह है कि वह अल्प और बहु परिग्रह का विसर्जन करते हुए पूर्ण अपरिग्रह की भूमिका पर आरूढ़ हो जाए जो साधना का प्रवेश-द्वार है ।

अपरिग्रह अणुव्रत के अन्तर्गत आत्मगत और वस्तुगत दोनों ही भूमिकाओं पर परिग्रह का सीमाधिकारण तथा विसर्जन है। दोनों भूमिकाएँ परस्पर अविनाभाव एकत्व में आवद्ध हैं ।

अपरिग्रह की अणुव्रत-स्तरीय साधना के दो पक्ष हैं–आय की साधन-शुद्धि तथा उपलब्ध आय का सीमाधिकरण एवं विसर्जन । प्रथम के अन्तर्गत शोषण, अप्रामाणितकता आदि गलत साधनों से उपार्जन का निषेध है, जो उद्योग-व्यापार की नैतिक कसौटी निर्धारित कर देते हैं । देश एवं दिशा-परिमाण-व्रत के अन्तर्गत क्षेत्रीय स्वावलम्बन, लघु एवं कुटीर उद्योगों का विकास तथा बहुत लोगों का कार्य-नियोजन निष्पन्न होता है जो भारत-जैसे देश के लिए सहज ही बहुत लाभदायक सिद्ध हो सकता है । इसके अलावा अनेक उद्योग ऐसे हैं जिनका सर्वथा त्याग आवश्यक है–जैसे वे कार्य जिनमें बहुपरिमाण में जीवों का शोषण, पीड़न एवं हनन होता है तथा मानव का शोषण तथा वैषम्य, बेकारी तथा भुखमरी निष्पन्न होते हैं ? आज के संदर्भ में बड़े कल-कारखाने इनके अन्तर्गत आते हैं; और इसमें कोई संदेह नही कि वे देश में वर्ग-भेद, विषमता, शोषण एवं संघर्ष के निमित्त बने हैं । आज राष्ट्रीय स्तर पर नेतागण लघु व कुटीर उद्योगों के विस्तार तथा क्षेत्रीय कार्य-नियोजन की महत्ता स्वीकार कर रहे हैं ।

प्राप्त आय का उपयोग भी अपरिग्रह अणुव्रत के अन्तर्गत सीमित हो जाता है, उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत के अन्तर्गत आय का अत्यल्प भाग आवश्यक उपयोग में नियोजित होता है; शेष विसर्जित हो जाता है ।

श्रावक-प्रतिक्रमण के व्रतों एवं अतिचारों के संदर्भ में अपरिग्रह का जो विवेचन उपलब्ध है वह एक जैन गृहस्थ के लिए अनिवार्य है। अगर वास्तव में उसे अंगीकार किया जाता, एक पूरे धार्मिक समाज द्वारा, तो भारतीय सामाजिक-आर्थिक जीवन में अध्यात्म की तेजस्विता का प्रखर प्रकाशन होता, एक अभूतपूर्व

धर्म-क्रान्ति पूरे राष्ट्र का कायापलट कर देती, लेकिन—इस 'लेकिन' के हजारों उत्तर हैं–लेकिन उन सबको मिलाकर एक भी सही उत्तर वन नहीं पाता क्योंकि उसकी वुनियाद ही आत्म-प्रवंचना और लोक-प्रवंचना है।

सामाजिक स्तर पर समता की स्थापना तभी हो सकती है जव लोकमानस में उसका अवतरण हो और लोकमानस में यह तभी हो सकता है जवकि व्यक्ति-चेतना उससे संपूर्णतः अनुप्राणित हो जाए। आज एक मानसिक क्रान्ति की अपेक्षा है, उसके अभाव हजारों में रक्त-क्रान्तियाँ होने पर भी शोपण तथा विपमता को समाप्त नहीं किया जा सकता। फ्रांस की राज्यक्रान्ति स्वतन्त्रता, समानता और वन्धुत्व के लक्ष्य को लेकर हुई थी लेकिन उसकी अन्तिम परिणति नेपोलियन के साम्राज्यवादी एकतन्त्र में हुई जिसे हटाकर राजसत्ता पुनः स्थापित हो गयी। इंग्लैंड की पत्रिका 'टाइम एण्ड टाइड' के अनुसार साम्यवादी देशों में अव तक दस करोड़ मानवों का रक्त वहाया जा चुका है; लेकिन समानता के नाम पर वुनियादी मानवीय स्वतन्त्रताओं का हनन भी हुआ, व्यक्ति के सारे अधिकार समाप्त कर दिये गये तथा एक नये वर्ग ने, जिसके हाथ में राजनीतिक और आर्थिक दोनों सत्ताएँ थीं, कोटि-कोटि जनों को दासता की जंजीरों में जकड़ कर पूंजीवादी व्यवस्था से भी अधिक भयानक शोपण और उत्पीड़न का शिकार वनाकर रख दिया। मार्क्स ने जिस साम्यमूलक समाज का आदर्श रखा था उसमें राज्य, सरकार, न्यायालय, कानून आदि की आवश्यकता ही नहीं हो सकती, व्यक्ति को अवाध स्वतन्त्रता तथा समाज को वर्गहीन साम्य मिलता; लेकिन आज जो व्यवस्था कायम है वह व्यक्ति को कायर, कमजोर, दास-वृत्ति का शिकार, शोषित, पीड़ित एवं प्रताड़ित वना रही है। वोरिस पास्तरनाक, अलेक्जेण्डर सोल्जिनित्सिन, मिलोवन जिलासू, कुजनेत्सोव के साथ जो हुआ इतिहास उसका साक्षी है।

कुछ साम्यवादी देशों को राष्ट्रीय स्तर पर जो यत्किंचित् सफलता मिली है उसका एक हेतु वहाँ जनसंख्या के दवाव का अभाव है। चीन जैसे देश में, जहाँ जनसंख्या का दवाव अत्यधिक है, साम्यवादी व्यवस्था दरिद्रता, अज्ञान एवं शोषण को मिटाने में कितनी सफल हो पायी है, इसे विश्व के इतिहासज्ञ, राजनीतिज्ञ तथा अर्थशास्त्री जानते हैं।

इसका मूल कारण यही था कि मार्क्स ने वैपम्य का आरोपण व्यवस्था पर किया जवकि उसका वीज व्यक्ति के अन्तःकरण में है, हिंसक साधनों को विहित माना जवकि हिंसा में शोपण अन्तर्निहित है, वर्ग-घृणा व वर्ग-संघर्ष का रास्ता अपनाया जवकि विपमता का वीज इसी में छुपा है। महावीर और वुद्ध, क्राइस्ट तथा कनफ्यूसियस का मार्ग दूसरा है। अन्तःमानस का परिवर्तन, साध्य-साधन की एकरूपता एवं अहिंसा तथा प्रेम का मार्ग आज तक सामूहिक क्रान्ति के लिए अपनाया ही नहीं गया, अन्यथा इतिहास का एक नया ही अध्याय खुल जाता। □ □

वर्तमान में भगवान महावीर के तत्त्व-चिन्तन की सार्थकता

महावीर ने जनतन्त्र से कई कदम आगे प्राणतन्त्र की विचारधारा को विकसित किया। जनतन्त्र में मानव-हित को ध्यान में रखकर अन्य प्राणियों के वध की छूट है; किन्तु महावीर के शासन में मानव और मानवेतर प्राणियों में कोई अन्तर नहीं।

—डा. नरेन्द्र भानावत

वर्द्धमान भगवान् महावीर विराट् व्यक्तित्व के धनी थे। वे क्रांति के रूप में उत्पन्न हुए थे। उनमें शक्ति-शील-सौन्दर्य का अद्‌भुत प्रकाश था। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। यद्यपि वे राजकुमार थे, समस्त राजसी ऐश्वर्य उनके चरणों में लौटते थे तथापि पीड़ित मानवता और दलित-शोषित जन-जीवन से उन्हें सहानुभूति थी। समाज में व्याप्त अर्थ-जनित विषमता और मन में उद्‌भूत काम-जन्य वासनाओं के दुर्दमनीय नाग को अहिंसा, संयम और तप के गारुड़ी संस्पर्श से कील कर वे समता, सद्‌भाव और स्नेह की धारा अजस्र रूप में प्रवाहित करना चाहते थे। इस महान् उत्तरदायित्व को, जीवन के इस लोकसंग्रही लक्ष्य को उन्होंने पूर्ण निष्ठा और सजगता के साथ सम्पादित किया।

महावीर का जीवन-दर्शन और उनका तत्त्व-चिन्तन इतना अधिक वैज्ञानिक और सार्वकालिक लगता है कि वह आज की हमारी जटिल समस्याओं के समाधान के लिए भी पर्याप्त है। आज की प्रमुख समस्या है सामाजिक-आर्थिक विषमता को दूर करने की। इसके लिए मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष को हल के रूप में रखा। शोषक और शोषित के अनवरत परस्परिक संघर्ष को अनिवार्य माना और जीवन की अन्तस् भाव-चेतना को नकार कर केवल भौतिक जड़ता को ही सृष्टि का आधार माना। इसका जो दुष्परिणाम हुआ वह हमारे सामने है। हमें गति तो मिल गयी, पर दिशा नहीं; शक्ति तो मिल गयी, पर विवेक नहीं; सामाजिक वैषम्य तो सतही रूप से कम होता हुआ नजर आया, पर व्यक्ति-व्यक्ति के बीच अनात्मीयता का फासला बढ़ता गया। वैज्ञानिक अविष्कारों ने राष्ट्रों की दूरी तो कम की पर मानसिक

दूरी बढ़ा दी। व्यक्ति के जीवन में धार्मिकता-रहित नैतिकता और आचरण-रहित विचारशीलता पनपने लगी। वर्तमान युग का यही सबसे बड़ा अन्तर्विरोध और सांस्कृतिक संकट है। भगवान् महावीर की विचारधारा को ठीक तरह से हृदयंगम करने पर समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति भी संभव है और बढ़ते हुए इस सांस्कृतिक संकट से मुक्ति भी।

महावीर ने अपने राजसी जीवन में और उसके चारों ओर जो अनन्त वैभव की रंगीनी देखी, उससे यह अनुभव किया कि आवश्यकता से अधिक संग्रह करना पाप है, सामाजिक अपराध है, आत्मा को छलना है। आनन्द का रास्ता है अपनी इच्छाओं को कम करना, आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना; क्योंकि हमारे पास जो अनावश्यक संग्रह है, उसकी उपयोगिता कहीं ओर है। कहीं ऐसा प्राणि-वर्ग है जो उस सामग्री से वंचित है, जो उसके अभाव में संतप्त है, आकुल है; अतः हमें उस अनावश्यक सामग्री को संगृहीत कर रखना उचित नहीं। यह अपने प्रति ही नहीं, समाज के प्रति छलना है, धोखा है, अपराध है, इस विचार को अपरिग्रह-दर्शन कहा गया, जिसका मूल मन्तव्य है—किसी के प्रति ममत्व-भाव न रखना। वस्तु के प्रति भी नहीं, व्यक्ति के प्रति भी नहीं, स्वयं अपने प्रति भी नहीं। वस्तु के प्रति ममता न होने पर हम अनावश्यक सामग्री का तो संचय करेंगे ही नहीं, आवश्यक सामग्री को भी दूसरों के लिए विसर्जित करेंगे। आज के संकट-काल में जो संग्रह-वृत्ति (होर्डिग हेविट्स) और तज्जनित व्यावसायिक लाभ-वृत्ति पनपी है, उससे मुक्त हम तब तक नहीं हो सकते जब तक कि अपरिग्रह-दर्शन के इस पहलू को हम आत्मसात् न कर लें।

व्यक्ति के प्रति भी ममता न हो इसका दार्शनिक पहलू इतना ही है कि व्यक्ति अपने स्वजनों तक ही न सोचे; परिवार के सदस्यों के हितों की ही रक्षा न करे वरन् उसका दृष्टिकोण समस्त मानवता के हित की ओर अग्रसर हो। आज प्रशासन और अन्य क्षेत्रों में जो अनैतिकता व्यवहृत है उसके मूल में 'अपनों के प्रति ममता' का भाव ही विशेप रूप से प्रेरक कारण है। इसका अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति पारिवारिक दायित्व से मुक्त हो जाए। इसका ध्वनित अर्थ केवल इतना ही है कि व्यक्ति 'स्व' के दायरे से निकलकर 'पर' तक पहुँचे। स्वार्थ की संकीर्ण सीमा को लाँघ कर परार्थ के विस्तृत क्षेत्र में आये। सन्तों के जीवन की यही साधना है। महापुरुष इसी जीवन-पद्धति पर आगे बढ़ते हैं। क्या महावीर, क्या बुद्ध सभी इस व्यामोह से परे हटकर आत्मजयी बने। जो जिस अनुपात में इस अनासक्त भाव को आत्मसात् कर सकता है वह उसी अनुपात में लोक-सम्मान का अधिकारी होता है। आज के तथाकथित नेताओं के व्यक्तित्व का विश्लेपण इस कसौटी पर किया जा सकता है। नेताओं के सम्बन्ध में आज जो दृष्टि बदली

है और उस शब्द के अर्थ का जो अपकर्ष हुआ है उसके पीछे यही लोक-दृष्टि सक्रिय है।

'अपने प्रति भी ममता न हो'—यह अपरिग्रह-दर्शन का चरम लक्ष्य है। श्रमण-संस्कृति में इसीलिए शारीरिक कष्ट-सहन को एक ओर अधिक महत्त्व दिया है तो दूसरी ओर इस पार्थिव देह-विसर्जन (सल्लेखना) का विधान किया गया है। वैदिक संस्कृति में जो समाधि-अवस्था, या संतमत में जो सहजावस्था है, वह इसी कोटि की है। इस अवस्था में व्यक्ति 'स्व' से आगे बढ़कर इतना अधिक सूक्ष्म हो जाता है कि वह कुछ भी नहीं रह जाता। योग-साधना की यही चरम परिणति है।

संक्षेप में महावीर की इस विचारधारा का अर्थ है कि हम अपने जीवन को इतना संयमित और तपोमय बनायें कि दूसरों का लेशमात्र भी शोषण न हो, साथ ही स्वयं में हम इतनी शक्ति, पुरुषार्थ और क्षमता भी अर्जित कर लें कि दूसरा हमारा शोषण न कर सके।

प्रश्न है ऐसे जीवन को कैसे जीया जाए? जीवन में शील और शक्ति का यह संगम कैसे हो? इसके लिए महावीर ने 'जीवन-व्रत-साधना' का प्रारूप प्रस्तुत किया। साधना-जीवन को दो वर्गों में बाँटते हुए उन्होंने बारह व्रत बतलाये। प्रथम वर्ग, जो पूर्णतया इन व्रतों की साधना करता है, वह श्रमण है, मुनि है, संत है, और दूसरा वर्ग, जो अंशतः इन व्रतों को अपनाता है, वह श्रावक है, गृहस्थ है, संसारी है।

इन बारह व्रतों की तीन श्रेणियाँ हैं: पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। अणुव्रतों में श्रावक स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का त्याग करता है। व्यक्ति तथा समाज के जीवन-यापन के लिए वह आवश्यक सूक्ष्म हिंसा का त्याग नहीं करता। जबकि श्रमण इसका भी त्याग करता है, पर उसे भी यथाशक्ति सीमित करने का प्रयत्न करता है। इन व्रतों में समाजवादी समाज-रचना के सभी आवश्यक तत्त्व विद्यमान हैं।

प्रथम अणुव्रत में निरपराध प्राणी को मारना निषिद्ध है किन्तु अपराधी को दण्ड देने की छूट है। दूसरे अणुव्रत में धन, सम्पत्ति, परिवार आदि के विषय में दूसरे को धोखा देने के लिए असत्य बोलना निषिद्ध है। तीसरे व्रत में व्यवहार-शुद्धि पर बल दिया गया है। व्यापार करते समय अच्छी वस्तु दिखाकर घटिया दे देना, दूध में पानी आदि मिला देना, झूठा नाप, तोल तथा राज-व्यवस्था के विरुद्ध आचरण करना निषिद्ध है। इस व्रत में चोरी करना तो वर्जित है ही किन्तु चोर को किसी प्रकार की सहायता देना या चुरायी हुई वस्तु को खरीदना भी

वर्जित है। चौथा व्रत स्वदार-सन्तोष है जो एक ओर काम-भावना पर नियमन है तो दूसरी ओर पारिवारिक संगठन का अनिवार्य तत्त्व है। पाँचवें अणुव्रत में श्रावक स्वेच्छापूर्वक धन-सम्पत्ति, नौकर-चाकर आदि की मर्यादा करता है।

तीन गुणव्रतों में प्रवृत्ति के क्षेत्र को सीमित करने पर बल दिया गया है। शोषण की हिंसात्मक प्रवृत्तियों के क्षेत्र को मर्यादित एवं उत्तरोत्तर संकुचित करते जाना ही इन गुणव्रतों का उद्देश्य है। छठा व्रत इसी का विधान करता है। सातवें व्रत में योग्य वस्तुओं के उपभोग को सीमित करने का आदेश है। आठवें में अनर्थदण्ड अर्थात् निरर्थक प्रवृत्तियों को रोकने का विधान है।

चार शिक्षाव्रतों में आत्मा के परिष्कार के लिए कुछ अनुष्ठानों का विधान है। नवाँ सामाजिक व्रत समता की आराधना पर, दसवाँ संयम पर, ग्यारहवाँ तपस्या पर और बारहवाँ सुपात्रदान पर बल देता है।

इन बारह व्रतों की साधना के अलावा श्रावक के लिए पन्द्रह कर्मादान भी वर्जित हैं अर्थात् उसे ऐसे व्यापार नहीं करने चाहिये जिनमें हिंसा की मात्रा अधिक हो, या जो समाज-विरोधी तत्त्वों का पोषण करते हों। उदाहरणत: चोरों-डाकुओं, या वेश्याओं को नियुक्त कर उन्हें अपनी आय का साधन नहीं बनाना चाहिये।

इस व्रत-विधान को देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि महावीर ने एक नवीन और आदर्श समाज-रचना का मार्ग प्रस्तुत किया जिसका आधार तो आध्यात्मिक जीवन जीना है, पर जो मार्क्स के समाजवादी लक्ष्य से भिन्न नहीं है।

ईश्वर के सम्बन्ध में जो जैन-विचारधारा है, वह भी आज की जनतंत्रात्मक और आत्मस्वातन्त्र्य की विचारधारा के अनुकूल है। महावीर के समय का समाज बहुदेवोपासना और व्यर्थ के कर्मकाण्ड से बंधा हुआ था। उसके जीवन और भाग्य को नियंत्रित करती थी कोई परोक्ष अलौकिक सत्ता। महावीर ने ईश्वर के इस संचालक-रूप का तीव्रता के साथ खण्डन कर इस बात पर जोर दिया कि व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। उसके जीवन को नियंत्रित करते हैं उसके द्वारा किये गये कार्य। इसे उन्होंने 'कर्म' कह कर पुकारा। वह स्वयं कृत कर्मों के द्वारा ही अच्छे या बुरे फल भोगता है। इस विचार ने नैराश्यपूर्ण असहाय जीवन में आशा, आस्था और पुरुषार्थ का आलोक बिखेरा और व्यक्ति स्वयं अपने पैरों पर खड़ा हो कर कर्मण्य बना।

ईश्वर के सम्बन्ध में जो दूसरी मौलिक मान्यता जैन दर्शन की है, वह भी कम महत्त्व की नहीं। ईश्वर एक नहीं, अनेक हैं। प्रत्येक साधक अपनी आत्मा को जीत कर, चरम साधना के द्वारा ईश्वरत्व की अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

मानव-जीवन की सर्वोच्च उत्थान-रेखा ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है। इस विचार-धारा ने समाज में व्याप्त पाखण्ड, अन्ध श्रद्धा और कर्मकाण्ड को दूर कर स्वस्थ्य जीवन-साधना या आत्म-साधना का मार्ग प्रशस्त किया। आज की शब्दावली में कहा जा सकता है कि ईश्वर के एकाधिकार को समाप्त कर महावीर की विचार-धारा ने उसे जनतंत्रीय पद्धति के अनुरूप विकेन्द्रित कर सबके लिए प्राप्य बना दिया—शर्त रही जीवन की सरलता, शुद्धता और मन की दृढ़ता। जिस प्रकार राज-नैतिक अधिकारों की प्राप्ति आज प्रत्येक नागरिक के लिए सुगम है, उसी प्रकार ये आध्यात्मिक अधिकार भी उसे सहज प्राप्त हो गये हैं। शूद्रों का और पतित समझी जाने वाली नारी-जाति का समुद्धार करके भी महावीर ने समाज-देह को पुष्ट किया। आध्यात्मिक उत्थान की चरम सीमा को स्पर्श करने का मार्ग भी उन्होंने सबके लिए खोल दिया—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, चाहे वह शूद्र हो, या चाहे और कोई।

महावीर ने जनतन्त्र से भी बढ़कर प्राणतन्त्र की विचारधारा दी। जनतन्त्र में मानव-न्याय को ही महत्त्व दिया गया है। कल्याणकारी राज्य का विस्तार मानव के लिए है, समस्त प्राणियों के लिए नहीं। मानव-हित को ध्यान में रखकर जनतन्त्र में अन्य प्राणियों के वध की छूट है; पर महावीर के शासन में मानव और अन्य प्राणी में कोई अन्तर नहीं। सबकी आत्मा समान है। इसीलिए महावीर की अहिंसा अधिक सूक्ष्म और विस्तृत है, महावीर की करुणा अधिक तरल और व्यापक है। वह प्राणिमात्र के हित की संवाहिका है।

हमें विश्वास है, ज्यों-ज्यों विज्ञान प्रगति करता जाएगा, त्यों-त्यों महावीर की विचारधारा अधिकाधिक युगानुकूल बनती जाएगी। □□

प्राचीन भारत में आज जैसी मुद्रण-कला नहीं थी; किन्तु तब लोगों का मन साहित्यमय था। उस समय के टिकाऊ ताड़ पत्र पर मोतियों को लजाने वाले अक्षरों में जो ग्रंथ मिलते हैं; वे आज के युग पर उपहास करते हैं और अपनी दुर्दशा पर आंसू बहाते हैं। घर-घर में ग्रंथों के पुलिन्दे रखे हैं"; किन्तु अपने पूर्वजों से संरक्षित उन ग्रंथों को आज की नयी पीढ़ी कहां देखती है ?

—मुनि विद्यानन्द

भगवान् महावीर का सन्देश और आधुनिक जीवन-संदर्भ

भगवान् महावीर ने जिस जीवन-दर्शन को प्रतिपादित किया है, वह आज के मानव की मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक दोनों तरह की समस्याओं का अहिंसात्मक समाधान है।

☐ डा. महावीरसरन जैन

भगवान् महावीर के युग में भौतिकवादी एवं संशयमूलक जीवन-दर्शन के मतानुयायी चिन्तकों ने समस्त धार्मिक मान्यताओं, चिरसंचित आस्था एवं विश्वास के प्रति प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया था। पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजित-केसकम्बलि, पकुध कच्चायन, संजय वेलट्ठिपुत्र आदि के विचारों को पढ़ने पर आभास हो जाता है कि उस युग के जनमानस को संशय, त्रास, अविश्वास, अनास्था, प्रश्नाकुलता आदि वृत्तियों ने किस सीमा तक जकड़ लिया था। ये चिन्तक जीवन में नैतिक एवं आचारमूलक सिद्धांतों की अवहेलना करने एवं उनका तिरस्कार करने पर वल दे रहे थे। मानवीय सौहार्द एवं कर्मवाद के स्थान पर घोर भोगवादी, अक्रियावादी एवं उच्छेदवादी वृत्तियाँ पनप रही थीं।

इन्हीं परिस्थितियों में भगवान् महावीर ने प्राणि-मात्र के कल्याण के लिए, अपने ही प्रयत्नों द्वारा उच्चतम विकास कर सकने का आस्थापूर्ण मार्ग प्रशस्त कर, अनेकान्तवादी जीवन-दृष्टि पर आधारित, स्याद्वादवादी कथन-प्रणाली द्वारा वहुधर्मी वस्तु को प्रत्येक कोण, दृष्टि एवं संभावना द्वारा उसके वास्तविक रूप में जान पाने का मार्ग वतलाकर सामाजिक जीवन की शान्ति के लिए अपरिग्रहवाद एवं अहिंसावाद का संदेश दिया।

आज भी भौतिक विज्ञान की चरम उन्नति मानवीय चेतना को जिस स्तर पर ले गयी है वहाँ उसने हमारी समस्त मान्यताओं के सामने प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है। समाज में परस्पर घृणा एवं अविश्वास तथा व्यक्तिगत जीवन में मानसिक तनाव एवं अशान्ति के कारण विचित्र स्थिति उत्पन्न होती जा रही है। आत्मग्लानि, व्यक्तिवादी आत्मविद्रोह, अराजकता, आर्थिक अनिश्चयात्मकता, हड़ताल और घेराव तथा जीवन की लक्ष्यहीन समाप्ति की प्रवृत्तियाँ वढ़ती जा रही हैं।

आज के और पहले के व्यक्ति, समाज और चिन्तन में अन्तर भी है। सम्पूर्ण भौतिक साधनों एवं जीवन की अनिवार्य वस्तुओं से वंचित होने पर भी पहले का व्यक्ति समाज से लड़ने की बात नहीं सोचता था; वह भाग्यवाद एवं नियतिवाद के सहारे जीवन को काट देता था। अपने वर्तमान जीवन की सारी मुसीबतों का कारण विगत जीवन के कर्मो को मान लेता था एवं अथवा अपने भाग्य का विधाता 'परमात्मा' को मानकर उसके प्रति श्रद्धा एवं अनन्यभाव के साथ 'अत्यनुराग' एवं 'समर्पण' कर संतोष पा लेता था।

आज का व्यक्ति स्वतन्त्र होने के लिए अभिशापित है। आज व्यक्ति परा-वलम्बी होकर नहीं, स्वतन्त्र निर्णयों के क्रियान्वयनों के द्वारा विकास करना चाहता है। वह अन्धी आस्तिकता एवं भाग्यवाद के सहारे जीना नहीं चाहता अपितु इसी जीवन में साधनों का भोग करना चाहता है; वह समाज से अपनी सत्ता की स्वीकृति तथा अपने अस्तित्व के लिए साधनों की माँग करता है तथा इसके अभाव में सम्पूर्ण व्यवस्था पर हथौड़ा चलाकर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देना चाहता है।

मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए जब हम उद्यत होते हैं तो हमारा ध्यान धर्म की ओर जाता है। इसका कारण यह है कि धर्म ही एक ऐसा तत्त्व है जो व्यक्ति की असीम कामनाओं को सीमित करता है तथा उसकी दृष्टि को व्यापक बनाता है। इस परिप्रेक्ष्य में हमें यह जान लेना चाहिये कि रूढ़िगत धर्म के प्रति आज का मानव किंचित् भी विश्वास जुटाने में असमर्थ है। शास्त्रों में यह बात कही गयी है केवल इसी कारण आज का मानव एवं विशेष रूप से बौद्धिक समुदाय एवं युवक उसे मानने को तैयार नहीं है।

आज वही धर्म एवं दर्शन हमारी समस्याओं का समाधान कर सकता है जो उन्मुक्त दृष्टि से विचार करने की प्रेरणा दे सके। आज जीवनोपयोगी दर्शन की स्थापना आवश्यक है।

धर्म एवं दर्शन का स्वरूप ऐसा होना चाहिये जो प्राणि-मात्र को प्रभावित कर सके एवं उसे अपने ही प्रयत्नों के बल पर विकास करने का मार्ग दिखा सके; दर्शन ऐसा नहीं होना चाहिये जो आदमी-आदमी के बीच दीवारें खड़ी करके चले। धर्म को पारलौकिक एवं लौकिक दोनों स्तरों पर मानव की समस्याओं के समाधान के लिए तत्पर होना होगा। प्राचीन दर्शन ने केवल अध्यात्म साधना पर बल दिया था और लौकिक जगत् की अवहेलना की थी। आज के वैज्ञानिक युग में बौद्धिकता का अतिरेक व्यक्ति के अन्तर्जगत् की व्यापक सीमाओं को संकीर्ण करने एवं उनके बहिर्जगत् की सीमाओं को प्रसारित करने में यत्नशील है। आज के धार्मिक एवं दार्शनिक मनीषियों को वह मार्ग खोजना है, जो मानव की बहिर्मुखता के साथ-साथ उसमें अंतर्मुखता का भी विकास कर सके। पारलौकिक चिन्तन व्यक्ति के आत्म-

सामाजिक समता एवं एकता की दृष्टि से श्रमण-परम्परा का अप्रतिम महत्त्व है। इस पम्परा में मानव को मानव के रूप में देखा गया है; वर्णों, वादों, संप्रदायों आदि का लेबिल चिपकाकर मानव-मानव को बांटने वाले दर्शन के रूप में नहीं। मानव-महिमा का जितना जोरदार समर्थन जैन दर्शन में हुआ है वह अनुपम है।

विकास में चाहे कितना ही सहायक हो; किन्तु उससे सामाजिक संवन्धों की सम्वद्धता, समरसता एवं समस्याओं के समाधान में अधिक सहायता नहीं मिलती। आज के भौतिकवादी युग में केवल वैराग्य से काम चलने वाला नहीं है; आज हमें मानव की भौतिकवादी दृष्टि को नियमित करना होगा; भौतिक स्वार्थपरक इच्छाओं को संयमित करना होगा, मन की कामनाओं में त्याग का रंग मिलाना होगा। आज मानव को एक ओर जहाँ इस प्रकार का दर्शन प्रभावित नहीं कर सकता कि केवल ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, वहाँ दूसरी ओर भौतिक तत्त्वों की ही सत्ता को सत्य मानने वाला दृष्टिकोण भी जीवन के उन्नयन और विकास में सहायक नहीं हो सकता। आज भौतिकता और आध्यात्मिकता के समन्वय की आवश्यकता है। इसके लिए धर्म एवं दर्शन की वर्तमान सामाजिक संदर्भों के अनुरूप एवं भावी मानवीय चेतना के निर्णायक रूप में व्याख्या करनी होगी। इस दृष्टि से आध्यात्मिक साधना के ऋपियों एवं मुनियों की धार्मिक साधना एवं गृहस्थ सामाजिक व्यक्तियों की धार्मिक साधना के अलग-अलग स्तरों को परिभापित करना आवश्यक है।

धर्म एवं दर्शन का स्वरूप ऐसा होना चाहिये जो वैज्ञानिक हो। वैज्ञानिकों की प्रतिपत्तिकाओं को खोजने का मार्ग एवं धार्मिक मनीपियों एवं दार्शनिक तत्त्व-चिन्तकों की खोज का मार्ग अलग-अलग हो सकता है; किन्तु उनके सिद्धान्तों एवं मूलभूत प्रत्ययों में विरोध नहीं होना चाहिये।

आज के मनुष्य ने प्रजातंत्रात्मक शासन-व्यवस्था को आदर्श माना है। हमारा धर्म भी प्रजातंत्रात्मक शासन-पद्धति के अनुरूप होना चाहिये।

प्रजातंत्रात्मक शासन-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त होते हैं। स्वतन्त्रता एवं समानता इस जीवन-पद्धति के दो वहुत वड़े जीवन-मूल्य हैं। दर्शन के धरातल पर भी हमें व्यक्ति-मात्र की समता एवं स्वतन्त्रता का इसके समानान्तर उद्‌घोष करना होगा।

युगीन विचारधाराओं पर जव हम दृष्टिपात करते हैं तो उनकी सीमाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। साम्यवादी विचारधारा समाज पर इतना वल दे देती है कि मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता के वारे में वह अत्यन्त निर्मम तथा अकरुण हो उठती

है। इसके अतिरिक्त वर्ग-संघर्ष एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चिन्तन के कारण यह समाज को बाँटती है, गतिशील पदार्थों में विरोधी शक्तियों के संघर्ष, या द्वन्द्व को जीवन की भौतिकतावादी व्यवस्था के मूल में मानने के कारण सतत संघर्षत्व की भूमिका प्रदान करती है, मानव-जाति को परस्पर अनुराग एवं एकत्व की आधार-भूमि प्रदान नहीं करती।

इसके विपरीत व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य पर बल देने वाली विचारधाराएँ समाज को मात्र व्यक्तियों का समूह मानती हैं और अपने अधिकारों के लिए समाज से सतत संघर्ष की प्रेरणा देती हैं तथा साधन-विहीन, असहाय, भूखे, पद-दलित लोगों के उद्धार के लिए इनके पास कोई विशेष सचेष्ट योजना नहीं है। फ्रायड व्यक्ति के चेतन, उपचेतन मन के स्तरों का विश्लेषण कर मानव की आदिम वृत्तियों के प्रकाशन में समाज की वर्जनाओं को अवरोधक मानता है तथा व्यक्ति के मूल्यों को सुरक्षित रखने के नाम पर व्यक्ति को समाज से बाँधता नहीं, काटता है।

इस प्रकार युगीन विचारधाराओं से व्यक्ति और समाज के बीच, समाज की समस्त इकाइयों के बीच सामरस्य स्थापित नहीं हो पाता।

इसलिए आज ऐसे दर्शन की आवश्यकता है जो सामाजिकों में परस्पर सामाजिक सौहार्द एवं बन्धुत्व का वातावरण निर्मित कर सके। यदि यह न हो सका तो किसी भी प्रकार की व्यवस्था एवं शासन-पद्धति से समाज में शान्ति स्थापित नहीं हो पायेगी। □

इस दृष्टि से, हमें यह विचार करना है कि भगवान् महावीर ने ढाई हजार वर्ष पूर्व अनेकान्तवादी चिन्तन पर आधारित अपरिग्रह एवं अहिंसावाद से संयुक्त जिस ज्योति को जगाया था उसका आलोक हमारे आज के अन्धकार को दूर कर सकता है या नहीं?

आधुनिक वैज्ञानिक एवं बौद्धिक युग में वही धर्म एवं दर्शन सर्वव्यापक हो सकता है जो मानव-मात्र को स्वतन्त्रता एवं समता की आधार-भूमि प्रदान कर सकेगा। इस दृष्टि से भारत में विचार एवं दर्शन के धरातल पर जितनी व्यापकता, सर्वांगीणता एवं मानवीयता की भावना रही है, समाज के धरातल पर वह वैसी नहीं रही है।

दार्शनिक दृष्टि से यहाँ यह माना गया कि जगत् में जो कुछ स्थावर-जंगम संसार है वह सब एक ही ईश्वर से व्याप्त है; 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ। यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस प्रकार की मान्यताओं के बावजूद भी यहाँ अद्वैत दर्शन के समानान्तर समाज-दर्शन का विकास नहीं हो सका।

शांकर वेदान्त में केवल ब्रह्म को सत्य माना गया तथा जगत् को स्वप्न एवं मायारचित गन्धर्व नगर के समान पूर्णतया मिथ्या एवं असत्य घोषित किया गया। इस दर्शन के कारण आध्यात्मिक साधकों के लिए जगत् की सत्ता ही असत्य एवं मिथ्या हो गयी। परिणाम यह हुआ कि दार्शनिकों का सारा ध्यान 'परब्रह्म'-प्राप्ति में ही लगा रहा और इस प्रकार दर्शन के धरातल पर तो 'अद्वैतवाद' की स्थापना होती रही; किन्तु दूसरी ओर समाज के धरातल पर 'समाज के हितैषियों' ने उसे साग्रह वर्णो, जातियों, उपजातियों में बाँट दिया। एक परब्रह्म द्वारा बनाये जाने पर भी 'जन्मना' ही आदमी और आदमी के बीच तरह-तरह की दीवारें खड़ी कर दी गयीं।

जात-पाँत एवं ऊँच-नीच की भेद-भावना के विकास में मध्ययुगीन राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था एवं धार्मिक आडम्बरों का बहुत योग रहा। इस युग में राजागण सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिए 'शरीर' को अमर बना रहे थे और देव-मन्दिर सुरति-क्रिया-रत स्त्री-पुरुषों के चित्रों से सज्जित हो रहे थे।

इस्लाम के आगमन के पश्चात् भक्ति का विकास हुआ। आरम्भ में इसका स्वरूप सात्विक तथा लक्ष्य मनुष्य की वृत्तियों का उदात्तीकरण रहा; किन्तु मधुरा भाव एवं परकीया प्रेमवाद में परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सामन्तीकरण की वृत्तियाँ आ गयीं। राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था एवं भक्ति का विकास लगभग समान आयामों में हुआ।

'भक्ति' में भक्त भगवान का अनुग्रह प्राप्त करना चाहता है तथा यह मानकर चलता है कि बिना उसके अनुग्रह के कल्याण नहीं हो सकता। राजन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था में भी दरबारदारी 'राजा' का अनुग्रह प्राप्त करना चाहते हैं; उसकी कृपा पर ही राजाश्रय निर्भर करता है। इस प्रकार मध्ययुगीन धार्मिक आडम्बरों का प्रभाव राजदरबारों पर पड़ा तथा राजतन्त्रात्मक विलास का प्रभाव देव-मन्दिरों पर। राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था में समाज में व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं समता की भावना नहीं होती; राजा की इच्छानुसार सम्पूर्ण व्यवस्था परिचालित होती है; भक्ति-सिद्धान्त में भी साधक साधना के ही बल पर मुक्ति का अधिकार प्राप्त नहीं कर पाता, उसके लिए भगवत्कृपा होना जरूरी है।

इन्हीं 'राजतन्त्रात्मक' एवं धार्मिक व्यवस्थाओं के कारण सामाजिक समता की भावना निर्मूल होती गयी।

□□

आज स्थितियाँ बदल गयी हैं। प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को समान संवैधानिक अधिकार प्राप्त हैं। परिवर्तित युग में समयानुकूल धर्म

एवं दर्शन के संदर्भ में जब हम जैन-दर्शन एवं भगवान् महावीर की वाणी पर विचार करते हैं, तो पाते हैं कि जैन-दर्शन समाज के प्रत्येक मानव के लिए समान अधिकार जुटाता है। सामाजिक समता एवं एकता की दृष्टि से श्रमण-परम्परा का अप्रतिम महत्त्व है। इस परम्परा में मानव को मानव के रूप में देखा गया है; वर्णों, वादों, संप्रदायों आदि की चिगत्ती (लेबिल) चिपकाकर मानव-मानव को बाँटने वाले दर्शन के रूप में नहीं। मानव-महिमा का जितना जोरदार समर्थन जैन-दर्शन में हुआ है वह अनुपम है।

महावीर ने आत्मा की स्वतन्त्रता की प्रजातन्त्रात्मक उद्घोषणा की। उन्होंने कहा कि समस्त आत्माएँ स्वतन्त्र हैं, प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। उसके गुण और पर्याय भी स्वतन्त्र हैं। विवक्षित किसी एक द्रव्य तथा उसके गुणों एवं पर्यायों का अन्य द्रव्य या उसके गुणों और पर्यायों के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस दृष्टि से सब आत्माएँ स्वतन्त्र हैं, भिन्न-भिन्न हैं, पर वे एक-सी अवश्य है, इस कारण, उन्होंने कहा कि सब आत्माएँ समान हैं, पर एक नहीं।

स्वतन्त्रता एवं समानता दोनों की इस प्रकार की परम्परावलम्वित व्याख्या अन्य किसी दर्शन में दुर्लभ है।

उपनिषदों में जिस 'तत्त्वमसि' सिद्धान्त का उल्लेख हुआ है उसी का जैन-दर्शन में नवीन आविष्कार एवं विकास है एवं प्राणि-मात्र की पूर्ण स्वतन्त्रता, समता एवं स्वावलम्बित स्थिति का दिग्दर्शन कराया गया है। संसार में अनन्त प्राणी हैं और उनमें से प्रत्येक में जीवात्मा विद्यमान है। कर्मबन्ध के फलस्वरूप जीवात्माएँ जीवन की नाना दशाओं, नाना योनियों, नाना प्रकार के शरीरों एवं अवस्थाओं में परिलक्षित होती हैं; किन्तु सभी में ज्ञानात्मक विकास के द्वारा उच्चतम विकास की समान शक्तियाँ निहित हैं।

आचारांग में बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि बन्धन से मुक्त होना तुम्हारे ही हाथ में है—

बन्धप्प मोक्खो तुज्झज्झत्थेव —आचारांग ५।२।१५०

जब सब प्राणी अपनी मुक्ति चाहते है तथा स्वयं के प्रयत्नों से ही उस मार्ग तक पहुँच सकते हैं तथा कोई किसी के मार्ग में बाधक नहीं तब फिर किसी से संघर्ष का प्रश्न ही कहाँ उठता है। शारीरिक एवं मानसिक विषमताओं का कारण कर्मों का भेद है। जीव शरीर से भिन्न एवं चैतन्य का कारण है। जैन दर्शन में जीव की सत्ता शाश्वत, चिरन्तन, स्वयंभूत, अखण्ड, अभेद्य, दिव्य, कर्त्ता एवं अविनाशी मानी गयी है। सूत्रकृतांग में निर्भ्रान्त रूप में प्रतिपादित किया गया

है कि आत्मा अपने स्वयं के उपार्जित कर्मों से ही बँधता है तथा कृतकर्मों को भोगे विना मुक्ति नहीं है—

सयमेव कडेहिं गाहइ नो तस्स मुच्चेज्जडपुट्ठयं' —सूत्रकृतांग १।२।१।४

जब सर्व कर्मों का क्षय होता है तो प्रत्येक जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त दर्शन तथा अनन्त शक्ति से स्वतः सम्पन्न हो जाता है।

इसके अतिरिक्त जैन-दर्शन में अहिंसावाद पर आधारित क्षमा, मैत्री, स्वसंयम एवं पर-प्राणियों को आत्म-तुल्य देखने की भावना पर बहुत बल दिया गया है। इस विचार के पालन से परस्पर सौहार्द एवं बन्धुत्व के वातावरण का सहज निर्माण सम्भव है। जैन-दर्शन में यह भी निरूपित किया गया है कि जो ज्ञानी आत्मा इस लोक में छोटे-बड़े सभी प्राणियों को आत्म-तुल्य देखते हैं, षट्द्रव्यात्मक इस महान् लोक का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते हैं तथा अप्रमत्तभाव से संयम में रहते हैं वे ही मोक्ष-प्राप्ति के अधिकारी हैं। इसी कारण आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् महावीर के उपदेश को 'सर्वोदय-तीर्थ' कहा है।

आधुनिक बौद्धिक एवं तार्किक युग में दर्शन ऐसा होना चाहिये जो आग्रह-रहित दृष्टि से सत्यान्वेषण की प्रेरणा दे सके। इस दृष्टि से जैन-दर्शन का अनेकान्तवाद व्यक्ति के अहंकार को झकझोरता है; उसकी आत्यन्तिक दृष्टि के सामने प्रश्नवाचक चिह्न लगाता है। अनेकान्तवाद यह स्थापना करता है कि प्रत्येक पदार्थ में विविध गुण एवं धर्म होते हैं। सत्य का सम्पूर्ण साक्षात्कार सामान्य व्यक्ति द्वारा एकदम सम्भव नहीं हो पाता। अपनी सीमित दृष्टि से देखने पर हमें वस्तु के एकांगी गुण-धर्म का ज्ञान होता है। विभिन्न कोणों से देखने पर एक ही वस्तु हमें भिन्न प्रकार की लग सकती है तथा एक स्थान से देखने पर भी विभिन्न दृष्टाओं की प्रतीतियाँ भिन्न हो सकती हैं। भारत में जिस क्षण कोई व्यक्ति 'सूर्योदय' देख रहा है; संसार में दूसरे स्थल से उसी क्षण किसी व्यक्ति को 'सूर्यास्त' के दर्शन होते हैं। व्यक्ति एक ही होता है—उससे विभिन्न व्यक्तियों के अलग-अलग प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। एक ही वस्तु में परस्पर दो विरुद्ध धर्मों का अस्तित्व सम्भव है। इसमें अनिश्चितता की मनःस्थिति बनाने की बात नहीं है; वस्तु के सापेक्ष दृष्टि से विरोधी गुणों को पहचान पाने की बात है। सार्वभौमिक दृष्टि से देखने पर जो तत्स्वरूप है, एक है, सत्य है, नित्य है वही सीमित एवं व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर अतत्, अनेक, असत्य एवं अनित्य है।

पदार्थ को प्रत्येक कोण से देखने का प्रयास करना चाहिये। हम जो कह रहे हैं—केवल यही सत्य है—यह हमारा आग्रह है। हम जो कह रहे हैं—यह भी अपनी दृष्टि से ठीक हो सकता है। हमें यह भी देखना चाहिये कि विचार को

व्यक्त करने का हमारे एवं दूसरे व्यक्तियों के पास जो साधन है उसकी कितनी सीमाएँ हैं। काल की दृष्टि से भाषा के प्रत्येक अवयव में परिवर्तन होता रहता है। क्षेत्र की दृष्टि से भाषा के रूपों में अन्तर होता है। हम जिन शब्दों एवं वाक्यों से संप्रेपण करना चाहते हैं उसकी भी कितनी सीमाएँ हैं। "राधा गाने वाली है" इसका अर्थ दो श्रोता अलग-अलग लगा सकते हैं। प्रत्येक शब्द भी 'वस्तु' को नहीं किसी वस्तु के भाव को वतलाता है जो वक्ता एवं श्रोता दोनों के सन्दर्भ में बुद्धिस्थ मात्र होता है। "प्रत्येक व्यक्ति अपने घर जाता है" किन्तु प्रत्येक का 'घर' अलग होता है। संसार में एक ही प्रकार की वस्तु के लिए कितने भिन्न शब्द हैं–इसकी निश्चित संख्या नहीं वतलायी जा सकती। एक ही भापा में एक ही शब्द भिन्न अर्थो और अर्थ-छायाओं में प्रयुक्त होता है, इसी कारण अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति न करा पाने पर वक्ता को श्रोता से कहना पड़ता है कि मेरा यह अभिप्राय नहीं था अपितु मेरे कहने का मतलव यह था–दूसरे के अभिप्राय को न समझ सकने के कारण इस विश्व में कितने संघर्ष होते हैं? स्याद्वाद वस्तु को समग्र रूप में देख सकने; वस्तु के विरोधी गुणों की प्रतीतियों द्वारा उसके अन्तिम सत्य तक पहुँच सकने की क्षमता एवं पद्धति प्रदान करता है। जव कोई व्यक्ति खोज के मार्ग में किसी वस्तु के सम्वन्ध में अपने 'सन्धान' को अन्तिम मानकर वैठ जाना चाहता है तव स्याद्वाद सम्भावनाओं एवं शक्यताओं का मार्ग प्रशस्त कर अनुसन्धान की प्रेरणा देता है। स्याद्वाद केवल सम्भावनाओं को ही व्यक्त करके अपनी सीमा नहीं मान लेता प्रत्युत समस्त सम्भावित स्थितियों की खोज करने के अनन्तर परम एवं निरपेक्ष सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास करता है।

स्याद्वादी दर्शन में 'स्यात्' निपात 'शायद', 'सम्भवत:', 'कदाचित्' का अर्थवाहक न होकर समस्त सम्भावित सापेक्ष्य गुणों एव धर्मो का वोध कराकर ध्रुव एवं निश्चय तक पहुँच पाने का वाहक है; 'व्यवहार' में वस्तु में अन्तर्विरोधी गुणों की प्रतीति कर लेने के उपरान्त 'निश्चय' द्वारा उसको उसके समग्र एवं अखण्ड रूप में देखने का दर्शन है। हाथी को उसके भिन्न-भिन्न खण्डों से देखने पर जो विरोधी प्रतीतियां होती हैं उसके अनन्तर उसको उसके समग्र रूप में देखना है। इस प्रकार यह संदेह उत्पन्न करने वाला दर्शन न होकर सन्देहों का परीक्षण करने के उपरान्त उनका परिहार कर सकने वाला दर्शन है। यह दर्शन तो शोध की वैज्ञानिक पद्धति है। "विवेच्य" को उसके प्रत्येक स्तरानुरूप विश्लेपित कर विवेचित करते हुए वर्गवद्ध करने के अनन्तर संश्लिप्ट सत्य तक पहुँचने की विधि है। विज्ञान केवल जड़ का अध्ययन करता है। स्याद्वाद ने प्रत्येक सत्य की खोज की पद्धति प्रदान की है। इस प्रकार यदि हम प्रजातन्त्रात्मक युग में वैज्ञानिक ढंग से सत्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं तो अनेकान्त से दृष्टि लेकर स्याद्वादी प्रणाली द्वारा ही वह कर सकते हैं।

महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन का सापेक्षवाद एवं जैन-दर्शन का अनेकान्तवाद वैचारिक धरातल काफी निकट है। आइन्स्टीन मानता है कि विविध सापेक्ष्य स्थितियों

में एक ही वस्तु में विविध विरोधी गुण पाये जाते हैं। 'स्यात्' अर्थ की दृष्टि से 'सापेक्ष्य' के सबसे निकट है।

आइन्स्टीन के मतानुसार सत्य दो प्रकार के होते हैं—(१) सापेक्ष्य सत्य, और (२) नित्य सत्य।

आइन्स्टीन के मतानुसार हम केवल सापेक्ष सत्य को जानते हैं; नित्य सत्य का ज्ञान तो सर्व विश्वदृष्टा को ही हो सकता है।

जैन-दर्शन एकत्व एवं नानात्व दोनों को सत्य मानता है। अस्तित्व की दृष्टि से सब द्रव्य एक हैं, अतः एकत्व भी सत्य है; उपयोगिता की दृष्टि से द्रव्य अनेक हैं अतः नानात्व भी सत्य है।

वस्तु के गुण-धर्म चाहे नय-विषयक हों चाहें प्रमाण-विषयक, वे सापेक्ष होते हैं। वस्तु को अखण्ड भाव से जानना प्रमाण-ज्ञान है तथा वस्तु के एक अंश को मुख्य करके जानना नय-ज्ञान है।

विज्ञान की जो अध्ययन-प्रविधि है, जैन-दर्शन में ज्ञानी की वही स्थिति है। जो नय-ज्ञान का आश्रय लेता है वह ज्ञानी है। अनेकान्तात्मक वस्तु के एक-एक अंश को ग्रहण करके ज्ञानी ज्ञान प्राप्त करता चलता है। एकान्त के आग्रह से मुक्त होने के लिए यही पद्धति ठीक है।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने जिस जीवन-दर्शन को प्रतिपादित किया है, वह आज के मानव की मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक दोनों तरह की समस्याओं का अहिंसात्मक समाधान है। यह दर्शन आज की प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था एवं वैज्ञानिक सापेक्षवादी चिन्तन के भी अनुरूप है। इस सम्बन्ध में सर्वपल्ली राधा-कृष्णन् का यह वाक्य कि" जैन-दर्शन सर्व-साधारण को पुरोहित के समान धार्मिक अधिकार प्रदान करता है" अत्यन्त संगत एवं सार्थक है। "अहिंसा परमो धर्मः" को चिन्तन-केन्द्रक मानने पर ही संसार से युद्ध एवं हिंसा का वातावरण समाप्त हो सकता है। आदमी के भीतर की अशान्ति, उद्वेग एवं मानसिक तनावों को यदि दूर करना है तथा अन्ततः मानव के अस्तित्व को बनाये रखना है तो भगवान् महावीर की वाणी को युगीन समस्याओं एवं परिस्थितियों के संदर्भ में व्याख्यायित करना होगा। यह ऐसी वाणी है जो मानव-मात्र के लिए समान मानवीय मूल्यों की स्थापना करती है; सापेक्षवादी सामाजिक संरचनात्मक व्यवस्था का चिन्तन प्रस्तुत करती है; पूर्वाग्रह-रहित उदार दृष्टि से एक-दूसरे को समझने और स्वयं को तलाशने-जानने के लिए अनेकान्तवादी जीवन-दृष्टि प्रदान करती है; समाज के प्रत्येक सदस्य को समान अधिकार एवं स्व-प्रयत्न से विकास करने के साधन जुटाती है। □□

जब मुझे अकर्त्ताभाव की अनुभूति हुई

(६ जनवरी १९७३ की रात कोटा के 'विश्वधर्म न्यास' ने वीरेन्द्रकुमार जैन के प्रसिद्ध उपन्यास 'मुक्तिदूत' को २५०१ रु. के पुरस्कार से सम्मानित किया था। उस अवसर पर कृतज्ञता-ज्ञापन करते हुए वीरेन्द्र ने अपनी भावाविष्ट वाणी से सात हजार श्रोताओं को एक चमत्कारिक मंत्र-मोहिनी में स्तंभित कर दिया था। देर-अबेर ही सही, वीरेन्द्र भाई की डायरी में लगभग शब्दशः आलेखित उस भाषण को आज यहाँ प्रस्तुत करते सचमुच हमें प्रसन्नता होती है। एक वक्ता और हजारों श्रोताओं की तदाकारिता का एक अमर क्षण इन पंक्तियों में संगोपित है।—सं.)

☐ वीरेन्द्रकुमार जैन

आपने मुझे याद किया, मैं कृतज्ञ हूँ। तीन जनवरी को अचानक तार-चिट्ठी पाकर लगा कि एकदम ही नीरव, निरीह हो गया हूँ। अपने से अलग अपने को देखा: हाँ, आज से सत्ताईस वर्ष पहले, एक अट्ठाईस बरस के लड़के ने 'मुक्तिदूत' लिखा था। आज इतने वर्ष बाद उस पुस्तक की यह स्वीकृति देखकर प्रतीति हुई कि उसका लेखक मैं नहीं; वह कोई और ही था। एक अद्भुत अकर्त्ताभाव से मैं अभिभूत हो उठा हूँ।......कौन होता हूँ मैं, इसको लिखने वाला? आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले भगवान महावीर की कैवल्य-ज्योति में ही 'मुक्तिदूत' लिखा जा चुका था। मेरी क़लम से केवल उस ज्योति-लेखा का अनावरण हुआ है। हाल ही में कहीं पढ़ा था: तीर्थंकर जन्मना और स्वभाव से ही निरीह होते हैं। वे स्वेच्छा से कुछ नहीं करते: उनके द्वारा अनायास ही नाना प्रवृत्ति-पराक्रम उनके युग-तीर्थ में होते हैं। वे निसर्ग से ही कर्तृत्व के अहंकार से ऊपर होते हैं। सहज आत्म-स्वरूप रह कर ही वे महाविष्णु, लोक में युग-तीर्थ का प्रवर्त्तन करते हैं।

यह मेरा परम सौभाग्य है कि हमारे युग के लोकनायक तीर्थंकर महावीर के आगामी महानिर्वाणोत्सव के उपलक्ष्य में ही 'मुक्तिदूत' को यह पुरस्कार प्रदान किया

गया है। यह उन भगवान की ही जिनेश्वरी सरस्वती का सम्मान है: हमारा नहीं! उन महाप्रतापी ज्योतिर्धर के पुण्य-परमाणु, और उनकी कैवल्य-प्रभा के प्रकाश-परमाणु इस समय समस्त भूमण्डल के लोकाकाश में उभर आये हैं। उन्हीं में से एकाएक उन प्रभु की सारस्वत कृपा के वरदान-स्वरूप यह कृति भी फिर से उभर आयी है। हमारा इसमें कोई कर्तृत्व नहीं। 'चिद्भाव कर्म, चिदेश कर्त्ता, चेतना किरिया जहाँ' के अनुसार हम तो केवल अपने ही चिद्-स्वरूप के कर्त्ता हैं। उस परम कर्तृत्व की स्फुरणा में से जो भी कोई कृतित्व यहाँ वाणी में प्रकट होता है, उसके हम निमित्त मात्र होते हैं। वासुदेव कृष्ण ने ठीक ही कहा था: 'निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन्!'

आप सब का अतिशय कृतज्ञ हूँ, कि इस सम्मान के निमित्त से आपने मुझे अपना निरीह निज-स्वरूप महसूस करने का अवसर दिया। लगता है, मिट गया हूँ, आपा खो गया है: केवल शुद्ध आप्तभाव के चरणों में नीरव, नम्रीभूत, समर्पित हो कर रहा गया हूँ।

गत अक्टूबर में मेरी पत्नी अनिला रानी जैन अपनी एक 'मानता' पूरी करने को श्रीमहावीरजी जाना चाहती थीं। मेरा बेटा चि. डॉक्टर ज्योतीन्द्र जैन, हाल ही में वियेना विश्वविद्यालय से डॉक्ट्रेट लेकर लौटा था। वह निर्वाणोत्सव के उपलक्ष्य में स्विट्जरलेण्ड में होने वाली जैन कला-संस्कृति-प्रदर्शनी के एक संयोजक के नाते भारत में जैन कला-संस्कृति के अध्ययनार्थ एक फ़ेलोशिप लेकर यूरोप से आया था। वह प्रमुख जैन तीर्थो और संस्कार-क्षेत्रों में घूम कर, वर्तमान जैन साधु-श्रावक, पूजा-उपासना, प्रतिष्ठा आदि की चर्या और पद्धति का फोटोपूर्वक अध्ययन करना चाहता था। इस निमित्त उसे भी श्रीमहावीरजी जाना था। मेरे मन में भगवान् पर महा-काव्य लिखने का संकल्प उदित हो रहा था। सो मैं भी उनके साथ हो लिया।

मेरे अंतरंग में स्पष्ट प्रतीति-सी हो रही थी, कि श्रीगुरु की जिस यौगिक कृपा से मैं इस समय आविष्ट हूँ, उसके तले श्री महावीर प्रभु के अनुग्रह का कोई दृष्टान्त वहाँ मुझे अवश्य प्राप्त होगा।......उस कृपा का प्रथम चरण यह कि श्री महावीरजी में भगवद्पाद गुरुदेव श्री विद्यानन्द स्वामी का दर्शन-मिलन पहली बार उपलब्ध हुआ। परिचय पाते ही वे बोले: "बीस बरस से मैं तुमको खोज रहा हूँ। तुम्हारा 'मुक्तिदूत' मैं कई बरस तक सिरहाने लेकर सोता था। उसे बारम्बार पढ़ कर मैंने हिन्दी का अभ्यास किया। कई वाक्य उसके मुझे याद हो गये थे। मुझे तुम्हारी क़लम चाहिये—निर्वाणोत्सव के उपलक्ष्य में भगवान् के युगतीर्थ का और उनकी जीवन-लीला का संकीर्तन-गान करने के लिए।' मैं कृतार्थता से स्तब्ध हो गया। एक भव्य दिगम्बर योगी, महावीर का आत्मज, मुझे खोज रहा था!.....मेरा कवित्व धन्य हो गया: कवि के रूप में मेरा जन्म लेना सार्थक हो गया। योगी

इस युग के चरित्र-नायक, महाविष्णु महावीर स्वयम् ही क्या कम समर्थ हैं? उनके चरित्र-गान में कवि लीन हो गया, तो चरितार्थ आकाश में से उतरेगा। "मेरा निर्णय वाह्य सम्पत्तिमान न वदल सके : किन्तु स्वयम् परम लोकरंजन भगवान् ने अपने ही एक प्रतिरूप दिगम्वर योगी के माध्यम से मेरा निर्णय अपने हाथ में ले लिया।"

कवि को खोज रहा था: और कवि योगी को खोज रहा था। दो तलाशें मिलीं: और एक उपलब्धि हो गयी।

मेरे मन में भगवान् पर महाकाव्य लिखने का अटल संकल्प था। महावीर से वढ़कर उसका विषय क्या हो सकता था? अपने रस के आप ही उत्स थे महावीर: मनुष्य की हरसम्भव कामना की वे अन्तिम परिपूर्ति थे, परितृप्ति थे। सारे रसों के उद्गम थे वे परम परमेश्वर: और सारे रसों के परिपूर्ण समापन भी थे। काव्य के उन्मुक्त, ऊर्ध्व कल्प-उड्डयन के विना उन अनन्त विराट् आकाश-पुरुष को शब्दों में वाँधने का और कोई उपाय नहीं है। इसीसे मेरा आग्रह था कि मैं भगवान पर महाकाव्य ही लिखूँगा: और कोई विधा नहीं स्वीकारूँगा। सो अपना यह निश्चय मैंने मुनिश्री के समक्ष प्रकट किया।.........दो टूक उत्तर में निर्णय दे दिया योगी ने: "महाकाव्य अवश्य लिखोगे, पर वाद में। पहले 'मुक्तिदूत' जैसा ही एक उपन्यास भगवान् पर लिख देना होगा। उपन्यास की लोकप्रिय विधा के द्वारा ही भगवान इस देश के कोटि-कोटि प्रजाजनों के हृदय तक पहुँच सकेंगे.....!' श्रीगुरु के उस अविकल्प आदेश को सामने पा कर मैं स्तव्ध हो रहा। मैंने फिर से अपने मनोभाव को अधिक स्पष्ट किया; किन्तु योगी का निर्णय अटल रहा। मैं विनत हो गया।

इससे पूर्व मेरे कुछ क़द्रदान हितैषियों ने और श्री-सम्पन्न स्नेहियों ने आग्रह किया था कि महावीर पर मैं फिलहाल काव्य नहीं, उपन्यास ही लिखूँ: लोकप्रिय विधा में ही रचना करूँ। मुनिश्री का आग्रह भी यही था। मगर मैं पहले अपने निश्चय पर अडिग रहा, और उसकी खातिर उपन्यास के लिए प्रस्तुत आर्थिक प्रवन्ध की योजना को भी मैंने अस्वीकार कर दिया। मैं उस समय अभाव में था, मेरे सामने कोई आर्थिक अवलम्व नहीं था। योगक्षेम एक प्रश्न-चिह्न वन कर सम्मुख खड़ा था। मगर फिर भी मैंने उपरोक्त आर्थिक प्रवन्ध भी अस्वीकार किया, इस संकल्प के कारण कि लिखूँगा तो काव्य ही, उपन्यास नहीं। हृदय में एक दुर्द्धर्ष संकल्प-शक्ति और आत्मनिष्ठा जाग उठी थी।.....लग रहा था कि, आकाश-पुरुष महावीर का लीला-गान करने के लिए मेरे कवि को आकाशवृत्ति स्वीकार लेनी चाहिये। इस युग के चरित्रनायक, महाविष्णु महावीर स्वयम् ही क्या कम समर्थ हैं? उनके चरित्र-गान में कवि लीन हो गया, तो चरितार्थ आकाश में से उतरेगा।

मेरा निर्णय वाह्य सम्पत्तिमान न वदल सके: किन्तु स्वयम् परम लोकरंजन भगवान् ने अपने ही एक प्रतिरूप दिगम्वर योगी के माध्यम से मेरा निर्णय अपने हाथ में ले लिया।...... 'एवमस्तु' कह कर मैं नमित हो गया, भगवद्पाद गुरुदेव श्री विद्यानन्द स्वामी के चरणों में। और आकाशवृत्तिचारी विद्यानन्द ने अपने एक इंगित मात्र से, मानो आकाश में से ही मेरा चरितार्थ मेरे सामने प्रस्तुत कर दिया।....

....उसी दोपहर इन्दौर से, मेरे इन्दौर-काल के स्नेही और मध्यप्रदेश के एक सुप्रतिष्ठ राज-समाज नेता श्री वावूभाई पाटोदी, श्री महावीरजी आ पहुँचे। मुनिश्री के चरणों में वरसों वाद हमारा अद्‌भुत स्नेह-मिलन हुआ। मुनिश्री द्वारा ही स्थापित इन्दौर की, श्री वीर निर्वाण ग्रंथ-प्रकाशन समिति' के मंत्री हैं वावूभाई। मुनिश्री ने कवि का चरितार्थ-भार उन्हें सहेज दिया।.....उस तीसरे पहर अपने जीवन में आकाश-वृत्ति की अमोघता का एक ज्वलन्त अनुभव हुआ। काश, हम उस 'योगक्षेमवहाम्यऽहं' पर अपने को समूचा छोड़ सकें! एक वार तो छोड़ कर देखें: वह अचूक भार उठा ही लेता है।

श्री महावीरजी में मुझे श्री भगवान् की चमत्कारिक दर्शन-कृपा का अनुभव भी हुआ। सान्ध्य आरती की वेला में जव चाँदनपुर के वावा के समक्ष, घंटा-घड़ियाल के अनवरत नाद के साथ, सौ-सौ दीपों की आरतियाँ झलमलाती हुई उठती हैं; उस क्षण प्रभु को अत्यन्त समीप, ठीक अपने सम्मुख पा कर, मेरी आँखों से अविरल आँसू वहने लगे। रक्त-मांस के जीवित मानव चेहरे से भी, पाषाण-मूर्ति में अवतरित प्रभु का वह मुख-मण्डल अधिक जीवन्त, तरल, ऊष्मा-दीपित लगा। अन्तर्तम की आत्मीयता से सारे मन-प्राण आँसुओं में उमड़ आये। भगवान् की उस विश्व-वल्लभ छाती में सर ढाल देने को मैं आकुल-व्याकुल हो उठा। तीन दिन-रात निरन्तर उस तीर्थ-भूमि के कण-कण में, सारे आकाश-वातास में, भगवान की जीवन्त उपस्थिति का चमत्कारिक वोध होता रहा। और दूसरी ओर भगवद्पाद गुरुदेव विद्यानन्द में अपने उन तीर्थेश्वर प्रभु को चलते-फिरते, धर्मदेशना करते देखा। उस दिगम्वर सिंह में महावीर की नरसिंह मुद्रा का ज्वलन्त साक्षात्कार हुआ। देव-गुरु-शास्त्र का समन्वित साकार दर्शन पाया। और श्री महावीर प्रभु का वही अनुग्रह आज मुझे सहसा ही कोटा की इस भूमि में ले आया। अद्‌भुत है उस अनन्त पुरुष का खेल।

इस प्रसंग पर यह स्मरण होना स्वाभाविक है कि आज से सत्ताईस वर्ष पूर्व, केवल हिन्दी के ही नहीं, किन्तु समस्त भारत के एक मूर्धन्य कथाकार तथा चिन्तक श्री जैनेन्द्रकुमार ने, जैन पुराण-कथा पर आधुनिक साहित्य-स्वरूप में सृजनात्मक कार्य करने का प्रस्ताव मेरे सामने सहसा ही रक्खा था। योगायोग कि उस समय ठीक यही स्वप्न और प्रेरणा मेरे मन में भी जाग रही थी। एक टेलीपेथी-सी हुई। मैंने स्वीकार लिया। जैनेन्द्रजी ने इस योजना को भारतीय ज्ञानपीठ से सम्वद्ध करवा

दिया। सुश्री रमारानी जैन और साहु शांतिप्रसाद जैन ने इसका स्वागत किया। ज्ञानपीठ ने मेरा लेखन-भार उठा लिया। और ज्ञानपीठ के एक आद्य स्वप्नदृष्टा और वर्तमान मंत्री श्रीयुत बाबू लक्ष्मीचंद्र जैन अपने मौन स्नेह और आत्मीय प्रेरणा से पत्रों द्वारा मेरी सृजन-साधना को बराबर ही सिंचित करते चले गये। पूज्य जैनेन्द्रजी, मातृ-पितृवत् साहु-दम्पत्ति तथा भाई साहब लक्ष्मीचन्द्रजी के संयुक्त सारस्वत प्रेम की आधार-शिला पर ही 'मुक्तिदूत' का यह रोमानी रत्न-प्रासाद उठा। इन आत्मीयों के प्रति मेरी कृतज्ञता शब्दों से परे है।

कोटा के विश्वधर्म-न्यास के प्रमुख ट्रस्टी श्री त्रिलोकचन्द कोठारी, श्री मदनलाल पाटनी तथा श्री गणेशीलाल रानीवाला और उनके अन्य सहयोगियों ने, पूज्य मुनिश्री की प्रेरणा से, हमारी सरस्वती को जिस अपूर्व स्नेह-सम्मान से अभिषिक्त किया है, उसे आभार-प्रदर्शन की औपचारिकता द्वारा नहीं चुकाया जा सकता। मेरे इन्दौर काल के स्नेही साहित्य-संगी भाई श्री नाथूलाल जैन 'वीर' की आत्मीय क़लम के बिना यहाँ 'मुक्तिदूत' और उसके रचनाकार का यथेष्ट परिचय प्रकट होना असंभव था। गोपन प्रीति का यह प्रकाश मुझे कभी नहीं भूलेगा। और यह भी एक दिव्य संयोग ही है कि इन्दौर के होलकर कॉलेज के दिनों में मेरे किशोर विद्या-सहचर भाई अक्षयकुमार जैन के हाथों ही कवि के गले में यह पड़ी है। अक्षयभाई ने मेरे परिचय में अभी कहा था—'वीरेन्द्र तो वसन्त के पक्षी हैं, वे तो आज भी युवा ही हैं, किन्तु मैं तो बूढ़ा हो गया।' पर में कहना चाहता हूँ कि मैं वसन्त का पक्षी हूँ, तो अक्षय मेरे वसन्त हैं। और यह अभी प्रमाणित हो गया। उन्हीं के हृदय के वसन्ताकाश में यह कवि-पंछी अभी एक अजीब उड़ान की मुद्रा में आ गया है।

हमारे युग-शीर्ष पर बैठे हैं, कैवल्य-सूर्य तीर्थंकर महावीर: और उनकी जिनेश्वरी भगवती सरस्वती की कोख से ही मेरे कवि का जन्म हुआ है, और परम भागवद् विद्यानन्द स्वामी की प्रतापी गुरुमूर्ति से आज जिनशासन उद्योतमान है। इन तीनों को नमित माथ प्रणाम करता हूँ। और अन्त में अतिशय आभारी हूँ यहाँ उपस्थित हजारों श्रोताओं का, जिन्होंने मेरे शब्दों को ठीक मेरे साथ तन्मय होकर सुना है। आपका यह तदाकार स्नेहभाव मुझे जीवन में सदा याद रहेगा।......"

○ ○

शून्य के धनुष पर
समय का शर धर,
वेध दिया क्षर को
मुक्त हुआ अक्षर।

महावीर-साहित्य : विगत पचास वर्ष

१९२१-३०

महावीर-स्तोत्र (अनु. देवीलाल) 1921
वीर-भक्तामर (धर्मवर्धनगणि) 1926
महावीर जीवननी महिमा (वेचरदार दोशी) 1927
Lord Mahavira and Some Other Teachers of His time (Kamata Prasad Jain) 1927
महावीर-चरित्र (जिनवल्लभ) 1929

१९३१-४०

महावीरना दश उपासको (बेचरदास दोशी) 1931
भगवान् महावीर का आदर्श जीवन (चौथमल महाराज) 1932
धर्मवीर महावीर और कर्मवीर कृष्ण (मूल : सुखलाल, अनु. शोभाचन्द्र) 1934
महावीर स्वामीनो आचार-धर्म (गोपालदास पटेल) 1936
महावीर स्वामीनो संयम-धर्म (गोपालदास पटेल) 1936
जगद्गुरु महावीर (अमर मुनि) 1937
महावीर-चरित्र (अनु. गुणचन्द्र) 1937
Mahavira : His life and Teachings (B. C. Law) 1937
महावीर स्वामीनो अंतिम उपदेश (गोपालदास पटेल) 1938
भगवान् महावीर का जन्म-कल्याण (चौथमल महाराज) 1938
वीर-स्तुति (पुप्फ भिक्खु) 1939
भगवान् महावीर की अंतिम शिक्षाएँ (वर्धमान महाराज) 1940
महावीर (उर्दू : अमर मुनि) 1940

१९४१-५०

तीर्थंकर महावीर के प्रति (वीरेन्द्रकुमार जैन) 1941
महावीर कथा (गोपालदास पटेल) 1941
श्रमण भगवान् महावीर (कल्याण विजय) 1941
महावीर-वाणी (वेचरदास दोशी) 1942
वीरत्थुई (आत्माराम) 1942
महावीर वर्धमान (जगदीशचन्द्र जैन) 1945
महावीर-चरित्र (मू. हर्षचन्द्र, अनु. जी. एन. शाह) 1945
महावीरना युगनी महादेवीओ (सुशील) 1945
वीर-स्तुति (अमरचन्द्र) 1946
Lord Mahavira (Boolchand) 1948
भगवान् महावीर (गोकुलदास कापड़िया) 1949
महावीर (रतिलाल शाह) 1949
भगवान् महावीर की अहिंसा और महात्मा गांधी (पृथ्वीराज जैन) 1950
भगवान् महावीर की साधना (मधुकर मुनि) 1950
महावीर-जीवन-विस्तार (सुशील) 1950
वर्धमान महावीर (ब्रजकिशोर नारायण) 1950

वुद्ध और महावीर (मू. कि. घ. मशरूवाला, अनु. जमनालाल जैन) 1951
भगवान् महावीर (दलसुख मालवणिया) 1951
महामानव महावीर (रघुवीरशरण दिवाकर) 1951
महावीर का जीवन-दर्शन (रिषभदास रांका) 1951
वर्द्धमान (महाकाव्य : अनूप शर्मा) 1951
भगवान् महावीर (कैलाशचन्द्र शास्त्री) 1952
महावीर (धीरजलाल शाह) 1952
महावीर-स्तोत्र (जिनवल्लभ सूरि) 1952
तीर्थंकर वर्धमान (श्रीचन्द रामपुरिया) 1953
भगवान् महावीर (कामताप्रसाद जैन) 1953
भगवान् महावीर और उनका मुक्ति-मार्ग (रिषभदास रांका) 1953
महावीर का अन्तस्तल (सत्यभक्त) 1953
Mahavira (Amarchand) 1953
Lord Mahavira (Puranchand Samsookha) 1953
भगवान् महावीर और विश्व-शान्ति (ज्ञानमुनि) 1954
महावीर देवनो गृहस्थाश्रम (न्याय विजयमुनि) 1954
महावीर का सर्वोदय-तीर्थ (जुगलकिशोर मुख्तार) 1955
वीर-स्तवन-मंजरी (मोहनलाल वाडिया) 1955
निर्ग्रन्थ भगवान् महावीर (जयभिक्खु) 1956
महावीर देवनु जीवन (भद्रंकर विजय) 1956
Mahavira (Vallabh Suri) 1956
Mahavira and Buddha (Kamata Prasad Jain) 1956
Mahavira and His Philosophy of Life (A. N. Upadhye) 1956
भगवान् महावीर (जयभिक्खु) 1950
भगवान् महावीर और मांस-निषेध (आत्माराम आचार्य) 1957
महामानव महावीर (न्यायविजय मुनि) 1957
महावीर और वुद्ध (कामता प्रसाद जैन) 1957
भगवान् महावीर के पांच सिद्धान्त (ज्ञानमुनि) 1958
भगवान् महावीर अने मांसाहार (रतिलाल शाह) 1958
महावीर-जीवन-महिमा (वेचरदास दोशी) 1958
महावीर-प्रवचन (क्रान्ति मुनि) 1958
Mahavira and Jainism (Jyoti Prasad Jain) 1958
तीर्थंकर भगवान् महावीर (वीरेन्द्र प्रसाद जैन) 1959
भगवान् महावीर (रमादेवी जैन) 1959
वीर प्रभु (विद्यानन्द मुनि) 1959
श्रमण भगवान् महावीर (धीरजलाल शाह) 1959
महावीर : सिद्धान्त और उपदेश (अमर मुनि) 1960
वीरायण (धन्यकुमार जैन) 1960

१९६१-७०

परम ज्योति महावीर (महाकाव्य : धन्यकुमार जैन 'सुधेश') 1961
तीर्थंकर महावीर (विजयेन्द्र सूरि) 1962
भगवान् महावीरना ऐतिहासिक जीवननी रूपरेखा (धीरजलाल शाह) 1962
श्रमण भगवान् महावीर तथा मांसाहार-परिहार (हीरालाल दूगड़) 1964
भगवान् महावीर: जीवन-दर्शन (सुमेरचन्द्र दिवाकर) 1965
महावीर-चरित्र (सचित्र: भानुविजय) 1965
भगवान् महावीर की बोधकथाएँ (अमर मुनि) 1966
वीर-निर्वाण और दीपावली (चौथमल महाराज) 1966
भगवान् महावीर (मू. जयभिक्खु, अनु. सरोज शाह) 1967
महावीर की जीवन-दृष्टि (इन्द्रचन्द्र शास्त्री) 1967
Teachings of Lord Mahavira (Ganesh Lalwani) 1967
महाश्रमण महावीर (सुमेरचन्द्र दिवाकर) 1968
अहिंसा-सम्राट् भगवान् महावीर (सं. सुमेर के. जैन, महावीर भाऊराव कंडारकर) 1969
ज्ञातृपुत्र श्रमण भगवान् (हीरालाल कापड़िया) 1969

१९७१-७४

महावीर और बुद्ध की समसामयिकता (मुनि नगराज) 1971
महावीर मेरी दृष्टि में (आचार्य रजनीश) 1971
महावीर-वाणी (आचार्य रजनीश) 1972
नयनपथगामीभवतु मे (सचित्र महावीराष्टक) (मू भागचन्द्र, अनु. भवानीप्रसाद मिश्र) 1972
भगवान् महावीर : जीवन और उपदेश (विपिन जारोली) 1972
आधुनिकता-बोध और महावीर (वीरेन्द्रकुमार जैन) 1973
तीर्थंकर वर्द्धमान (विद्यानन्द मुनि) 1973
तीर्थंकर वर्धमान महावीर (जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल) 1973
भगवान् महावीर और उनका तत्त्व-दर्शन (आचार्य देशभूषण) 1973
भगवान् महावीर (गोकुलचन्द्र जैन) 1973
भगवान् महावीर की सूक्तियाँ (राजेन्द्र मुनि शास्त्री) 1739
भगवान् महावीर : जीवन और सिद्धान्त (प्रेमसागर जैन) 1973
भगवान् महावीर के प्रेरक संस्मरण (महेन्द्रकुमार 'कमल') 1973
महावीर की मानवता (काव्य : हुकुमचन्द्र जैन 'अनिल') 1973
महावीर : व्यक्तित्व, उपदेश और आचार-मार्ग (रिषभदास रांका) 1973
वैशाली के राजकुमार तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर (नेमीचन्द जैन) 1973

प्रकाश्य : १९७४

तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर (पद्मचन्द्र शास्त्री)
तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा (स्व. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिपाचार्य)
अनुत्तर योगी : तीर्थंकर महावीर (उपन्यास : वीरेन्द्रकुमार जैन)

OOO

महावीर : समाजवादी संदर्भ में

आजादी के पच्चीस वर्ष बाद आज तृष्णा, बुभुक्षा, गरीबी-अमीरी, विपुलता-विपन्नता की खाई और अधिक चौड़ी नजर आती है; फलतः करुणा-क्रोध के बीच समन्वयवादी दृष्टि ओझल है। करुणा निराशा में और क्रोध हिंसा में तेजी से बदल रहे हैं।

☐ पन्नालाल शाह

पच्चीस सौ वर्ष पूर्व भारत की सामाजिक और आर्थिक स्थिति से आज की तुलना करना न तो बुद्धिमानी ही है और न ही तर्कसंगत; किन्तु यह असंदिग्ध है कि तत्कालीन योगी तीर्थंकर महावीर और गौतम बुद्ध को अहिंसा, अपरिग्रह-जैसे सिद्धान्तों के प्रतिपादन की ज़रूरत महसूस हुई थी इस दृष्टि से आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में तब और अब इन सिद्धान्तों की महत्ता एक जैसी ही है, सिर्फ तीव्रताओं में कमोवेश हुआ है।

वैयक्तिक चरित्र-रचना की दृष्टि से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का त्रिभुज व्यक्ति को मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करा सकता है। जैनाचार्य उमास्वाति का यह त्रिक "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" महावीर और उनके पूर्ववर्ती तेईस तीर्थंकरों का मूलमंत्र रहा है। स्वर्ग या मुक्ति का यह मार्ग व्यक्ति ही नहीं समाज, राष्ट्र और यहाँ तक कि संपूर्ण विश्व के लिए युगों-युगों तक अपरिवर्तित और यकसां मौजू है। राजकुमार महावीर, तपस्वी मुनि महावीर तथा केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्ति-सुन्दरी का वरण करने वाले तीर्थंकर महावीर ने दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की त्रिवेणी से मनोमन्थन, वाणी-स्फुरण और कर्मानुशीलन द्वारा जिन रत्नों का पुनराविष्करण किया उनमें अहिंसा और अपरिग्रह उन आधारशिलाओं की भाँति प्रकट हुए, जिनमें सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य के महान् सिद्धान्त स्वयमेव समाविष्ट हैं।

श्रावक यानी गृहस्थ के लिए महावीर ने इन व्रतों के साथ 'अणु' शब्द जोड़कर इन्हें 'अणुव्रतों' की संज्ञा दी और इनके क्रमिक परिपालन को सद्गृहस्थ या सभ्यजन; और समाज को सत्समाज, या श्रावक समाज कहा। अहिंसा से लेकर परिग्रह-परिमाणुव्रत की क्रमबद्धता में अहिंसा शीर्षस्थ और परिग्रह का सीमांकन अन्तिम कड़ी है।

महावीरयुगीन अहिंसा राजनयिक और वैदिक विकृतियों की उपज थी। तत्कालीन समाज के प्रभावशाली अंग क्षत्रिय और ब्राह्मणों की राज्यलिप्सा, कीर्ति-

कामना और स्वार्थसाधना की सुश्रृंखल और सुनियोजित देन वह थी। दूसरे शब्दों में तलवार और कलम का मिला-जुला कमाल वह था, जिसने शोषण के द्वार खोले, मानव-समता की अनुभूति को खण्डित किया, सामाजिक उच्चता-निम्नता के तमगे लगाकर सामाजिक-आर्थिक विभेदों के उत्तुंग दुर्ग खड़े किये। बीसवीं सदी के इस अन्तिम चरण में महावीरकालीन समाज की अपेक्षा शत-शत गुनी हिंसा और दमन-शोषण, वर्गभेद की प्राचीरें खड़ी की गयी हैं। पूंजीवादी अमरीका हो, या समाजवादी रूस, सर्वनाश की सामग्री के निर्माण की होड़ाहोड़ी में सब लगे हैं। इन दो मुल्कों के अलावा फ्रान्स और चीन ने भी अणुबम-उद्जनबम और प्रक्षेपास्त्रों के अम्बार-के-अम्बार संगृहीत कोष में सुरक्षित रखे हैं। बहाना है कि हिंसा के सर्वनाशमयी प्रलयंकर ताण्डव को हिंसा के मुकाबले की ताकत खड़ी करके ही रोका जा सकता है।

"वार डिटरेंट्स" के इस छलनामय प्रपंच में आज का विश्व सर्वनाश के कगार पर आ खड़ा हुआ है और उसने समंदर की अतल गहराइयों और आसमान की अछूती ऊँचाइयों को नापने के अपने वैज्ञानिक और काल्पनिक उपक्रम को अनवरत जारी रखा है।

महावीर ने अहिंसा से अपरिग्रह तक पहुँचने की सीढ़ी बतायी है। आज के युगसंदर्भ में परिग्रह से हिंसा तक का मार्ग प्रशस्त होता दीख पड़ रहा है। अभाव, आवश्यकता और अदम्य वासनाओं के घेरे में बंधा मानव-मन परिग्रह का परिमाणन नहीं करना चाहता; वर्तमान से असंतोष और भविष्य के प्रति निराशा या कि वर्तमान से बगावत और भविष्य के स्वर्णिम स्वप्न या अतीत का व्यामोह, वर्तमान से शिकायत के इर्द-गिर्द संसार की धुरी डांवाडोल है।

स्वतन्त्रता के पच्चीस वर्ष बाद आज तृष्णा, बुभुक्षा, अमीरी-गरीबी, विपुलता-विपन्नता की खाई और अधिक चौड़ी होती नजर आती है; फलतः करुणा-क्रोध के बीच समन्वय की दृष्टि ओझल है। करुणा निराशा में और क्रोध हिंसा में बड़ी तेज गति से बदल रहे हैं।

राजकुमार महावीर तीर्थंकर महावीर के जीवन, चिन्तन और कर्म का मर्म हमारी राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान कर सकता है। राजनीति का रथ पिछले बीस वर्षों में निर्माण-पथ पर मील के पत्थर गाड़ने में एक सीमा तक सफल हुआ है, इस तथ्य से मुंह मोड़ना एक तरह से सत्य की अनदेखी ही होगी। तृष्णा, परिग्रह और परिग्रह की पूंजीवादी मनोवृत्ति के मुकाबले राजनीति के धुरीधरों ने समाजवादी समाज-रचना और जनतान्त्रिक समाजवाद की मंजिलों के धुंधले मानचित्र बनाये हैं; किन्तु यह विडम्बना ही है कि राष्ट्रीय पूंजी बढ़ने की अपेक्षा चन्द पूंजीपतियों ने अपनी सम्पदा और पूंजी को समृद्ध करने में सरकार को मात दी है। अमीरी

के कैलाश और गरीबी के पाताल के वीच पटरी कैसे वैठे? रक्ताभ क्रान्ति में आस्था रखने वाली हिंसा के माध्यम से, या महावीर की अहिंसा और अपरिग्रह की राह से।

सचाई यह है कि हिन्दुस्तान की सरजमीं पर अहिंसा की सांस्कृतिक विरासत के सामूहिक पुनर्जागरण और अपरिग्रह की आर्थिक कलमवन्द कानूनी संरचना एक शक्तिशाली सक्रिय अहिंसक राष्ट्र को जन्म दे सकती है। भगवान् वुद्ध का व्यष्टि और समष्टि के निर्माण का नारा था: "धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, वुद्धं शरणं गच्छामि"। समाजवादी क्रान्ति-दृष्टा स्वर्गीय डा. राममनोहर लोहिया ने अपने दल के कार्यकर्ताओं से एक वार कहा था: "अव वुद्ध के इस उद्‌घोप में क्रमिक परिवर्तन कर हम यों कहें–"वुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि"। नारे को इस तरह पलटने से डा. लोहिया का आशय था "वुद्धि से स्वीकार संस्था में आओ और फिर समाजवादी समता-धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित हो जाओ।"

"सारे धर्मो को त्यागकर एकमात्र मेरी शरण में आ"–अपने युग के क्रान्तिकारी नेता कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया उक्त कर्त्तव्यवोध उनके "कर्म ही तेरे अधिकार में है उसका फल नहीं" की निष्काम भावना से जुड़ा हुआ है। कुल मिलाकर पुराण, वुद्ध और महावीर ने अपने-अपने युगों में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परम्पराओं और प्रथाओं के चलते एक नयी वैचारिक क्रान्ति के वीज डाले और कुछ ऐसी प्रक्रिया अपनायी मानो प्राचीन का क्षय और नवीन का जन्म प्रकृति का ही कोई चिरन्तन नियम हो।

अस्तित्वहीन होकर अस्तित्व देना, जमीन में दफनाये वीज से नये वीज को अंकुरित करने जैसा विलक्षण, तथापि स्वाभाविक कुछ है; काश, आज का युग महावीर की अहिंसा और अपरिग्रह की नींव पर हिंसा और परिग्रह को दफना कर स्नेह, सौहार्द, समता और समन्वय के वीज अंकुरित करने के लिए एक सामुदायिक करवट ले सकता।

मेरा विश्वास है, प्रतीक्षित क्रान्ति का मसीहा कृष्ण, महावीर, वुद्ध या गांधी नहीं वरन् जन-जन की अन्तश्चेतना का सघन और सामूहिक प्रकटीकरण ही होगा।

वर्तमान युग में
महावीर की प्रासंगिकता

महावीर की अहिंसा, उनका अनेकान्त, उनका अपरिग्रह, सभी प्राणियों को समान देखने की उनकी दृष्टि, 'जियो और जीने दो' का उनका नारा वर्तमान युग में हम सबको आकर्षित कर रहे हैं—अत्यन्त प्रासंगिक बने हुए हैं।

—सरोजकुमार

महावीर और हमारे बीच ढाई हजार सालों का फासला है। इस फासले में हमारी पचासों पीढ़ियाँ आईं और गईं। सैकड़ों प्रकार की शासन-व्यवस्थाएँ और शासक बने और मिटे। अनेक तर्क-पद्धतियाँ मनुष्य के मस्तिष्क को छूती हुईं गुजरती रहीं। इन ढाई हजार संवत्सरों में मनुष्य ने भौतिक सुखों की अनेक दौड़ें जीतीं और विज्ञान को साधकर अनेक करिश्मे स्वयं के लिए पैदा किए। इस सब के बावजूद मनुष्य का चरित्र अपनी आदिम प्रवृत्तियों की परतें परिमार्जित नहीं कर सका। वह ऊपर से सभ्य अवश्य बन गया, किन्तु भीतर असभ्य बना रहा। आकाश और पाताल को एक करने के बाद भी उसे इस बात का अहसास हो रहा है कि उसका परिश्रम सार्थक नहीं हुआ। जिस सुख की तलाश में वह भटकता रहा वह उसे नहीं मिला। और जिस किस्म का सुख उसे मिल सका है; वह उसे उबा अधिक रहा है। यह उसके होने और होना चाहने की स्थितियों के बीच फैली हुई जिन्दगी की त्रासदी है। आज वह अन्तर्राष्ट्रीय होकर भी अकेला है और सब कुछ के बीच भी न कुछ प्रतीत हो रहा है। और यही कारण है कि महावीर इन सैकड़ों वर्षो के अन्तराल को लांघकर आज भी अपने तपश्चरण की उपलब्धियों के कारण हमें हमारे लिए प्रासंगिक बने हुए मिलते हैं।

आज का मनुष्य अपने आप में टूटा हुआ खण्डित और अस्पष्ट प्राणी है। वह जो कह रहा है और जो कुछ कर रहा है उसमें भिन्नता है। वह अपनी स्वाभाविक प्रतिष्ठा के उद्देश्य से कहता कुछ ऐसा है, जो प्रीतिकर और श्रेयस्कर है; किन्तु करता वह वही है, जो उसके व्यक्तिगत स्वार्थ को सिद्ध करे। उसमें कथनी और करनी का यह अन्तर इसलिए है कि हममें कथनी को मात्र शब्दोच्चार मान लेने की त्रुटि समा

गई है। परिणामतः आज कर्म से दरिद्र उपदेशकों की भीड़ बढ़ गई है। हर चालू नेता हमें पाँच मिनट में ढाई किलो उपदेश दे जाता है, जिसका शतांश भी उसके चरित्र में कहीं चरितार्थ नहीं मिलता। यहां महावीर याद आते हैं। वे मन, वचन और कर्म की शुद्धता पर बल देते हैं। निर्मल मन, संयत वचन और तदनुकूल कर्म मनुष्य के चरित्र को दृढ़ बना सकते हैं। और ऐसा दृढ़ व्यक्ति ही नेतृत्व का अधिकारी हो सकता है। क्योंकि ऐसे व्यक्ति की कथनी के पीछे संकल्प होगा, कर्म होगा। उसकी कथनी चूंकि थोथा उपदेश नहीं होगी, अतः वह प्रेरित करेगी।

और महावीर हमें क्यों प्रेरित करते हैं? क्यों हमें भीतर तक छू जाते हैं? इसीलिए तो, कि उन्होंने अपने मन, वचन और कर्म को अपने जीवन में एक मंच पर बिठाकर अपने चरित्र के सूत्र में पिरो लिया था। अनेक वर्षों की साधना की उपलब्धि के रूप में उन्होंने जो कहा, उसके पीछे उनकी जीवनानुभव की शक्ति थी। जीवनानुभव के बिना इधर जो उपदेश हमें दिये जाते हैं, उनके पीछे आचरण की शक्ति न होने के कारण हमें आकर्षित नहीं करते। मन, वचन और कर्म का जिसके जीवन में सामंजस्य नहीं मिलेगा, उसकी कथनी और करनी संदर्भहीन होगी। वह वैसा ही खण्डित व्यक्तित्व होगा, जैसा कि आज आधुनिक साहित्य में व्यक्त किया जा रहा है।

पिछले कुछ वर्षों से हमारे देश में समाजवाद का बड़ा हल्ला है। समाजवाद की चर्चा प्रत्येक राजनीतिक व सामाजिक संगठन का प्रिय विषय बनी हुई है। इस सब के बाद भी हमारा देश समाजवादिता की ओर एक इंच भी आगे बढ़ता दिखलाई नहीं देता। समाजवाद धन और ऐश्वर्य के प्रति उदासीनता का भाव जागृत नहीं करना चाहता। वह उनके बटवारे मात्र के लिए अधिक चिन्तित है। और बटवारा इसलिए संभव नहीं हो पा रहा है, क्योंकि सामाजिक प्रतिष्ठा के मूल्य ही धन, सम्पत्ति और ऐश्वर्य बने हुए हैं। यहाँ महावीर का अपरिग्रह हमारे सामने प्रासंगिक हो उठता है। महावीर का अपरिग्रह सम्पत्ति के बटवारे की बात नहीं करता। वह तो अनावश्यक धन-सम्पत्ति से लगाव ही न रखने की बात कहता है। महावीर का अपरिग्रह सामाजिक मूल्यों के सीधे निकट पहुँचकर कहता है कि जो जितना अपरिग्रही है, वह उतना ही महान् है। और अपरिग्रह ही अहिंसक हो सकता है; अतः धन-सम्पत्ति में होड़ करने वाला सामाजिक प्रतिष्ठा का पात्र नहीं है। प्रतिष्ठा का पात्र वह है जिसके मन में परिग्रह के प्रति विकर्षण है। वही समाज में आगे बैठने का सुपात्र है। ऐसा अपरिग्रही ही आदरणीय है। ऐसा अपरिग्रही दरिद्री नहीं है, वह संचय की कुप्रवृत्तियों से मुक्त समृद्ध मानव है। अपरिग्रह की ऐसी प्रतिष्ठा यदि सामाजिक मूल्य के रूप में हो जाए तो समाजवाद की सुखद परिकल्पना आसानी से साकार हो सकती है।

आज विभिन्न धार्मिक एवं राजनीतिक मतवादों से संसार पीड़ित है। विभिन्न मतवादों के अलग-अलग मंच हैं। इन अलग-अलग मंचों पर उनके कट्टर समर्थक बैठे हुए हैं। सब के अपने-अपने तर्क और अपने-अपने आग्रह हैं। किसी को किसी अन्य की सुनने की फुरसत नहीं। न कोई आवश्यक ही समझता है कि दूसरे की बात भी सुनी जाए, गुनी जाए। सभी अपने-अपने निष्कर्षों के प्रति आश्वस्त हैं। निश्चित हैं। दृढ़ हैं। दूसरों के विचार और तर्क उनके लिए बकवास हैं। अपनी-अपनी स्थापनाएँ उनके लिए पूर्ण व अन्तिम हैं। परिणामतः देश में द्वेष, कटुता, संघर्ष और हिंसा की स्थितियाँ विद्यमान हैं।

इस प्रकार के एकान्त दुराग्रहों के बीच हमें महावीर का अनेकान्त एकदम प्रासंगिक लगता है। महावीर का अनेकान्त एक ही वस्तु को अनेक दृष्टियों से देखे जाने की संभावनाओं पर बल देता है। यथार्थ सत्ता के अनेक रूप हो सकते हैं। और उनमें से कोई भी रूप अपने आप में पूर्ण नहीं होता। महावीर का अनेकान्त-दर्शन किसी भी वस्तु अथवा विचार के प्रति सहिष्णुता का वातावरण निर्मित करता है। यह अनेकान्त किसी भी वस्तु अथवा विचार के प्रति अनेक लोगों द्वारा व्यक्त किए गए अनेक कथनों को सत्यांश मानता है। वह यही मानता है कि किसी एक सत्यांश में ही पूर्ण सत्य होगा, किन्तु उसमें सत्यांश की संभावना अवश्य है। और महावीर का अनेकान्त उन सब की शोध कर उन सब में से गुजरकर पूर्ण सत्य की शोध के लिए हमें प्रेरित करता है। कोई सत्यांश अपने आप में पूर्ण नहीं है। और प्रत्येक दृष्टिकोण में सत्यांश होता। अतः महावीर का अनेकान्त हमें प्रत्येक दृष्टिकोण में सत्यांश की अभिव्यक्ति के प्रति आश्वस्त करते हुए विभिन्न दृष्टिकोणों में से गुजरकर सत्य की शोध के लिए आह्वान तो करता ही है, वह वैचारिक धरातल पर सहअस्तित्व का सिद्धान्त ही बन गया है।

महावीर ने 'जियो और जीने दो' का नारा देकर संसार में सब को जीने का समान अधिकार दिया। किसी को यह हक नहीं कि वह अपने जीने के लिए दूसरे को न जीने दे। संसार के सारे प्राणी समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। और महावीर की अहिंसा इसीलिए विश्वविदित है। अहिंसा सिद्धान्त को अपना कर इस अणु-आयुधों के युग में भी महात्मा गांधी ने यह सिद्ध कर कर दिखाया कि अहिंसा की शक्ति अपरिमित है। अपनी अहिंसा से उन्होंने उस साम्राज्य को पराजित किया, जिसका सूर्य कभी नहीं डूबता था।

महावीर की अहिंसा, उनका अनेकान्त, उनका अपरिग्रह, सभी प्राणियों को समान देखने की उनकी दृष्टि, 'जियो और जीने दो' का उनका नारा वर्तमान युग में हम सबको आकर्षित कर रहे हैं और अत्यन्त प्रासंगिक बने हुए हैं। □□
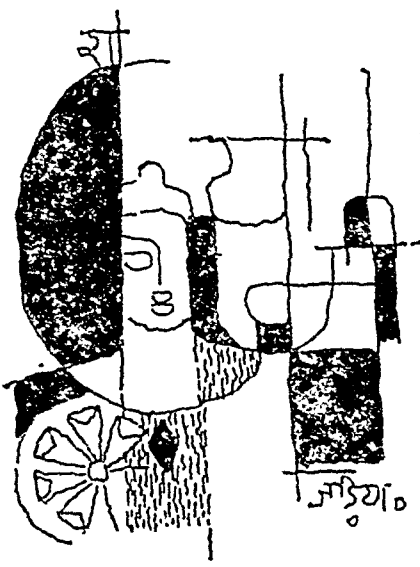
नयनपथगामीभवतुमे

☐ भवानीप्रसाद मिश्र

चित-अचित सब किसी दर्पण की तरह
जिसमें उजागर स्वच्छ, सांग समान
नाश और उत्पत्ति प्रतिबिम्बित जहाँ
प्रत्यक्ष सह-अनुमान
जो जगत् अध्यक्ष
सूरज की तरह राहें दिखाता
वह विधाता ज्ञान का
होकर नयन से
हृदय तक उतरे हमारे
वह संवारे, स्वप्न-जागृति सब संवारे !

दो

आंख में जिनके नहीं हैं लाल डोरे
भक्त-मन के निकट
प्रकटित द्वैपलव जिनके निहोरे
एकटक, कमलाक्ष, स्फुटमूर्ति
प्रशमित नित्य-निर्मल
नयन-पथ से हृदय में
आयें, पधारें वे अचंचल !

तीन

इन्द्र-मुकुट-मणि-आभा
जिनके सुनाल कमल-पद-तल धोती है
जिनके चरणों की गति-सरिता
अखिल ताप-शामक होती है
जिनका ध्यान किया और ज्वाला
जाग्रत बुझी जगत् की क्षण में
महावीर स्वामी आयें वे
नयन-पन्थ से भीतर, मन में !

चार

जिनके पूजन की धुन में
गतिवंत किसी दादुर ने दबकर
मत्तगयन्द-छन्द के नीचे
स्वर्गिक श्री-सुषमा के आलय
नयी एक महिमा से सींचे
गुण-समृद्ध, सुखनिधि वह दादुर
देवतुल्य जिस कृपा-कोर से
महावीर स्वामी वे उतरें
मन के भीतर नयन-डोर से !

पाँच

तप्त-कनक-आभा-शरीर भी
जो विदेह है
होकर एक अखिल भी है जो
ज्ञान-गेह है
जो अज होकर भी
सिद्धार्थ-तनय वन आये
श्री-सुषमा-संपन्न
दिव्यलोकों तक छाये
वे अद्भुत गति
परम अलौकिक
सन्मति-स्वामी
उतरें मेरे प्राणों में
लोचन-पथगामी !

छह

उक्ति-तरंगों से जिनकी
वाणी-गंगा
कल-कल-मधुरा है
जिनके जल से स्नात भक्त-दल
महाज्ञान-तट पर उभरा है
विमल वुद्धि के हंस आज भी
जिसे छोड़कर कहीं न जाते
नयन-पन्थ से वे सन्मति-प्रभु
मन व्याकुल है, भीतर आते !

सात

त्रिभुवनी-जयी काम को
जिसने जीत लिया
कैशोर काल में
मुक्ति-सूर्य को सुलभ कर दिया
जिस सुख-निधि ने जगज्जाल में
वन्धु-विदित महिमा मंगलकर
अपने-आप प्रसन्न भाव से
नयन-पन्थ से आ उतरें वे
मन-तट पर जाज्वल्य नाव से !

आठ

माहमोह-आतंक-व्याधि के
हे धन्वन्तरि !
वन्धु-विदित महिमा मंगलकर
साधु शरण्य
सहज सर्वोपरि
भव-भय हरें, प्रणत जन के
आनन्द वढ़ायें
नयन-पन्थ से उतरें
मन के भीतर आयें !

□

(महावीराष्टक— मूल : कविवर भागचन्द्रजी)
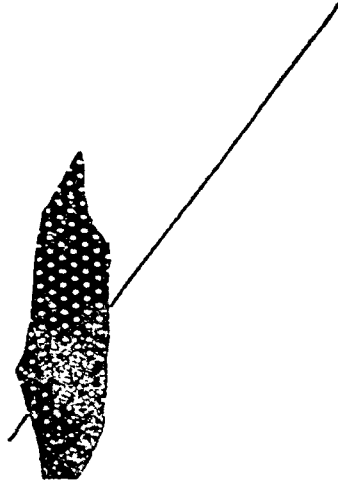
माना कि सुन्दर होता है
निराकार से आकार
मगर हर इंच पर
उसे फूल की तरह
न खिलायें
छोड़ दिये जाएँ
खाली लम्बे-चौड़े मैदान
ध्वनि और शब्द
और गान रहें
मगर ऐसे भी कान रहें
जो चुप्पी को सुन लें

—जैनधर्म खण्ड

निराकार को

भवानीप्रसाद मिश्र

निराकार को ढालना
कैसे बने
इस ध्यान में
मने-अनमने
कुछ साँचे
पकाये मैंने डालकर
आँच में।
साँचे कुछ ठीक-ठीक पक गये
और ढालने लगा मैं उनके वल पर
निराकार को आकार में
विचित्र मगर एक वात हुई
ढालते-ढालते
निराकार को आकार में
साँचे जानदार हो गये
जो पहले ठीक-ठीक पक गये थे
अव जान आ जाने पर वे
यंत्रवत आकार ढालने से
थक गये
साँचे मेरे वावजूद
सोचने लगे
कि आकारों को
सीमित किया जाए
जितना जीवन पिया जाए
प्यासी धरती से
उसे उससे ज्यादा
पिलायें

माना कि सुंदर होता है
निराकार से आकार
मगर हर इंच पर
उसे फूल की तरह
न खिलायें
छोड़ दिये जाएँ
खाली लंवे-चौड़े मैदान
ध्वनि और शब्द
और गान रहें
मगर ऐसे भी कान रहें
जो चुप्पी को सुन लें
ऐसी भी रहें आँखें
जो शून्य में से चुन लें
मन के सुख
अंतर से अंतर के
दुःख। □

दिनकर सोनवलकर

सापेक्ष विकल्प

अनन्त होना
वहुत मुश्किल है—
होता है कोई एक
शताव्दियों में
कभी-कभी ।
लेकिन
सहज है शून्य होना
हो सकते हैं सभी ।

शून्य और अनन्त के
वीच ही
फैला है विस्तार ।
यूं अनन्त भी है
मात्र एक विन्दु
और
विन्दु के भीतर है
ऊर्जा अनन्त ।

दोनों के वीच
अंकों की जितनी भी गणना है
निरर्थक
जोड़ना और घटाना है !

अहम् पीड़ित

जव
सक्रियता से पौधे को
लग जाता है
अहंकार का कीड़ा
तो फिर उसमें
नहीं खिलते
उपलव्धियों के फूल ।

ऐसे वृक्ष
हरे-भरे वागीचों में भी
अलग खड़े रहते हैं
ठूंठ से तने
और

अपनी वांझ ऊंचाई को भी
सावित करते हैं
एक नया मूल्य ।

प्रार्थना

जिन-जिन अवसरों पर
खोया था धीरज–
अव वैसे क्षणों में
रह सकूँ अविचलित
—यह वल दो !

जव-जव भी क्षुद्र वातों पर
तानी है भृकुटी
तेज किया है स्वर
वैसी स्थितियों में
रह सकूँ सहज
—यह सम्वल दो !

जिन-जिन अवसरों को
विताया निष्क्रिय आलस में
उनको भर सकूँ
कर्म से, रचना से,
—वह सृजन-क्षण दो !

जहाँ-जहाँ भूला हूँ
स्नेह की छाँह को
आशीप-भरी वाँह को
उन्हें याद रख सकूँ अहर्निश
—यह कृतज्ञ स्मरण दो !

—दिनकर सोनवलकर

निर्द्वन्द्व

चलो
कुछ दिन
अन्धकार ही सही।

तुमने भेजी थी
सूर्य-किरण
तो स्वागत का मंत्र
पढ़ा था हमने।
अव भेजी है
अँधियारी रात
इसमें गायेंगे
प्रेम के गीत।

हे मनमीत–
कुछ दिन
आँसू की धार ही सही
चलो कुछ दिन
अन्धकार ही सही।

जैन दर्शन की सहज उद्भूति : अनेकान्त

- क्या हम वस्तु के एक धर्म को भी ठीक से देख पाते हैं ? मैं समझता हूँ नहीं देख पाते ।
- सम्पत्ति का संग्रह हिंसक कार्य तो है ही, वह एकान्त और अस्याद्वादी कार्य भी है । जब हम अपने लिए संग्रह करते है तो दूसरों की सापेक्षता में सोचते ही नहीं हैं ।
- परिग्रह हजार सूक्ष्म पैरों से चलकर हमारे पास आता है और हम गफलत में पकड़ लिये जाते हैं ।

—जयकुमार जलज

अनेकान्त जैन दर्शन की सहज उद्भूति है । जैन दार्शनिकों ने द्रव्य/पदार्थ/सत्ता या वस्तु का जैसा विवेचन किया है उससे उन्हें अनेकान्त तक पहुँचना ही था । उनका द्रव्य-विवेचन एक अत्यन्त तटस्थ वैज्ञानिक विवेचन है । परवर्ती शुद्ध विज्ञानों से दूर तक उसका समर्थन होता है । जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य के अनेक (अनन्त नहीं) गुण हैं—जैसे जीव द्रव्य के ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि और पुद्गल द्रव्य के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि । वस्तु या द्रव्य आकार में कितना ही छोटा हो लेकिन हम उसे सम्पूर्णतः नहीं देख सकते । मैं उसके एक गुण को देखता हूँ, आप दूसरे गुण को, और लोग तीसरे, चौथे गुण को भी देख सकते हैं; लेकिन एक व्यक्ति युगपत् सभी गुणों को देखने में समर्थ नहीं है । सबके देखे हुए का योग नहीं किया जा सकता और योग हो भी जाए तो भी वह सभी दर्शकों के लिए विश्वसनीय कहाँ हो पायेगा? कई खण्ड ज्ञान मिल कर एक अखण्ड ज्ञान की प्रामाणिक प्रतीति शायद ही करा पायें । जगह-जगह टूटी हुई रेखा एक अटूट रेखा का भ्रम ही पैदा कर सकती है; वह वस्तुतः अटूट रेखा नहीं होती । इस प्रकार वस्तु अधिकांशतः अदेखी रह जाती है ।

वस्तु के गुण परिवर्तनशील हैं । गुणों का परिवर्तन ही वस्तु का परिवर्तन है । इसीलिए वस्तु कोई स्थिर सत्ता नहीं है । वह उत्पाद और व्यय के वशीभूत है । हर क्षण उनमें कुछ नया उत्पन्न होता है और कुछ पुराना क्षय होता है । वह अपनी पर्यायें बदलती है—पूर्व पर्याय त्यागती है और उत्तर पर्याय को प्राप्त करती है । यह क्रम अनादि अनन्त और शाश्वत है । यह कभी विच्छिन्न नहीं होता । हम पहले क्षण जिस वस्तु को देखते हैं और दूसरे क्षण वही वस्तु नहीं होती । नदी के किनारे पर खड़े होकर हम एक ही नदी को नहीं देखते । हर क्षण दूसरी नदी होती है ।

अनेक गुणवाली ये वस्तुएँ अनन्तधर्मा हैं। वस्तु के गुणों को गिना जा सकता है। गुण वस्तु के स्वभाव हैं, वस्तु में ही रहते हैं और स्वयं निर्गुण होते हैं।[1] उनकी सत्ता निरपेक्ष है। इसके विपरीत वस्तु के धर्म अनन्त हैं। वे वस्तु में नहीं रहते। उनकी सत्ता सापेक्ष है। इसलिए वे किसी की सापेक्षता में ही प्रकट होते हैं। सापेक्षता गयी तो वह धर्म भी गया। परिप्रेक्ष्य या दृष्टि-बिन्दु के बदलते ही दृश्य बदल जाता है। दूसरे परिप्रेक्ष्य से देखने पर दूसरा दृश्य होता है। धर्म व्यवहार-क्षेत्रीय है। वस्तु का छोटा होना, बड़ा होना, पति, पिता पुत्र आदि होना व्यवहार और सापेक्षता का विषय है। इसीलिए रूप, रस, गन्ध आदि जहाँ गुण हैं वहीं छोटापन, बड़ापन, पतित्व, पितृत्व, पुत्रत्व आदि गुण नहीं; धर्म हैं।

अनन्त वस्तुओं के कारण अनन्त सापेक्षताएँ निर्मित होती हैं। सापेक्षताओं के गुण, मात्रा, लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, स्थान, काल आदि अनेक आधार होते हैं। वस्तु का अच्छा, भारी, लम्बा, चौड़ा, ऊँचा, दूर, प्राचीन आदि होना किसी सापेक्षता में ही होता है। सापेक्षता प्रस्तुत करने का कार्य केवल उसी वर्ग की वस्तु नहीं अन्य वर्गों की वस्तुएँ (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) उनके भेद और उनकी अनन्त संख्याएँ करती हैं। सापेक्षताओं से वस्तु के अनन्त धर्म निर्मित होते हैं। एक ही वस्तु अनन्त भूमिकाओं में होती है। एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, भाई, गुरु, शिष्य, शत्रु, मित्र, तटस्थ आदि कितने ही रूपों या धर्मो में प्रकट होता है। हम किसी एक कोण से देख कर वस्तु का नामकरण कर देते हैं। नामकरण वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को संकेतित नहीं करता। वस्तु के नाना धर्मो में से उसके केवल एक धर्म पर ही टिका होता है नाम। शब्दों पर व्युत्पत्ति और अर्थ की दृष्टि से विचार करते हुए आठवीं शताब्दी ईसा-पूर्व के भारतीय आचार्य यास्क ने वस्तु की इस अनन्त धर्मिता को अपने ढंग से अनुभव किया था—'स्थूणा (खम्भा) शब्द की व्युत्पत्ति स्था (खड़ा होना) धातु से मानी जाती है। यदि खम्भे को खड़ा होने के कारण स्थूणा कहा जाता है तो उसे गड्ढे में धँसे होने के कारण दरशया (गड्ढे में धँसा हुआ) और वल्लियों को सँभालने के कारण सज्जनी (वल्लियों को संभालनेवाला) भी कहा जाना चाहिये।[2]

क्या हम वस्तु के एक धर्म को भी ठीक से देख पाते हैं? मैं समझता हूँ, नहीं देख पाते। उदाहरण के लिए अध्यापक को लें। यह नाम व्यक्ति के, एक धर्म पर आधारित है। हमने उसके अन्य सभी धर्मों को नकार दिया। सौदा खरीदते समय वह खरीददार है, पुत्र को चाकलेट दिलाते समय पिता है। हमने इन सबकी ओर ध्यान नहीं दिया। यहाँ तक कि कक्षा पढ़ाने से सफलतापूर्वक बचते समय भी उसे अध्यापक कहा; लेकिन उसके इस एक धर्म अध्यापन के भी तो अनेक स्तर हैं—कभी उसने बहुत तेजस्वी अध्यापन किया होगा,

---

१. द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः—तत्त्वार्थसूत्र ५।४०

२. निरुक्त, १-११

कभी बहुत शिथिल और इन दोनों के मध्य अध्यापन के सैकड़ों कोटि-क्रम हैं। इन सब पर हमारी दृष्टि कहाँ जा पाती है ?

इस प्रकार वस्तु के अनेक गुण हैं। वह निरन्तर परिवर्तनशील है और उसके अनन्त धर्म हैं। क्या हम वस्तु को उसकी सम्पूर्णता में देख सकते हैं, जान सकते हैं ? संभव ही नहीं है।

जितना भी हम देख और जान पाते हैं, वर्णन उससे भी कम कर पाते हैं। हमारी भाषा हमारी दृष्टि की तुलना में और भी असमर्थ, अपर्याप्त, अपूर्ण और अयथार्थ है।* नाना-धर्मात्मक वस्तु की विराट सत्ता के समक्ष हमारी दृष्टि को सूचित करने वाली भाषा बहुत बौनी है। वह एक टूटी नाव के सहारे समुद्र के किनारे खड़े होने की स्थिति है; लेकिन हम अपने अहंकार में अपनी इस स्थिति को समझते ही नहीं हैं। महावीर ने वस्तु की विराटता और हमारे सामर्थ्य की सीमा स्पष्ट करके हमारे इसी अहंकार को तोड़ा है। उन्होंने कहा: "वस्तु उतनी ही नहीं है, जितनी तुम्हें अपने दृष्टिकोण से दिखायी दे रही है। वह इतनी विराट है कि उसे अनन्त दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। अनेक विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म उसमें युगपत् विद्यमान हैं। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम पड़ता है उसे निर्मित करने वाला धर्म भी वस्तु में है। तुम ईमानदारी से—थोड़ा विरोधी दृष्टिकोण से—देखो तो सही। तुम्हें वह दिखायी देगा। एकान्त दृष्टि से विपरीत यह अनेकान्त दृष्टि है। यही अनेकान्तवाद है। यह विचार या दर्शन है। एक ओर वस्तु के अनेक गुण, बदलती पर्यायें, और अनन्तधर्मिता का और दूसरी ओर मानव-दृष्टि की सीमाओं का बोध होते ही यह सहज ही उद्भूत हो उठा। विचार में सहिष्णुता आयी तो भाषा में उसे आना ही था। विचार में जो अनेकान्त है वाणी में वही स्याद्वाद है।

स्यात् शब्द शायद के अर्थ में नहीं है। स्यात् का अर्थ शायद हो तब तो वस्तु के स्वरूप-कथन में सुनिश्चितता नहीं रही। शायद ऐसा है, वैसा है—यह तो बगलें झांकना हुआ। पालि और प्राकृत में स्यात् शब्द का ध्वनि विकास से प्राप्त रूप 'सिया' वस्तु के सुनिश्चित भेदों के साथ प्रयोग में आया है। किसी वस्तु के धर्म-कथन के समय स्यात् शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि यह धर्म निश्चय ही ऐसा है, लेकिन, अन्य सापेक्षताओं में सुनिश्चित रूप से संबंधित वस्तु के अन्य धर्म भी हैं। इन धर्मों को कहा नहीं जा रहा है, क्योंकि शब्द सभी धर्मों को युगपत् संकेतित नहीं कर सकते। यानी स्यात् शब्द केवल इस बात का सूचक है कि कहने के बाद भी बहुत कुछ अनकहा रह गया है। इस प्रकार वह संभावना, अनिश्चय भ्रम आदि का द्योतक नहीं, सुनिश्चितता और सत्य का प्रतीक है। वह अनेकान्त-चिन्तन का वाहक है और हमें धोखे से बचाता है।

---

* भाषा पदार्थों को अपूर्ण और यथार्थ रूप में लक्षित करती है। (मिशेल ब्रील, सीमेंटिक्स, पृ. १७१)

महावीर ने अनेकान्त को यदि चिन्तन और वाणी का ही विषय बनाया होता तो हमें उससे विशेष लाभ नहीं था। अनेकान्तवाद और उसका भाषिक प्रतिनिधि स्याद्वाद अनेक वादों में एक वाद और बन जाता। उसकी किताबी महत्ता ही होती; लेकिन महावीर किताबी व्यक्ति थे ही नहीं। दर्शन और ज्ञान तो उनके लिए रास्ता था। इस रास्ते से वे चरित्र तक पहुँचे थे। मुक्ति का मार्ग भी उन्होंने इसी प्रकार निरूपित किया है—'सम्यग् दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'। यहाँ चारित्र्य सर्वोच्च स्थान पर है। उस पर विशेष बल है। यह स्वाभाविक ही था कि ऐसा व्यक्ति अनेकान्त-चिन्तन को आचार का विषय भी बनाता। अनेकान्त-चिन्तन ही आचार में अहिंसा के रूप में प्रकट हुआ।

अपने अहंकार के कारण हम अपने-आप को ही विराट समझते हैं। शायद हम अपने आपको अपेक्षाकृत अधिक देख पाते हैं; इसलिए अन्य वस्तुओं की तुलना में जिन्हें हम अधिक नहीं देख पाते अपने-आपको बड़ा मान बैठते हैं। महावीर ने वस्तु की विराटता को उसके अनेक गुण, बदलती पर्यायों और नाना धर्मात्मकता के आधार पर इस प्रकार स्पष्ट किया कि हमें उसके लिए—दूसरों के लिए हाशिया छोड़ना पड़ा। उन्होंने न तो आदेश दिया, न वस्तु के धर्म को अव्याकृत कह कर अव्याख्यायित रहने दिया—उन्होंने वस्तु स्वरूप की विराटता से हमें परिचित कराया। उन्होंने विषय का ऐसा विवेचन किया कि हमने अहिंसा को अपने भीतर से उपलब्ध कर लिया। अहिंसा को यदि अनेकान्त के रूप में उन्होंने वैचारिक आधार न दिया होता तो वे एक दार्शनिक निराशा की सृष्टि करते। बिना वैचारिक आधार के अहिंसा बहुत दिन तक टिक नहीं पाती। उसका भी वही हश्र होता जो बहुत से विचारहीन आचारों का होता है। इसके विपरीत यदि अनेकान्त केवल विचार का ही विषय रहता तो वह पण्डितों के वाद-विवाद तक ही सीमित होकर रह जाता।

यही अनेकान्त समाज-व्यवस्था के क्षेत्र में अपरिग्रह का रूप ग्रहण करता है। इस प्रकार एक निजी आचार तक ही वह सीमित नहीं है। सम्पत्ति का संग्रह हिंसक कार्य तो है ही वह एकान्त और अस्याद्वादी कार्य भी है। जब हम अपने लिए संग्रह करते हैं तो दूसरों की सापेक्षता में कुछ सोचते ही नहीं हैं। अपने आपको महत्त्व-केन्द्र मान लेते हैं। दूसरों के लिए हाशिया न छोड़ने के कारण विस्फोट और क्रान्ति होना स्वाभाविक है। महावीर के समय से आज का समय अधिक जटिल है। आज हम अधिक जटिल और परोक्ष अर्थ तथा राजव्यवस्था के अन्तर्गत रह रहे हैं। हमें पता ही नहीं चलता और हमारी सम्पत्ति तथा सत्ता अन्य हाथों में केन्द्रित हो जाती है। इन हाथों के स्वामी एक स्वयं के द्वारा संचालित जयजयकार से घिर जाते हैं। मालाएँ, अभिनन्दन, चमचे, भाट, अफसर और चपरासी, सट्टा और काला बाजार उन्हें सर्वज्ञ बना देते हैं। यह अपनी औकात को भूलना है। वस्तु के स्वरूप की नासमझी है। यहाँ आम आदमी को केवल एक ही कोण से देखा जा रहा है। और उसे असहाय समझा जा रहा है। यह उसका दोष नहीं; हमारी दृष्टि का दोष है। काश,

(शेष पृष्ठ १९० पर)
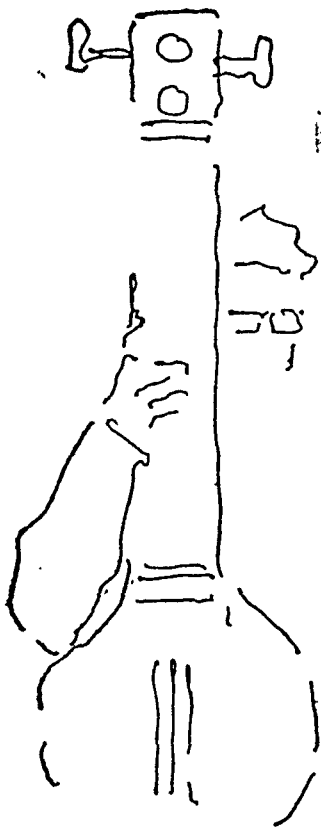
जैन भक्ति

अहैतुक भक्ति-मार्ग

एक ही आत्मा के दो रूप—एक, मिथ्यात्व में डूबा है किन्तु जगकर अन्तरात्मा होकर; दूसरा रूप शुद्ध-विशुद्ध परमात्मा की ओर मुड़ता है। जीवन में बहुत मोड़ आते हैं किन्तु आत्मा का यह मोड़ अनोखा होता है—सुहाग और ललक-भरा। प्रिय-मिलन की ललक, कौन तुलना कर सका है उसकी? अनिर्वचनीय की पियास जिसमें जग गयी, वह स्वयं अवक्तव्य हो जाता है।

—डा. प्रेमसागर जैन

जैनग्रन्थों में भक्ति से मुक्ति वाली बात एकाधिक स्थलों पर मिलती है। जैन आचार्यों ने इसे सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया तो जैन कवियों ने स्थान-स्थान पर भगवान् से मुक्ति की याचना की। उनकी याचना विफल हुई हो, ऐसा नहीं है। उन्हें मुक्ति मिलने का पूर्ण विश्वास था और वह पूरा हुआ। मुक्ति तो वैष्णव, शैव, ईसाई, पारसी सभी भक्तों को उनके आराध्य देवों ने दी; किन्तु यहाँ थोड़ा-सा अन्तर है। गज को ग्राह से बचाने के लिए जैसे विष्णु विष्णु-लोक से दौड़ आये, वैसे जैन भगवान् नहीं दौड़ता। वह अपने स्थान से हिलता भी नहीं। इस पर, एक भक्त तो विलाप करते हुए कह उठा—"जो तुम मोख देत नहिं हमको, कहो जायें किहि डेरा।" किन्तु जिनदेव पसीजे नहीं। एक दूसरे स्थान पर, एक दूसरे कवि ने कहा—"जगत में सो देवन को देव। जासु चरन परसें इन्द्रादिक, होय मुकति स्वयमेव।" यहाँ भी भगवान् दौड़कर नहीं आया। भक्त स्वयं गया, चरणों का स्पर्श किया और उसे मुक्ति मिल गयी। वास्तविकता यह है कि 'जिनेन्द्र' कर्त्ता नहीं है, फिर वे मुक्ति देने का काम भी नहीं कर सकते, तदपि जैन भक्त कवि उनसे मुक्ति मांगते रहे और वह उन्हें मिलती भी रही; कैसे?

एक प्रश्न है, जिसका उत्तर, जैन भक्ति को जैनेतर भक्ति से पृथक् कर देता है। इस प्रश्न पर आचार्य समन्तभद्र ने गहराई से सोचा था। उनका कथन है कि जैनप्रभु कुछ नहीं देता, दे नहीं सकता, क्योंकि उसमें कर्तृत्व-शक्ति नहीं है; फिर भी उसके पुण्य-गुणों के स्मरण से मन पवित्र हो जाता है। मन के पवित्र होने का अर्थ है कि वह संसार से पराङ्मुख होकर जिनेन्द्र की ओर उन्मुख हो जाता है। दूसरी वात, मन के मुड़ते ही दुरिताञ्जन स्वतः दूर हो जाते हैं। दुरिताञ्जन ही कर्म है। उनके दूर होने का अर्थ है—कर्मों से छुटकारा। इसी को मुक्ति कहते हैं। यह सव होता है मन के पावन होने से और यह पावनता आती है जिनेन्द्र-स्मरण से। भगवान् कुछ नहीं देता, किन्तु उसके स्मरण-मात्र से मन पवित्र तो होता है। यही है वह वात, जिससे जीव सव कुछ पा जाता है।

दूसरा प्रश्न है—जिनेन्द्र के स्मरण से मन पावन क्यों होता है? जिनेन्द्र के स्मरण का सीधा-साधा अर्थ है—मन का जिनेन्द्र की ओर मुड़ना। मुड़ना ही मुख्य है। इसी को हठवादी तान्त्रिक परम्परा में मूलाधार कुण्डलिनी का जगना कहते हैं। जव मन एक वार मुड़ गया है, जिनेन्द्र के स्मरण का आनन्द पा लिया है, तो वह वार-वार लौटकर भी, पुनः-पुनः मुड़ने को ललकता है। यह ललक ही वड़ी वात है। यही आगे चलकर मन को स्थायी रूप से मोड़ देती है। स्थायी रूप से मुड़ने का अर्थ है, जिनेन्द्र का दर्शन और तादात्म्य। इसे रहस्यवादी परम्परा में तीसरी और चौथी अवस्था कहते हैं। पहली अवस्था है मुड़ना और दूसरी दशा है वार-वार मुड़ने की ललक। एक वार जव आराध्य का दर्शन हो जाता है, तो तादात्म्य हुए विना रहता नहीं। कवीर की वहुरिया यह कहती रही—"धनि मैली पिउ ऊजरा, किहि विधि लागूं पायं।" किन्तु उसका ऐसा सोचना चल ही रहा था कि वह पिउ से तद्रूप हो गयी। जैनकवि वनारसीदास के—"वालम तुहुं तन चितवत गागरि फूटि, अंचरा गौ फहराय सरम गै छूटि।" में भी यही भाव है। मन के आराध्य पर स्थायी रूप से टिकने के वाद वह तन्मय हुए विना नहीं रहता। फिर "पिय मेरे घट, मैं पिय माहिं। जल-तरंग ज्यों दुविधा नाहिं।" से दोनों एक हो जाते हैं।

यहाँ रहस्यवादी परम्परा से स्पष्ट अन्तर है। जैनाराध्य 'पर' नहीं है। वह 'स्व' ही है। जो जिनेन्द्र है, वही स्वात्मा का स्वरूप है। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। आचार्य योगीन्दु ने परमात्म प्रकाश में, "जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ। तेहउ णिवसइ वंभु परु देहहँ मं करि भेउ।।" कह कर आत्मा और सिद्ध का स्वरूप एक माना है। उनकी दृष्टि में सिद्ध और व्रह्म पर्यायवाची हैं, एक हैं, समान हैं, तो फिर इसका अर्थ हुआ कि वे आत्मा और व्रह्म को एक समान मानते हैं। इसी को जैन हिन्दी कवि भट्टारक शुभचन्द्र ने तत्त्वसारदूहा में 'चिद्रूप चिता चेतन रे साक्षी परम व्रह्म।' कवि वनारसीदास ने नाटक समयसार में, "सोहै घट मन्दिर में चेतन प्रगट रूप, ऐसो

जिनराज ताहि वंदत बनारसी।" और भैय्या भगवतीदास ने 'ब्रह्मविलास' में, "सिद्ध के समान है विराजमान चिदानन्द, ताही को निहार निजरूप मान लीजिए।।" कहकर सिद्ध किया है।

तीसरा प्रश्न है कि जब आत्मा और परमात्मा का स्वरूप अभिन्न है, दोनों एक समान हैं, तो कौन किसकी ओर मुड़ता है और क्यों मुड़ता है? आचार्य पूज्यपाद ने 'समाधितन्त्र' में आत्मा के तीन भेद बताये हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा वह है जो ब्रह्म के स्वरूप को नहीं देख सकता, परद्रव्य में लीन रहता है और मिथ्यावन्त है। अन्तरात्मा में ब्रह्म को देखने की शक्ति तो उत्पन्न हो जाती है, किन्तु वह स्वयं पूर्ण शुद्ध नहीं होता। परमात्मा आत्मा का वह रूप है, जिसमें शुद्ध स्वभाव उत्पन्न हो गया है और जिसमें सब लोकालोक झलक उठे हैं। अनुभूति-क्रिया में आत्मा के दो ही रूप काम करते हैं, एक तो वह जो अभी परमात्मपद को प्राप्त नहीं कर सका है और दूसरा वह जो परमात्मा कहलाता है। पहला अनुभूति-कर्त्ता है और दूसरा अनुभुति तत्त्व। पहला मुड़ता है और दूसरा वह लक्ष्य है, जहाँ उसे पहुँचना है। एक ही आत्मा के दो रूप—एक मिथ्यात्व में डूबा है किन्तु जगकर अन्तरात्मा होकर, दूसरे रूप—शुद्ध-विशुद्ध परमात्मा की ओर मुड़ता है। जीवन में बहुत मोड़ आते हैं; किन्तु आत्मा का यह मोड़ अनोखा होता है—सुहाग और ललक-भरा। प्रिय-मिलन की ललक, कौन तुलना कर सका है उसकी। अनिर्वचनीय की पियास जिसमें जग गयी, वह स्वयं अवक्तव्य हो जाता है; कौन कह सका है उसे?

कबीर की आत्मा भी ब्रह्म की ओर मुड़ी है, किन्तु थोड़ा-सा अन्तर है। कबीर ने जिस आत्मा का निरूपण किया है, वह विश्व-व्यापी ब्रह्म का खण्ड अंश है, जबकि जैन कवियों की आत्मा कर्म-मल को धोकर स्वयं ब्रह्म बन जाती है, वह किसी अन्य का अंश नहीं है। उसे अपने से भिन्न किसी 'पर' के पास नहीं जाना होता। वह स्वयं आत्मा है और स्वयं परमात्मा। मन जब संसार की ओर मुड़ा रहता है, तब आत्मा मिथ्यावन्त है, साधारण संसारी जीव है और जब मन अपने ही शुद्ध-विशुद्ध परमानन्द रूप की ओर मुड़ उठता है तो वह पहले अन्तरात्मा और फिर परमात्मा बन जाता है।

चौथा प्रश्न है कि जैन भक्त ऐसे भगवान् के चरणों में अपने श्रद्धा-पुष्प चढ़ाता है, जो स्वयं वीतरागी है, अर्थात् राग-द्वेषों से रहित है। वीतरागी होने से पूजा का उस पर प्रभाव नहीं पड़ता और विवान्तवैर होने से निन्दा से वह विचलित नहीं होता। ऐसे भगवान् की पूजा, भक्ति, उपासना, अर्चना आदि करने मे लाभ क्या है? वह मोक्ष में बैठा है। यहाँ आ नहीं सकता। भक्त के दुःख दूर नहीं कर सकता। फिर ऐसे वीतरागी से राग का अर्थ क्या है? राग कैसा ही हो, भले ही वीतरागी में किया गया हो, कर्मों के आस्रव (आगमन) का कारण है। इसका उत्तर देते हुए आचार्य समन्तभद्र

ने लिखा है, "पूज्य भगवान् जिनेन्द्र की पूजा करते हुए, अनुराग के कारण जो लेश-मात्र पाप का उपार्जन होता है, वह बहु पुण्यराशि में उसी प्रकार दोष का कारण नहीं बनता, जिस प्रकार कि विष की एक कणिका शीत शिवाम्बु राशि को–ठण्डे कल्याणकारी जल से भरे हुए समुद्र को दूषित करने में समर्थ नहीं होती है।" अर्थात् जिनेन्द्र में अनुराग करने से लेश-मात्र ही सही, पाप तो होता है, किन्तु पुण्य इतना अधिक होता है कि वह रञ्चमात्र पाप उसको दूषित करने की सामर्थ्य नहीं रखता। आचार्य कुन्दकुन्द ने वीतरागियों में अनुराग करने वाले को सच्चा योगी कहा है। उनका यह भी कथन है आचार्य, उपाध्याय और साधु में प्रीति करने वाला सम्यग्दृष्टि हो जाता है; अर्थात् उनकी दृष्टि में वीतरागी में किया गया अनुराग, यत्किञ्चित् भी पाप का कारण नहीं है।

वीतरागी परमात्मा 'पर' नहीं है, वह 'स्व आत्मा' ही है। योगीन्द्र का कथन है, "एहु जु अप्पा परमप्पा, कम्म-विसेसें जायउ जप्पा।" परमानन्द स्वभाव वाले भगवान् जिनेन्द्र को योगीन्दु ने परमात्मा कहा और वह ही स्व आत्मा है, ऐसा भी कहा। उन्होंने लिखा है, "जो जिणु केवल णाणमउ परमाणंद सहाउ। सो परमप्पउ परम-परु सो जिय अप्प सहाउ॥" अत: जिनेन्द्र में अनुराग करना अपनी आत्मा में ही प्रेम करना है। आत्म-प्रेम का अर्थ है—आत्मसिद्धि, जिसे योग कहते हैं। जिनेन्द्र का अनुराग भी मोक्ष देता है। आचार्य पूज्यपाद ने, आठ कर्मों का नाश कर आत्मस्वभाव को साधने वाले भगवान् सिद्ध से मोक्ष की प्रार्थना की है। उन्होंने यह भी लिखा है कि भगवान् जिनेन्द्र का मुख देखने से ही मुक्ति-रूपी लक्ष्मी का मुख दिखायी पड़ता है, अन्यथा नहीं।

पाँचवाँ प्रश्न भक्ति के क्षेत्र में सौदेबाजी से सम्बन्धित है। जो जीव भक्ति करेगा, भगवान् उसे कुछ देगा—इहलौकिक सब कुछ। कबीर ने इसे कभी स्वीकार नहीं किया। वे एक मस्त जीव थे। लेन-देन से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। इस प्रवृत्ति को पनपाने के लिए जिस बीज की आवश्यकता होती है, वह कबीर में था ही नहीं। वे तो बिना कुछ मांगे पूर्ण आत्म-समर्पण के पक्ष में थे। उनका पूर्ण विश्वास था कि मन को 'बिसमल' किये बिना ब्रह्म के दर्शन नहीं हो सकते। जब तक सर नहीं दोगे ब्रह्म नहीं मिलेगा। कबीर का कहना था कि ब्रह्म में मन लगा देने से, मन का मलीमस स्वत: दूर हो जाता है। ऐसा नहीं कि पहले मल दूर करो तब ब्रह्म आयेगा। सर काट कर हाथ पर रख लो, यही मुख्य है। सर मैला है कि साफ, यह देखने की आवश्यकता नहीं है। सर कटते ही समर्पण पूरा हो जाएगा, और तभी ब्रह्म भी प्राप्त हो सकेगा। इसे कहते हैं–बिला शर्त समर्पण। इसे ही अहैतुक प्रेम अथवा अहैतुकी भक्ति कहते हैं।

अहैतुकता जैसी जैन भक्ति-मार्ग में बन पाती है, अन्यत्र नहीं। जैन भगवान् विश्व का नियन्ता नहीं है, वह मुक्त है, अकर्त्ता है। वह नितान्त वीतरागी है। वह दृष्टा

भर है। ऐसे भगवान् की भक्ति कोई भी भक्त निष्काम होकर ही कर सकता है। कुछ न देने वाले का दर्शनाकांक्षी निष्काम होगा ही, यह सत्य है। ऐसे प्रभु की दर्शनाकांक्षा भी होती है, तो वह कहाँ टिके ? प्रश्न यह है। एक सहारा है—वीतरागी के गुण, अर्थात् उसकी वीतरागता। निष्काम भक्त को वही भाती है। और वह वीतरागता स्वयं भक्त में मौजूद है, छिपी पड़ी है। वीतरागी के दर्शन से उसे ढूंढ़ने की प्रेरणा मिलती है—स्वतः इतना ही है। शर्त को कोई स्थान नहीं। लेन-देन से कोई मतलब नहीं।

दूसरी बात, जैन भक्त को समर्पण करने अन्यत्र नहीं जाना पड़ता। वहाँ तो 'स्व' के प्रति 'स्व' को समर्पित करना होता है। जीवात्मा में परमात्म-रूप होने की भावना ज्यों ही जगती है, वह परमात्मा बन जाती है। जैसे सूर्य के प्रतापवान होने पर घन-समूह को विदीर्ण होना ही पड़ता है और सूर्य निराबाध ज्योतिवन्त हो उठता है, जैसे द्वितीया के चन्द्र के आगमन की इच्छा होते ही अमा की निशा को मार्ग देना ही पड़ता है और उसकी शीतल किरणें चतुर्दिक् विकीर्ण हो जाती हैं, जैसे नदी की धार में मरोड़ आते ही पत्थरों को चूर्ण-चूर्ण होना ही पड़ता है और वह एक स्वस्थ प्रवाह लिए वह उठती है, वैसे ही आत्मा में समर्पण-भाव के उगते ही परमात्म-प्रकाश उदित हो उठता है। जब समर्पण के सहारे आत्मा स्वयं ब्रह्म बन सकती है, तो उसे अपना समर्पण सहेतुक बनाने की क्या आवश्यकता है ? सहेतुक तो वहाँ हो, जहाँ द्वित्व हो, जहाँ भेद हो, पृथक्करण हो। यहाँ तो एक ही चीज है। 'स्व' के प्रति 'स्व' का यह समर्पण जितना अहेतुक हो सकता है, अन्य नहीं।

निष्काम भक्ति ही काम्य है। श्रीमद् भगवत् गीता में भक्ति की निष्कामता पर सर्वाधिक बल दिया गया है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्' इसी की एक कड़ी है। गीता ने संन्यास इसी को कहा, जिसमें काम्य कर्मों का न्यास हो। सच्चा त्याग वही है, जिसमें सर्वकर्म-फल-त्याग हो, जैसे—"काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः। सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागो विचक्षणा।" इसी निष्कामता को लेकर गांधीजी ने अनासक्ति योग-जैसे महान् ग्रन्थ की रचना की थी। जब तक निष्कामता न होगी, अनासक्ति हो ही नहीं सकती। अनासक्त हुए बिना फल-त्याग असम्भव है। चिपकन तभी तक है, जब तक फल-प्राप्त करने की लालसा है। यदि कर्म मुख्य और फल गौण हो जाए तो व्यक्ति और समाज ही नहीं, राष्ट्र भी समुन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है। फल गौण होता है अनासक्ति से और अनासक्ति आती है निष्कामता से। जैन ग्रन्थों में उसके सूत्र बहुत हैं। स्थान-स्थान पर प्राप्त होते हैं।

जैन भक्ति-मार्ग की विशेषता है—ज्ञानमूलकता। ज्ञान-बिना भक्ति अन्ध है और भक्ति के बिना ज्ञान शुष्क है, असाध्य और असम्भव। जिस मानव-जीवन को हम ज्ञान के सूक्ष्म निराकार तन्तु से जोड़ना चाहते हैं, वह सरल पथ का अनुयायी है। वह अनुभूतिमय है, भाव और भावना-युक्त। इनको सहज रूप से सहेज कर ही

भक्ति ज्ञान से मिलती है। शायद जैनाचार्यों ने इसी कारण अपने प्रसिद्ध सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' में सम्यग्दर्शन को प्रथम स्थान दिया है। दर्शन का अर्थ है श्रद्धा। कोरी श्रद्धा नहीं, उसे सम्यक् पद से युक्त होना ही चाहिये। आचार्य समन्तभद्र सुश्रद्धा के पक्षपाती थे। यहाँ सु सम्यक्त्व का द्योतक है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान दोनों एक दूसरे के आश्रित हैं। अन्योन्याश्रित हैं। एक दूसरे के विना अधूरे हैं।

दोनों में जैसा समन्वय जैन काव्यों में निभ सका, अन्यत्र नहीं। इसका कारण है—स्वात्मोपलब्धि। स्वात्मा का अर्थ है वह आत्मा जो अष्टकर्मों के मलीमस् से छूट कर विशुद्ध हो चुकी है। वही सिद्ध कहलाती है। उसे निष्कल भी कहते हैं। वह निराकार, अदृष्ट और अमूर्त्तिक होती है। सिद्ध के रूप में और इस देह में विराजमान शुद्ध आत्म चैतन्य में कोई अन्तर नहीं है। यही स्वात्मा पंचपरमेष्ठी में होती है। पंचपरमेष्ठी में सिद्ध की वात की जा चुकी है, वह निराकार और अदृष्ट है, किन्तु अवशिष्ट चार परमेष्ठी—अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु साकार, दृष्ट और मूर्त्तिक होते हैं; किन्तु 'स्वात्मा' की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अतः चाहे ज्ञानी अपने समाधि-तेज से उस आत्मा में अभेद की स्थापना करे अथवा भक्त भगवन्निष्ठा से वहाँ तक पहुंचे, एक ही वात है। दोनों को अनिर्वचनीय आनन्द का स्वाद समान रूप से मिलता है। साकार और निराकार के मूलरूप में कोई अन्तर नहीं है, एसा जैनाचार्यों ने एकाधिक स्थलों पर लिखा। इसी कारण उनकी दृष्टि में आत्मनिष्ठा और भगवन्निष्ठा में कोई अन्तर नहीं है।

ज्ञान और भक्ति के ध्यान की वात भी अप्रासंगिक नहीं होगी। श्रमणधारा आज से नहीं, युग-युग से ध्यान और भक्ति में एकरूपता मानती रही है। आचार्य उमास्वाति ने "एकाग्र्य चिन्तानिरोधो ध्यानम्" कहा, तो आचार्य पूज्यपाद ने "नानार्थविलम्ब्रनेन चिन्तापरिस्पन्दवती, तस्यान्याशेपमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्रे नियम एकाग्रचिन्तानिरोध इत्युच्यते। अनेन ध्यानस्वरूपमुक्तं भवति।" लिखा। सार है कि मन को सव चिन्ताओं से मुक्त करके एक में केन्द्रित करना ध्यान है; अर्थात् मन को आत्मा में केन्द्रित करने को ध्यान कहते हैं। भक्त भक्ति के द्वारा अपने इष्टदेव में मन को टिकाता है। नानार्थावलम्ब्वनेनपरिस्पन्दवती चिन्ता से मन को व्यावर्त्य करना दोनों को अमीष्ट है। उसके विना मन न तो इष्टदेव पर टिकता है और न आत्मा पर केन्द्रित होता है। इस प्रकार भक्ति और ध्यान में कोई अन्तर नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में, "पंचपरमेष्ठी का चिन्तवन, आत्मा का ही चिन्तवन है।" आचार्य योगीन्दु ने भी लिखा है, "जो जिन भगवान् है, वह ही आत्मा है, यह ही सिद्धान्त का सार समझो।" श्री देवसेन ने आधार की दृष्टि से, 'भावसंग्रह' नाम के ग्रन्थ में, ध्यान के दो भेद किये हैं—सालम्व ध्यान और निर-

वलम्ब ध्यान। सालम्ब ध्यान वह ही है, जिसमें मन को पंचपरमेष्ठी पर टिकाना होता है। इसी भाँति आचार्य वसुनन्दि ने ध्यान और भावपूजा को एक मान कर, ध्यान और भक्ति की एकता सिद्ध की है। पूजा भक्ति का मुख्य अंग है। उसके दो भेद हैं—भावपूजा और द्रव्यपूजा। भावपूजा परम भक्ति के साथ जिनेन्द्र के अनन्तचतुष्टय आदि गुणों पर मन को केन्द्रित करना है।

सामायिक एक ध्यान ही है। आचार्य समन्तभद्र ने मन को संसार से हटाकर आत्मस्वरूप पर केन्द्रित करने को सामायिक कहा है। ध्यान होने से सामायिक भी भक्ति ही है। पं. जयचन्द्र छावड़ा ने 'चरित्रपाहुड' का अनुवाद करते हुए एक स्थान पर लिखा है, "एकान्त स्थान में बैठकर अपने आत्मिक स्वरुप का चिन्तवन करना अथवा पंचपरमेष्ठी का भक्तिपाठ पढ़ना सामायिक है।" आचार्य सोमदेव ने भी 'यशस्तिलक' में स्नान, पूजन, स्तोत्र, जप, श्रुतस्तव और ध्यान की एकता सिद्ध करते हुए सभी को सामायिक कहा है। आचार्य श्रुतसागरसूरि ने एकाग्र मन से देव-वन्दना को सामायिक मान कर भक्ति की ही प्रतिष्ठा की है। आचार्य अमितगति का सामायिक पाठ तो भक्ति-पाठ ही है।

जैनाचार्यों ने समाधि को उत्कृष्ट ध्यान के अर्थ में लिया है। उनके अनुसार चित्त का सम्यक् प्रकार से ध्येय में स्थित हो जाना ही समाधि है। समाधि में निर्विकल्पक अवस्था तक पहुँचने के पूर्व मन को पंचपरमेष्ठी पर टिकाना अनिवार्य है। भक्त भी अपना मन पंचपरमेष्ठी में तल्लीन करता है, अत: दोनों अवस्थाओं में कोई अन्तर नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्राकृत में और आचार्य पूज्यपाद ने संस्कृत में 'समाधिभक्ति' की रचना की है। इस भक्ति में समाधि, समाधिस्थों और समाधि-स्थलों के प्रति सेवा, श्रद्धा और आदर-सत्कार का भाव प्रगट किया गया है।

तो, ज्ञान और भक्ति का जैसा समन्वित रूप जैन ग्रन्थों में देखने को मिलता है, अन्यत्र नहीं। बनारसीदास की सुमति ने भक्ति बन कर जिस आराध्य को साधा वह निराकार था और साकार भी, एक था और अनेक भी, निर्गुण था और सगुण भी। इसी कारण जैनकवियों ने सगुण का समर्थन करने के लिए निर्गुण का खण्डन नहीं किया और निर्गुण की आराधना के लिए सगुण राम पर रावण की हत्या का आरोप नहीं लगाया। वे निर्द्वन्द्व हो दोनों के गीत गा सके। कवि बनारसीदास ने "नाना रूप भेष धरे भेष को न लेस धरे, चेतन प्रदेस धरे चेतना को खंध है।" कह कर साकार कहा और निराकार भी। इसी भाँति उन्होंने एक ही ब्रह्म को "निर्गुण रूप निरञ्जन देवा, सगुण स्वरूप करें विधि सेवा।" लिख कर निर्गुण कहा और सगुण भी। यह एक अनेकान्तात्मक परम्परा थी, जो बनारसी को जन्म से मिली थी। इस परम्परा का जाने और अनजाने कबीर पर भी प्रभाव पड़ा, ऐसा उनके काव्य से सिद्ध है। कबीर को निर्गुण ब्रह्म का उपासक कहा जाता है। निर्गुण का

अर्थ है गुणातीत। गुण का अर्थ है—प्रकृति का विकार—सत्व, रज और तम। संसार इस विकार से संयुक्त है और ब्रह्म इससे रहित; किन्तु कवीरदास ने विकार-संयुवत संसार के घट-घट में निर्गुण ब्रह्म का वास दिखा कर सिद्ध किया है कि 'गुण' 'निर्गुण' का और 'निर्गुण' 'गुण' का विरोधी नहीं है। उन्होंने 'निरगुन' में 'गुन' और 'गुन' में 'निरगुन' को ही सत्य माना, अवशिष्ट सव को धोखा कहा; अर्थात् कवीरदास ने सत्त्व, रज, तम से रहित होने के कारण ब्रह्म को निर्गुण और सत्त्व-रज-तम रूप विश्व के कण-कण में व्याप्त होने की दृष्टि से सगुण कहा। उनका ब्रह्म भीतर से वाहर और वाहर से भीतर तक व्याप्त था। वह अभाव रूप भी था और भाव रूप भी, निराकार भी था और साकार भी, द्वैत भी और अद्वैत भी। जैसे अनेकान्त में दो विरोधी पहलू अपेक्षाकृत दृष्टि से निभ पाते हैं, वैसे कवीर के ब्रह्म में भी थे। वास्तविकता यह है कि कवीरदास को अनेकान्त और उसके पीछे छिपा सिद्धान्त न तो किसी ने समझाया और न उसके समझने से उनका कोई मतलव ही था। कवीर सिद्धान्तों के घेरे में वंधने वाले जीव नहीं थे। उन्होंने सदैव सुगन्धि को पसन्द किया, ऐसी सुगन्धि जो सर्वोत्तम थी। वह कहाँ से आ रही थी, किसकी थी, इसकी उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की।

अनेकान्त का यही स्वर अपभ्रंश के जैनदूहाकाव्य में पूर्ण रूप से वर्त्तमान हैं। कवीर ने जिस ब्रह्म को निर्गुण कहा, योगीन्दु के 'परमात्मप्रकाश' में उसे निष्कल संज्ञा से अभिहित किया गया था। निष्कल की परिभाषा वताते हुए टीकाकार ब्रह्म-देव ने 'पंचविधशरीररहितः' लिखा। महचन्द ने भी अपने 'पाहुड़दोहा' में निष्कल शव्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। शरीर-रहित का अर्थ है—निःशरीर, देह-रहित, अस्थूल, निराकार, अमूर्त्तिक और अलक्ष्य। प्रारम्भ में योगीन्दु ने इसी निष्कल को 'निरञ्जन' कह कर सम्वोधित किया है। उन्होंने लिखा है—"जिसके न वर्ण होता है, न गन्ध, न रस, न शव्द, न स्पर्श, न जन्म और न मरण, वह निरञ्जन कहलाता है। निरञ्जन का अधिकाधिक प्रयोग किया गया है। वैसे निष्कल के अनेक पर्यायवाची हैं। उनमें आत्मा, सिद्ध, जिन और शिव का स्थान-स्थान पर प्रयोग मिलता है। मुनि रामसिंह ने समूचे 'पाहुड़दोहा' में केवल एक स्थान पर 'निर्गुण' शव्द लिखा है। उन्होंने उसका अर्थ किया है—निर्लक्षण और निःसंग। वह निष्कल से मिलता-जुलता है।

कवीर के निर्गुण में गुण और गुण में निर्गुण वाली वात अपभ्रंश के काव्यों में उपलव्ध होती है। योगीन्दु ने लिखा, "जसु अब्भंतरि जगु वसई, जग-अब्भंतरि जो जि।" ऐसा ही मुनि रामसिंह का कथन है, "तिहुयणि दीसइ देउ, जिण जिणवर तिहुवणु एउ।" अर्थात् त्रिभुवन में जिनदेव दिखता है और जिनवर में यह त्रिभुवन। जिनवर में त्रिभुवन ठीक वैसे ही दिखता है, जैसे निर्मल जल में ताराओं का समूह प्रतिविम्वित होता है।

त्रिभुवन में जिनदेव की व्याप्ति विचार का विषय है। त्रिभुवन का अर्थ है—त्रिभुवन में रहने वालों का घट-घट। उसमें निर्गुण या निष्कल ब्रह्म रहता है। निष्कल है पवित्र और घट-घट है अपवित्र, कलुष और मैल से भरा। कुछ लोगों का कथन है कि ब्रह्म गन्दी जगह पर नहीं रह सकता, अतः पहले उसको तप, संयम या साधना, किसी भी प्रक्रिया से शुद्ध करो, तब वह रहेगा, अन्यथा नहीं। कबीर का कथन था कि राम के बसते ही घट स्वतः पवित्र हो जाएगा। मैल अपने आप छूट जाएगा और कलुष स्वयं चुक कर रह जाएगा। उन्होंने लिखा—"ते सब तिरे राम रसवादी, कहे कबीर बूड़े बकवादी।" उनकी दृष्टि में विकार की लहरों से तरंगायित इस संसार-सागर से पार होने के लिए राम रूपी नैय्या का ही सहारा है। कबीर से बहुत पहले मुनि रामसिंह ने भीतरी चित्त के मैल को दूर करने के लिए, "अब्भितरि चित्ति व मइलियइं बाहरि काइ तवेण। चित्ति णिरंजणु को वि धरि मुच्चहि जेम मलेण॥" के द्वारा निरञ्जन को धारण करने की बात कही थी। उन्होंने यह भी लिखा कि जिसके मन में परमात्मा का निवास हो गया, वह परम-गति पा लेता है। एक स्थान पर तो उन्होंने कहा कि जिसके हृदय में जिनेन्द्र मौजूद है, वहाँ मानो समस्त जगत् ही संचार करता है। इसके परे कोई नहीं जा सकता। इसी प्रकार आचार्य योगीन्दु का कथन है—"जिसके मन में निर्मल आत्मा नहीं बसती, उसका शास्त्र-पुराण और तपश्चरण से भी क्या होगा?" अर्थात् निष्कल ब्रह्म के बसने से मन शुद्ध हो जाएगा और गन्दगी स्वतः विलीन हो जाएगी। मन निरञ्जन को पाते ही मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। इसके सिवा, तन्त्र और मन्त्र उसे मोक्ष नहीं दिला सकते। महचन्द ने अपने 'पाहुड़दोहा' में लिखा है, "निष्कल परम जिन को पा लेने से जीव सब कर्मों से मुक्त हो जाता है, आवागमन से छूट जाता है और अनंत सुख प्राप्त कर लेता है।" अर्थात् कलुष स्वतः हट जाता है—रहता ही नहीं।

जैन भक्ति का एक विशेष पहलू है—दिव्य अनुराग। इसे यदि भगवत्प्रेम कहें तो अनुचित न होगा। यहाँ राग और प्रेम पर्यायवाची हैं। इसी को शाण्डिल्य ने 'परानुरक्तिः' कहा है। परानुरक्ति गम्भीर अनुराग को कहते हैं। गम्भीर अनुराग ही प्रेम कहलाता है। चैतन्य महाप्रभु ने रति अथवा अनुराग के गाढ़े हो जाने को 'प्रेम' कहा है। 'भक्ति रसामृतसिन्धु' में लिखा है "सम्यङ् मसृणित स्वान्तो ममत्वाति-शयाङ्कितः। भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेम निगद्यते।" इन सब से पूर्व, अर्थात् विक्रम की छठी शताब्दी में आचार्य पूज्यपाद ने "अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भाव विशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः।" अर्थात् अर्हन्त, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन में भावविशुद्धि-युक्त अनुराग ही भक्ति है—लिखा था। विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के एक जैन आचार्य सोमदेव का कथन है, 'जिन, जिनागम और तप तथा श्रुत में पारायण आचार्य में सद्भाव विशुद्धि से सम्पन्न अनुराग भक्ति कहलाता है।

जैन आचार्यों ने राग को बन्ध का कारण कहा है, किन्तु वहीं, जहाँ वह 'पर' में किया गया हो। वीतराग परमात्मा 'पर' नहीं, 'स्व' आत्मा ही है और आत्म प्रेम का अर्थ है—आत्मसिद्धि, जिसे मोक्ष कहते हैं। शायद इसी कारण आचार्य पूज्यपाद ने राग को भक्ति कहा। वीतरागी के प्रति राग का यह भाव जैन भक्ति के रूप में निरन्तर प्रतिष्ठित बना रहा। भक्त कवियों ने उसी को अपना आधार माना।

हिन्दी के जैन भक्ति-काव्य में यह रागात्मक भाव जिन अनेक मार्गों से प्रस्फुटित हुआ, उनमें दाम्पत्य रति प्रमुख है। दाम्पत्य रति का अर्थ है—पति-पत्नी का प्रेम-भाव। पति-पत्नी में जैसा गहरा प्रेम सम्भव है, अन्यत्र नहीं। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में लिखा, "कामिहि नारि पिआरि जिमि, प्रिय लागहु मोहि राम।" शायद इसी कारण दाम्पत्य रति को रागात्मक भक्ति में शीर्ष स्थान दिया गया है।

हिन्दी के जैन कवियों ने चेतन को पति और सुमति को पत्नी बनाया। पति के विरह में पत्नी बेचैन रहती है, वह सदैव पति-मिलन की आकांक्षा करती है। पति-पत्नी के प्रेम में जो मर्यादा और शालीनता होती है, जैन कवियों ने उसका पूर्ण निर्वाह 'दाम्पत्य रति' वाले रूपकों में किया है। कवि बनारसीदास की 'अध्यात्मपद-पंक्ति', भैय्या भगवतीदास की 'शत अष्टोत्तरी', मुनि विनयचन्द्र की चूनड़ी, द्यानतराय, भूधरदास, जगराम और देवाब्रह्म के पदों में दाम्पत्य रति के अनेक दृष्टान्त हैं और उनमें मर्यादा का पूर्ण पालन किया गया है। हिन्दी के कतिपय भक्ति-काव्यों में दाम्पत्य रति छिछले प्रेम की द्योतक-भर बन कर रह गयी है। उनमें भक्ति कम और स्थूल सम्भोग का भाव अधिक है। भक्ति की ओट में वासना को उद्दीप्त करना किसी भी दशा में ठीक नहीं कहा जा सकता। जैन कवि और काव्य इससे बचे रहे।

आध्यात्मिक विवाह भी रूपक काव्य हैं। इनमें मेरुनन्दन उपाध्याय का 'जिनोदय सूरि विवाहलउ', उपाध्याय जयसागर का 'नेमिनाथ विवाहलो', कुमुदचन्द्र का 'ऋषभ विवाहला' और अजयराज पाटणी का 'शिवरमणी का विवाह' इस दिशा की महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ हैं। 'आध्यात्मिक विवाह' जैनों की मौलिक कृतियाँ हैं। निर्गुनिए संतों ने ऐसी रचनाएँ नहीं कीं। जैन कवियों ने आध्यात्मिक फागु भी अधिकाधिक रचे। चेतन अपनी सुमति आदि अनेक पत्नियों के साथ होली खेलता रहा है। कभी-कभी पुरुष और नारी के जत्थों के मध्य भी होलियाँ खेली गयी हैं। वैसे तो होलियाँ सहस्रों जैन पदों में बिखरी हैं, किन्तु जैसी सरसता द्यानतराय, जगराम और रूपचन्द्र के काव्य में है, दूसरी जगह नहीं। चेतन की पत्नियों को चूनड़ी पहनने का चाव था। कबीर की बहुरिया ने भी 'चूनड़ी' पहनी है, किन्तु साधुकीर्त्ति की चूनड़ी में संगीतात्मक लालित्य अधिक है।

नेमिनाथ और राजीमति से सम्वन्धित मुक्तक और खण्डकाव्यों में जिस प्रेम की अनुभूति सन्निहित है, वह भी स्थूल नहीं, दिव्य ही था। वैरागी पति के प्रति यदि पत्नी का सच्चा प्रेम है, तो वह भी वैराग्य से युक्त ही होगा। राजीमती का नेमीश्वर के साथ विवाह नहीं हो पाया था कि वे भोज्य पदार्थ वनने के लिए वंधे पशुओं की करुण पुकार से प्रभावित होकर तप करने चले गये, फिर भी राजीमती ने जीवन-पर्यन्त उन्हीं को अपना पति माना। ऐसी पत्नी का प्रेम झूठा अथवा वासना-मिश्रित होगा, कोई नहीं कह सकता।

हिन्दी की अनेक मुक्तक रचनाओं में राजीमती के सौन्दर्य और विरह की भाव-परक अनुभूतियाँ हैं; किन्तु वे अपभ्रंश की प्रोषितपतिकाओं से थोड़ा भी प्रभावित नहीं है। राजीमती सुन्दर है, किन्तु उसे अपने सौन्दर्य का कभी आभास नहीं होता। राजीमती विरह-प्रपीड़ित है, किन्तु उसे पति के सुख का ही अधिक ध्यान है। विरह में न तो उसकी शैय्या नागिन वन सकी है और न उसने अपनी रातें ही पाटियाँ पकड़ कर वितायी हैं। राजशेखर के 'नेमीश्वरफागु'; हर्षकीर्त्ति, हेम विजय और विनोदीलाल के 'नेमीश्वर गीतो' में राजीमती का सौन्दर्य तथा जिनहर्ष, लक्ष्मी-वल्लभ, विनोदीलाल और धर्मवर्द्धन के 'नेमि-राजीमती-वारहमासो' में राजीमती का विरह उत्तम काव्य का निदर्शन है। कहीं ऊहात्मकता नहीं। सौन्दर्य और विरह की कहीं नाप-जोख नहीं। सव कुछ स्वाभाविक है। भावों के साँचे में ढला।

हिन्दी के जैन कवि भगवान् के अनन्य प्रेम को जिस भाँति आध्यात्मिक पक्ष में घटा सके, हिन्दी का अन्य कोई कवि नहीं कर सका। कवीर में दाम्पत्य भाव है और आध्यात्मिकता भी, किन्तु वैसा आकर्षण नहीं, जैसा कि आनन्दघन में है। जायसी के प्रवन्धकाव्य में अलौकिक की ओर इशारा भले ही हो, किन्तु लौकिक कथानक के कारण उसमें वह एकतानता नहीं आ पायी है, जैसी कि आनन्दघन के मुक्तक पदों में पायी जाती है। सुजान वाले घनानन्द के वहुत-से पद 'भगवद्भक्ति' में वैसे नहीं खप सके, जैसे कि सुजान के पक्ष में घटे हैं। महात्मा आनन्दघन जैनों के एक पहुँचे हुए साधु थे। उनके पदों में हृदय की तल्लीनता है, एकनिष्ठता है, एकाग्रता है, समाधि-जैसी स्थिरता है, कहीं द्वैध नहीं, अटकाव नहीं। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है, "सुहागिन के हृदय में निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति से ऐसा प्रेम जगा है कि अनादिकाल से चली आने वाली अज्ञान की नींद समाप्त हो गयी। भक्ति के दीपक ने एक ऐसी सहज ज्योति को प्रकाशित किया है, जिससे अहंकार स्वयं पलायन कर गया और अनुपम तत्त्व सहज ही मिल गया।" एक दूसरे स्थान पर उन्होंने लिखा है, "प्रेम एक ऐसा अचूक तीर है कि जिसे लगता है, वह ढेर हो जाता है। वह एक ऐसी वीणा का नाद है, जिसको सुन कर आत्मा-रूपी मृग तिनके तक चरना भूल जाता है। प्रभु तो प्रेम से मिलता है, उसकी कहानी कही नहीं जा सकती।"

अनन्य प्रेम में वह शक्ति होती है कि स्वयं भगवान् भक्त के पास आते हैं। भक्त नहीं जाता। जब भगवान् आते हैं, तो भक्त के आनन्द का पारावार नहीं रहता। आनन्दघन की सुहागन नारी के नाथ भी स्वयं आये हैं, और अपनी तिया को प्रेम-पूर्वक स्वीकार किया है। लम्बी प्रतीक्षा के बाद आये नाथ की प्रसन्नता में, पत्नी ने भी विविध भाँति के शृंगार किये हैं। उसने प्रेम, प्रतीति, राग और रुचि के रंग की साड़ी धारण की है, भक्ति की महँदी रांची है और भाव का सुखकारी अंजन लगाया है। सहज स्वभाव की चूड़ियाँ पहनी हैं और थिरता का भारी कंगन धारण किया है। ध्यान-रूपी उरवसी-गहना वक्षस्थल पर पड़ा है, और प्रिय के गुण की माला को गले में पहना है। सुख के सिन्दूर से मांग को सजाया है और निरति की वेणी को ठीक ढंग से गूँथा है। उसके घट में त्रिभुवन की सब-से-अधिक प्रकाश्य-मान ज्योति का जन्म हुआ है। वहाँ से अनहद का नाद भी उठने लगा है। अब तो उसे लगातार एकतान से पियरस का आनन्द उपलब्ध हो रहा है।"

ठीक इसी भाँति बनारसीदास की नारी के पास भी निरञ्जनदेव स्वयं प्रगट हुए हैं। उसे इधर-उधर भटकना नहीं पड़ा। अब वह अपने खञ्जन-जैसे नेत्रों से उसे पुलकायमान होकर देख रही है। उसकी पुलक का ठिकाना नहीं है। वह प्रसन्नता-भरे गीत गा उठी। पाप और भय स्वतः विलीन हो गये। उसका साजन असाधारण है, कामदेव-सा सुन्दर और सुधारस-सा मधुर। उसका आनन्द अनिर्वचनीय है, शाश्वत है—कभी मिटता नहीं, चुकता नहीं। सुहागन को वह अक्षय रूप से प्राप्त हुआ है। □

जैन दर्शन की सहज उद्भूति : अनेकान्त (पृष्ठ १७८ का शेष)

हम उसे अन्य कोणों से भी देख पाते। वह उतना ही नहीं है जितना हमें दिखायी देता है। निश्चित रूप से वह उसके अलावा भी है। वह अनन्तधर्मा विराट महाशक्ति है। उसके लिए अपनी सत्ता और सम्पत्ति के परिग्रह को कम करें। यही अनेकान्त-दृष्टि का लोक व्यवहार-गत रूप है। महावीर ने इसे अपने जीवन में घटित किया। वे परिग्रह से सर्वथा मुक्त हो गये। उन्हें न धन का परिग्रह था, न सत्ता का और न यश का। आज गृहस्थ ही नहीं संन्यासी भी इन परिग्रहों से मुक्त नहीं हैं। संन्यासियों में यश बटोरने की ही होड़ लगी हुई है और यश आ गया तो शेष सब कुछ तो स्वतः आता रहता है। परिग्रह हजार सूक्ष्म पैरों से चल कर हमारे पास आता है और हम ग़फ़लत में पकड़ लिये जाते हैं। हम संग्रह-विश्वासी बन गये हैं। त्याग कर ही नहीं सकते। त्याग करते भी हैं तो और अधिक परिग्रह के लिए त्याग करते हैं। धन को त्याग कर यश और यश को त्याग कर धन घर में रख लिया जाता है। महावीर की समाज-व्यवस्था अपरिग्रह पर आधारित है और एक-न-एक दिन हमें उसी की शरण में जाना होगा।

इस प्रकार अनेकान्त सम्पूर्ण जैन दर्शन की आधार-शिला है। चिन्तन, वाणी, आचार, और समाज-व्यवस्था सभी के लिए वह एक सही दिशा है; लेकिन वह आरोपित नहीं है, वस्तु-स्वरूप को वैज्ञानिक ढंग से समझने का सहज परिणाम है। □□

बदलते संदर्भों में जैनधर्म की भूमिका

☐ जैनधर्म चूँकि लोकधर्म है, व्यक्ति-विकास की उसमें परिपूर्ण प्रतिष्ठा है; अतः उसके सिद्धान्त आज के बदलते परिवेश में अधिक उपयोगी हो सकते हैं।

☐ जैनधर्म अव उनका नहीं रहेगा जो परम्परा से उसे ढो रहे हैं; वह उनका होगा जो वर्तमान में उसे जी रहे हैं।

– डा. प्रेमसुमन जैन

प्रत्येक युग कुछ नये परिवर्तनों के साथ उपस्थित होता है। कुछ परम्पराओं को पीछे छोड़ देता है; किन्तु कुछ ऐसा भी शेष रहता है, जो अतीत और वर्तमान को जोड़े रहता है। वौद्धिक मानस इसी जोड़ने वाली कड़ी को पकड़ने और परखने का प्रयत्न करता है। अतः आज के वदलते हुए सन्दर्भों में प्राचीन आस्थाओं, मूल्यों एवं चिन्तन-धाराओं की सार्थकता का अन्वेषण स्वाभाविक है। जैनधर्म मूलतः वदलते हुए सदन्र्भों का ही धर्म है। वह आज तक किसी सामाजिक कठघरे, राजनैतिक परकोटे तथा वर्ग और भापागत दायरों में नहीं वँधा। यथार्थ के धरातल पर वह विकसित हुआ है। तथ्यों को स्वीकारना उसकी नियति है, फिर चाहे वे किसी भी युग के हों, किसी भी चेतना द्वारा उनका आत्मसाक्षात्कार किया गया हो।

वर्तमान युग जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य में वदला नहीं, व्यापक हुआ है। भगवान् ऋपभ देव ने श्रमण-धर्म की उन मूलभूत शिक्षाओं को उजागर किया था जो तात्कालिक जीवन की आवश्यकताएँ थीं। महावीर ने अपने युग के अनुसार इस धर्म को और अधिक व्यापक किया। जीवन-मूल्यों के साथ-साथ जीव-मूल्य की भी वात उन्होंने कही। आचरणगत अहिंसा का विस्तार वैचारिक अहिंसा तक हुआ। व्यक्तिगत उपलब्धि, चाहे वह ज्ञान की हो या वैभव की, अपरिग्रह द्वारा सार्वजनिक की गयी। शास्त्रकारों ने इसे महावीर का गृहत्याग, संसार से विरक्ति आदि कहा; किन्तु वास्तव में महावीर ने एक घर, परिवार, एवं नगर से निकल कर सारे देश को अपना लिया था। उनकी उपलव्धि अव प्राणिमात्र के कल्याण के लिए समर्पित थी। इस प्रकार उन्होंने जैनधर्म को देश और काल की सीमाओं से परे कर दिया, यही कारण है कि वह विगत दो हजार वर्षो के वदलते

सन्दर्भों में कहीं खो नहीं सका है, मानव-विकास एवं प्राणि-मात्र के कल्याण में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

आज विश्व का जो स्वरूप है, सामान्यत:, चिन्तकों को वदला हुआ नजर आता है। समाज के मानदण्डों में परिवर्तन, मूल्यों का ह्रास, अनास्थाओं की संस्कृति, कुण्ठाओं और संत्रासों का जीवन, अभाव और भ्रष्ट राजनीति, सम्प्रेपण की माध्यम-भापाओं का प्रश्न, भौतिकवाद के प्रति लिप्सा-संघर्ष तथा प्राप्ति के प्रति व्यर्थता का वोध आदि वर्तमान युग के वदलते सन्दर्भ हैं, किन्तु महावीर-युग के परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह सव परिवर्तन कुछ नया नहीं लगता। इन्हीं सव परिस्थितियों के दवाव ने ही उस समय जैनधर्म एवं वौद्ध धर्म को व्यापकता प्रदान की थी। अन्तर केवल इतना है कि उस समय इन वदलते सन्दर्भों से समाज का एक विशिष्ट वर्ग ही प्रभावित था। सम्पन्नता और चिन्तन के धनी व्यक्तित्व ही शाश्वत मूल्यों की खोज में संलग्न थे। शेप भीड़ उनके पीछे चलती थी, किन्तु आज समाज की हर इकाई वदलते परिवेश का अनुभव कर रही है। आम व्यक्ति सामाजिक प्रक्रिया में भागीदार है; और वह परम्परागत आस्थाओं-मूल्यों से इतना निरपेक्ष है, हो रहा है, कि उन किन्हीं भी सार्वजनिक जीवन-मूल्यों को अपनाने को तैयार है, जो उसे आज की विकृतियों से मुक्ति दिला सकें। जैनधर्म चूंकि लोकधर्म है, व्यक्ति-विकास की उसमें प्रतिष्ठा है; अत: उसके सिद्धान्त आज के वदलते परिवेश में अधिक उपयोगी हो सकते हैं।

जैनधर्म में अहिंसा की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है। आज तक उसकी विभिन्न व्याख्याएँ और उपयोग हुए हैं। वर्तमान युग में हर व्यक्ति कहीं-न-कहीं क्रान्तिकारी है; क्योंकि वह आधुनिकता के दंश को तीव्रता से अनुभव कर रहा है, वह वदलना चाहता है प्रत्येक ऐसी व्यवस्था को, प्रतिष्ठान को, जो उसके प्राप्य को उस तक नहीं पहुँचने देती। इसके लिए उसका माध्यम वनती है हिंसा, तोड़-फोड़, क्योंकि वह टुकड़ों में वंटा यही कर सकता है, लेकिन हिंसा से किये गये परिवर्तनों का स्थायित्व और प्रभाव हमसे छिपा नहीं है। समाज के प्रत्येक वर्ग पर हिंसा की काली छाया मंडरा रही है, अत: अव अहिंसा की ओर झुकाव अनिवार्य हो गया है। अभी नहीं तो कुछ और भुगतने के वाद हो जाएगा। आखिरकार व्यक्ति विकृति से अपने स्वभाव में कभी तो लौटेगा!

आज की समस्याओं के सन्दर्भ में "जीवों को न मारना, मांस न खाना, आदि परिभापाओं वाली अहिंसा" वहुत छोटी पड़ेगी; क्योंकि आज तो हिंसा ने अनेक रूप धारण कर लिये हैं। परायापन इतना वढ़ गया है कि शत्रु के दर्शन किये विना ही हम हिंसा करते रहते हैं, अत: हमें फिर महावीर की अहिंसा के चिन्तन में लौटना पड़ेगा। उनकी अहिंसा थी–'दूसरे' को तिरोहित करने की, मिटा देने की। कोई दु:खी है तो 'मैं' हूँ और सुखी है तो 'मैं' हूँ। अपनत्व का इतना

विस्तार ही अहंकार और ईर्ष्या के अस्तित्व की जड़ें हिला सकता है, जो हिंसा के मूल कारण हैं। जैनधर्म में इसीलिए 'स्व' को जानने पर इतना वल दिया गया है क्योंकि आत्मज्ञान का विस्तार होने पर अपनी ही हिंसा और अपना ही अहित कौन करना चाहेगा ?

जैनधर्म की अहिंसा की भूमिका वर्तमान युग की अन्य समस्याओं का भी उपचार है। अपरिग्रह का सिद्धान्त इसी का विस्तार है, किन्तु अपरिग्रह को प्रायः गलत समझा गया है। अपरिग्रह का अर्थ गरीवी या साधनों का अभाव नहीं है। महावीर ने गरीवी को कभी स्वीकृति नहीं दी। वे प्रत्येक क्षेत्र में पूर्णता के पक्षधर थे। इस दृष्टि से अपरिग्रह का आज के समाजवाद से कोई सम्वन्ध नहीं है। इस युग के समाजवाद का अर्थ है कि मुझ से वड़ा कोई न हो। सव मेरे वरावर हो जाएं किसी भी सीमित साधनों और योग्यता वाले व्यक्ति अथवा देश को इस प्रकार की वरावरी पर लाना वड़ा मुश्किल है। महावीर का अपरिग्रही चिन्तन है–मुझसे छोटा कोई न हो; अर्थात् मेरे पास जो कुछ भी है वह सवके लिए है, परिवार, समाज व देश के लिए है। यह सोचना व्यावहारिक हो सकता है। इससे समानता की अनुभूति हो सकती है। अव केवल नारा वनकर अपरिग्रह नहीं रहेगा। वह व्यक्ति से प्रारम्भ होकर आगे वढ़ता है, जवकि समाजवाद व्यक्ति तक पहुँचता ही नहीं है। अपरिग्रह सम्पत्ति के उपभोग की सामान्य अनुभूति का नाम है, स्वामित्व का नहीं; अतः विश्व की भौतिकता उतनी भयावह नहीं है, उसका जिस ढंग से उपयोग हो रहा है, समस्याएँ उससे उत्पन्न हुई हैं। अपरिग्रह की भावना एक ओर जहाँ आपस की छीना-झपटी, संचय-वृत्ति आदि को नियंत्रित कर सकती है, वहीं दूसरी ओर भौतिकता से परे आध्यात्म को भी इससे वल मिलेगा।

विश्व में जितने झगड़े अर्थ और भौतिकवाद को लेकर नहीं है, उतने आपसी विचारों की तनातनी के कारण हैं। हर व्यक्ति अपनी वात कहने की धुन में दूसरे की कुछ सुनना नहीं चाहता। पहले शास्त्रों की वातों को लेकर वाद-विवाद तथा आध्यात्मिक स्तर पर मतभेद होते थे; आज के व्यक्ति के पास इन वातों के लिए समय ही नहीं है। रिक्त हो गया है वह शास्त्रीय ज्ञान से; तथापि वैचारिक मतभेद हैं और उनकी दिशा वदल गयी है। अव सीमा-विवाद पर झगड़े हैं, नारों की शव्दावली पर तनातनी है, लोकतन्त्र की परिभाषाओं पर गरमा-गरमी है। साहित्य के क्षेत्र में हर पढ़ने-लिखने वाला अपने मानदण्डों की स्थापनाओं में लगा हुआ है। भाषा के माध्यम को लेकर लोग खेमों में विभक्त हैं। ऐसी स्थिति में जैनधर्म, या किसी भी धर्म, की भूमिका क्या हो, कहना कठिन है; किन्तु जैनधर्म के इतिहास से एक वात अवश्य सीखी जा सकती है कि उसने कभी भाषा को धार्मिक वाना नहीं पहिनाया। जिस युग में जो भाषा सम्प्रेषण का

माध्यम थी उसे उसने अपना लिया; और इतिहास साक्षी है, जैनधर्म की इससे कोई हानि नहीं हुई है। निष्कर्ष यह कि सम्प्रेषण के माध्यम की सहजता और सार्वजनीनता के लिए वर्तमान में किसी एक सामान्य भाषा को अपनाया जाना बहुत जरूरी है। मतभेदों में सामंजस्य एवं शालीनता के लिए अनेकान्तवाद का विस्तार किया जा सकता है, क्योंकि बिना वैचारिक उदारता को अपनाये अहिंसा और अपरिग्रह आदि की सुरक्षा नहीं है।

गहराई में खोजा जाए तो वर्तमान युग में जैनधर्म के अधिकांश सिद्धान्तों की व्यापकता दृष्टिगोचर होती है। ज्ञान-विज्ञान और समाज-विकास के क्षेत्र में जैनधर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आधुनिक विज्ञान ने जो हमें निष्कर्ष दिये हैं— उनसे जैनधर्म के तत्त्वज्ञान की अनेक बातें प्रामाणित होती जा रही हैं। वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में द्रव्य 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' की परिभाषा स्वीकार हो चुकी है। जैनधर्म की यह प्रमुख विशेषता है कि उसने भेद-विज्ञान द्वारा जड़-चेतन को सम्पूर्णता से जाना है। आज का विज्ञान भी सूक्ष्मता की ओर निरन्तर बढ़ता हुआ सम्पूर्ण को जानने की अभीप्सा रखता है।

वर्तमान युग में अत्यधिक आधुनिकता का जोर है। कुछ ही समय बाद वस्तुएँ, रहन-सहन के तरीके, साधन, उनके सम्बन्ध में जानकारी पुरानी पड़ जाती है। उसे भुला दिया जाता है। नित-नये के साथ मानव फिर जुड़ जाता है। फिर भी कुछ ऐसा है, जिसे हमेशा से स्वीकार कर चला जाता रहा है। यह सब स्थिति और कुछ नहीं, जैनधर्म द्वारा स्वीकृत जगत् की वस्तुस्थिति का समर्थन है। वस्तुओं के स्वरूप बदलते रहते हैं, अतः अतीत की पर्यायों को छोड़ना, नयी पर्यायों के साथ जुड़ना यह आधुनिकता जैनधर्म के चिन्तन की ही फलश्रुति है। नित-नयी क्रान्तियाँ प्रगतिशीलता, फैशन आदि वस्तु की 'उत्पादन' शक्ति की स्वाभाविक परिणति मात्र हैं। कला एवं साहित्य के क्षेत्र में अमूर्तता एवं प्रतीकों की ओर झुकाव वस्तु की पर्यायों को भूलकर शाश्वत सत्य को पकड़ने का प्रयत्न है। वस्तुस्थिति में जीने का आग्रह 'यथार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' के अर्थ का ही विस्तार है।

आज के बदलते सन्दर्भों में स्वतन्त्रता का मूल्य तीव्रता से उभरा है। समाज की हर इकाई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व चाहती है। कोई भी व्यक्ति अपने अधिकार एवं कर्तव्य में किसी का हस्तक्षेप नहीं चाहता। जन-तान्त्रिक शासनों का विकास इसी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आधार पर हुआ है। जैनधर्म ने स्वतन्त्रता के इस सत्य को बहुत पहले घोषित कर दिया था। वह न केवल व्यक्ति को अपितु प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को स्वतन्त्र मानता है; इसलिए उसकी मान्यता है कि व्यक्ति स्वयं अपने स्वरूप में रहे और दूसरों को उनके स्वरूप में रहने दे। यही सच्चा लोकतन्त्र है। एक दूसरे के स्वरूपों में जहाँ हस्तक्षेप हुआ, वहीं बलात्कार प्रारम्भ हो जाता है, जिससे दुःख के सिवाय और कुछ नहीं मिलता।

वस्तु और चेतन की इसी स्वतन्त्र सत्ता के कारण जैनधर्म किसी ऐसे नियन्ता को अस्वीकार करता है, जो व्यक्ति के सुख-दु:ख का विधाता हो। उसकी दृष्टि में जड़-चेतन के स्वाभाविक नियम (गुण) सर्वोपरि हैं। वे स्वयं अपना भविष्य निर्मित करेंगे। पुरुषार्थी बनेंगे। युवाशक्ति की स्वतन्त्रता के लिए छटपटाहट इसी सत्य का प्रतिफलन है। इसीलिए आज के विश्व में नियम स्वीकृत होते जा रहे हैं, नियन्ता तिरोहित होता जा रहा है। यही शुद्ध वैज्ञानिकता है।

वस्तु एवं चेतन के स्वभाव को स्वतन्त्र स्वीकारने के कारण जैनधर्म ने चेतन सत्ताओं के क्रम-भेद को स्वीकार नहीं किया। शुद्ध चैतन्यगुण समान होने से उसकी दृष्टि में सभी व्यक्ति समान हैं। ऊँच-नीच, जाति, धर्म आदि के आधार पर व्यक्तियों का विभाजन महावीर को स्वीकार नहीं था; इसीलिए उन्होंने वर्गविहीन समाज की बात कही थी। प्रतिष्ठानों को अस्वीकृत कर वे स्वयं जन-सामान्य में आकर मिल गये थे। यद्यपि उनकी इस बात को जैनधर्म को मानने वाले लोग अधिक दिनों तक नहीं निभा पाये। भारतीय समाज के ढाँचे से प्रभावित हो जैनधर्म वर्ग-विशेष का होकर रह गया था, किन्तु आधुनिक युग के बदलते सन्दर्भ जैनधर्म को क्रमश: आत्मसात् करते जा रहे हैं; वह दायरों से मुक्त हो रहा है। जैनधर्म अब उनका नहीं रहेगा जो परम्परा से उसे ढो रहे हैं; वह उनका होगा जो वर्तमान में उसे जी रहे हैं।

वर्तमान युग में दो बातों का और जोर है—नारी-स्वातन्त्र्य और व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा। नारी-स्वातन्त्र्य के जितने प्रयत्न इस युग में हुए हैं संभवत: उससे कहीं अधिक पुरजोर शब्दों में नारी-स्वातन्त्र्य की बात महावीर ने अपने युग में कही थी। धर्म के क्षेत्र में नारी को आचार्य-पद की प्रतिष्ठा देने वाले वे पहले चिन्तक थे। जिस प्रकार पुरुष का चैतन्य अपने भविष्य का निर्माण करने की शक्ति रखता है, उसी प्रकार नारी की आत्मा भी। अत: आज समान अधिकारों के लिए संघर्ष करती हुई नारी अपनी चेतनता की स्वतन्त्रता को प्रमाणित कर रही है।

जैनधर्म में व्यक्ति का महत्त्व प्रारम्भ से ही स्वीकृत है। व्यक्ति जब तक अपना विकास नहीं करेगा वह समाज को कुछ नहीं दे सकता। महावीर स्वयं सत्य की पूर्णता तक पहले पहुँचे तब उन्होंने समाज को उद्बोधित किया। आज के व्यक्तिवाद में व्यक्ति भीड़ से कटकर चलना चाहता है। अपनी उपलब्धि में वह स्वयं को ही पर्याप्त मानता है। जैनधर्म की साधना, तपश्चर्या की भी यही प्रक्रिया है—व्यक्तित्व के विकास के बाद सामाजिक उत्तरदयित्वों को निबाहना।

जैनधर्म में सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का विवेचन है। गहराई से देखें तो उनमें से प्रारम्भिक चार व्यक्ति-विकास के लिए हैं और अंतिम चार अंग सामाजिक दायित्वों से जुड़े हैं। जो व्यक्ति निर्भयी (नि:शंकित), पूर्णसन्तुष्ट (नि:कांक्षित), देहगत वासनाओं से परे (निर्विचिकित्सक) एवं विवेक से जागृत (अमूढ़ दृष्टि) होगा वही स्वयं के गुणों का विकास (उपबृंहण), कर सकेगा पथभ्रष्टों को रास्ता बता सकेगा (स्थिरीकरण), सहधर्मियों के प्रति सौजन्य-वात्सल्य रख सकेगा तथा जो कुछ उसने अर्जित किया है, जो शाश्वत और कल्याणकारी है उसका वह जगत् में प्रचार कर सकेगा। इस प्रकार जैनधर्म अपने इतिहास के प्रारम्भ से ही उन तथ्यों और मूल्यों का प्रतिष्ठापक रहा है, जो प्रत्येक युग के बदलते सन्दर्भों में सार्थक हों तथा जिनकी उपयोगिता व्यक्ति और समाज दोनों के उत्थान के लिए हो। विश्व की वर्तमान समस्याओं के समाधान-हेतु जैनधर्म की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो सकती है, बशर्ते उसे सही अर्थों में समझा जाए; स्वीकारा जाए। □□

युद्ध-विराम

उन दिनों गुजरात में दो महान् साहित्यिक व्यक्ति चमक रहे थे। एक थे कवीश्वर दलपतराय, और दूसरे थे नाटककार डाह्याभाई। दोनों पहिले गहरे मित्र थे, फिर दोनों एक दूसरे के गहरे शत्रु बन गये। दलपतराय की कविता में डाह्याभाई पर धूल फेंकी जाती, और डाह्याभाई के नाटकों में दलपतराय की खिल्ली उड़ायी जाती। दोनों एक दूसरे को फूटी आँखों भी नहीं सुहाते थे। बात यहाँ तक बढ़ी कि अगर किसी समारोह में एक बुलाया जाता तो दूसरा वहाँ से नौ-दो ग्यारह होता। साहित्यिक समाज में वे छत्तीस के अंक-से प्रसिद्ध थे।

समय बीतता गया, और दोनों साहित्यिकों ने यौवन पार कर बुढ़ापे की ओर पैर बढ़ाये। नाटककार डाह्याभाई एक बार एक संत का प्रवचन सुन रहे थे। संत ने कहा, "बुढ़ापे में सब वैर-जहर उगल डालना चाहिये, और सुलह-प्रेम को अपनाना चाहिये। देखो, प्रकृति तुम्हारे केशों की कालिमा को हटाकर श्वेत या उज्ज्वलता लाती है, तुम्हें यह सिखाने को कि तुम भी अपने हृदय की कालिमा को निकाल कर उज्ज्वल बनो। खट्टा आम भी पकने पर खटास छोड़कर मधुरता ग्रहण करता है, नीम की कड़वी निबोरी भी पकने पर मीठी हो जाती है, फिर क्या मनुष्य इतना गया बीता है कि आयु पकने पर भी वह जीवन में मधुरता न ला सके ?" संत के इन वचनों ने डाह्याभाई के हृदय पर सीधी चोट की। वे तिलमिला उठे। अब वे वैर-विष उगलने को व्यग्र हो उठे।

प्रवचन समाप्त होते ही वे सीधे अपने चिर-शत्रु कवीश्वर दलपतराय के घर पहुँचे, और उनके सामने सिर झुकाये खड़े हो गये। कवीश्वर दलपतराय आश्चर्य में पड़ गये कि वे स्वप्न देख रहे हैं या जाग रहे हैं। कवीश्वर उठे और डाह्याभाई को प्रेम से पकड़कर घर के अंदर ले गये। बैठने पर डाह्याभाई बोले–"युद्ध में एक पक्ष अगर श्वेत-केतु (सफेद झण्डा) दिखाता है, तो युद्ध रुक जाता है, और सन्धि हो जाती है, क्यों कवीश्वरजी ठीक है न ?"

"हाँ, नियम तो यही है।

तब नाटककार डाह्याभाई ने अपनी पगड़ी उतारकर अपने श्वेत-केश बताते हुए कहा कि "यह रहा श्वेत-केतु (सफेद झण्डा)। अब मैं तुमसे सुलह की याचना करता हूँ।" कवीश्वर ने इसका उत्तर उनसे लिपटकर आँसुओं की अजस्र धार से दिया। दोनों ओर से आँसू बहे, और उनमें उनकी चिर शत्रुता सदा-सर्वदा के लिए बह गयी।

–नेमीचन्द पटोरिया

जैन साहित्य : शोध की दिशाएं

देश में सर्वप्रथम जैन विद्वान ही थे जिन्होंने हिन्दी में विभिन्न प्रकार की कृतियाँ लिखकर उसके प्रसार में योग दिया। ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं सदी से ही जैन विद्वानों की मौलिक रचनाएँ मिलने लगती हैं।

--डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल

बीसवीं शताब्दी भारतीय साहित्य के इतिहास में अभूतपूर्व प्रगति का प्रतीक मानी जाती है। इस शताब्दी में साहित्य की विभिन्न धाराओं को विकसित होने का अच्छा अवसर मिला है। यही नहीं आज भी ये धाराएँ अपने-अपने विकास की ओर तीव्र गति से बढ़ रही हैं। नये साहित्य के निर्माण के साथ-साथ प्राचीन साहित्य की खोज एवं उसके प्रकाशन को भी प्राथमिकता मिली है। इस शताब्दी का सबसे उल्लेखनीय कार्य शोध की दिशा में हुआ है जिसके सम्पादन में विश्वविद्यालयों का प्रमुख योग रहा है। संस्कृत एवं हिन्दी के पचासों प्राचीन कवियों एवं लेखकों पर अनेक शोध-प्रबन्ध मात्र लिखे ही नहीं गये हैं अपितु प्रकाशित भी हो चुके हैं, जिनसे हमारे प्राचीन साहित्य के गौरव में तो वृद्धि हुई ही है साथ ही उन कवियों की साहित्यिक सेवाओं के मूल्यांकन करने में भी हम सफल हुए हैं। कालिदास, माघ, तुलसीदास, सूरदास, मीरा एवं कबीर-जैसे महाकवियों पर एक नहीं पचासों शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं जिनमें उनके विभिन्न पक्षों पर गवेषणापूर्ण प्रकाश डाला गया है। अब तो ऐसा समय आने वाला है जब विद्यार्थियों को शोध के लिए विषयों का चयन करना भी कठिन हो जाएगा और उन्हीं विषयों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाएगा।

इधर के पचास वर्षों में जैन-साहित्य पर भी पर्याप्त कार्य हुआ है। यद्यपि विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में जैन विद्वानों द्वारा लिखे गये साहित्य को अभी तक मान्यता नहीं मिल सकी है; किन्तु सामाजिक संस्थाओं द्वारा जैन-साहित्य के प्रकाशन को पर्याप्त संरक्षण मिला है। इस दिशा में भारतीय ज्ञानपीठ, जीवराज ग्रंथमाला, शोलापुर; साहित्य-शोध-विभाग, जयपुर; पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी; वीर सेवा मंदिर, देहली; माणिकचन्द्र ग्रंथमाला, बम्बई; दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत; रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई; आदि संस्थाओं द्वारा गत पचास वर्षों में जो प्रकाशन हुआ है यद्यपि उसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता तथापि इस दिशा

में इसे एक महत्त्वपूर्ण शुरूआत अवश्य कहा जा सकता है और आशा की जाती है कि साहित्य-प्रकाशन में और भी संस्थाओं की रुचि वढ़ेगी ।

जैन-साहित्य का अर्थ उस सभी साहित्य से है जो जैन विद्वानों द्वारा लिखा गया है चाहे वह किसी भाषा में हो, अथवा किसी विषय पर । निःसंदेह जैनाचार्यों एवं विद्वानों ने देश को प्रभूत साहित्य दिया है। उसकी सर्जना एवं सुरक्षा में अपने जीवन के स्वर्णिम दिनों को लगाया है। वह न तो देश-काल के प्रवाह में बहा है और न इसमें उसने जरा भी लापरवाही की है। देश पर कट्टर मुस्लिम शासन में भी जैनाचार्यो एवं श्रावकों ने साहित्य की जिस चतुरता से सुरक्षा की एवं उसमें संवर्द्धन किया उसकी जितनी भी प्रशंसा की जा सके कम है, लेकिन जैनाचार्यो द्वारा निवद्ध साहित्य को जैन-धार्मिक साहित्य कहकर कुछ वर्षो पूर्व तक उपेक्षा की जाती रही और उसे भाषा-साहित्य के इतिहास में किंचित् स्थान भी नहीं दिया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पश्चात् भी हिन्दी एवं संस्कृत के अधिकांश विद्वान् उस परम्परा से चिपके रहे और उन्होंने जैन विद्वानों द्वारा निवद्ध साहित्य की मौलिकता का मूल्यांकन करने का तनिक भी प्रयास नहीं किया।

सर्वप्रथम महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने स्वयम्भू के "पउमचरिउ" को हिन्दी-भाषा का आदि महाकाव्य घोषित करके हिन्दी विद्वानों को एक प्रकार से 'चैलेंज' दिया। यही नहीं उन्होंने अपभ्रंश को हिन्दी की पूर्वभाषा कहकर हिन्दी-साहित्य के उद्गम के अव तक के इतिहास को ही वदल डाला। राहुलजी द्वारा हिन्दी विद्वानों के ध्यानाकर्षण के पश्चात् जब जैन विद्वानों द्वारा अपभ्रंश भाषा में निवद्ध एक के पश्चात् एक काव्यों की उपलब्धि होती गयी तो हिन्दी के शीर्षस्थ विद्वानों को भी जैन विद्वानों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों के मूल्यांकन की आवश्यकता प्रतीत हुई। और डॉ. रामसिंह तोमर, हरिवंश कोछड़ एवं डॉ. एच. सी. भयाणी ने अपभ्रंश के विशाल साहित्य का विद्वानों को परिचय दिया। इस सम्वन्ध में श्री महावीर क्षेत्र के साहित्य शोध-विभाग द्वारा प्रकाशित एवं लेखक द्वारा सम्पादित प्रशस्ति संग्रह से हिन्दी विद्वानों को इस दिशा में कार्य करने की विशेष प्रेरणा मिली; और इस पुस्तक के प्रकाशन के पश्चात् डॉ. हजारीप्रसादजी द्विवेदी-जैसे शीर्षक विद्वानों ने जैन-हिन्दी-साहित्य के प्रति अपने उद्गार प्रकट किये उसने भी विद्वानों का ध्यान बरबस अपभ्रंश एवं हिन्दी-साहित्य की ओर आकृष्ट करने में सफलता प्राप्त की।

१९५० ई. के पूर्व तक जैन-समाज में डॉ. हीरालाल जैन एवं डॉ. उपाध्ये ने ही अपभ्रंश साहित्य पर विशेष कार्य किया और पुष्पदन्त के महापुराण, जसहरचरिउ, णायकुमार चरिउ जैसे काव्यों का सम्पादन एवं प्रकाशन करके विद्वानों का ध्यान इस साहित्य की ओर आकृष्ट किया, लेकिन १९५० के पश्चात् अन्य जैन विद्वानों

का भी ध्यान जैन-साहित्य की विभिन्न विधाओं पर गया और एक के पश्चात् दूसरे विद्वान् शोध के क्षेत्र में प्रवृत हो गये। अब तक २०० से भी अधिक विद्वान् जैन-साहित्य के विभिन्न पक्षों पर या तो कार्य समाप्त कर चुके हैं अथवा शोध की ओर प्रवृत्त हैं। इस सबका श्रेय देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों को है। अब तक की प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार विश्वविद्यालयों में स्वीकृत शोध-प्रबन्ध अथवा शोध के लिये पंजीयत शोध-प्रबन्धों की संख्या निम्न प्रकार है —

	स्वीकृत	पंजीयत	कुल
आगरा विश्वविद्यालय	१९	१८	३७
इलाहाबाद विश्वविद्यालय	२	१	३
अलीगढ़ विश्वविद्यालय	१८	१४	३२
भागलपुर विश्वविद्यालय	२	–	२
बिहार विश्वविद्यालय (मुजफ्फरपुर)	१३	२	१५
बम्बई विश्वविद्यालय	१०	–	१०
कलकत्ता विश्वविद्यालय	१	–	१
दिल्ली विश्वविद्यालय	२	८	१०
गुजरात विश्वविद्यालय	–	८	८
गुरुकुल कांगड़ी	१	–	१
इन्दौर विश्वविद्यालय	२	८	१०
जबलपुर विश्वविद्यालय	३	–	३
कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड	७	–	७
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय	२	–	२
मगध विश्वविद्यालय, गयाजी	५	७	१२
मेरठ विश्वविद्यालय	१	–	१
नागपुर विश्वविद्यालय	२	१	३
पटना विश्वविद्यालय	१	१	२
रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर	२	–	२
राजस्थान विश्वविद्यालय	१२	१०	२२
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी	१	–	१
सागर विश्वविद्यालय, सागर	५	३	८
उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर	२	–	२
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन	४	५	९
	११७	९६	२१३

इस प्रकार देश के सभी विश्वविद्यालयों में जैन विषयों पर शोध कार्य की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रगति हो रही है, यह तो एक सन्तोष का विषय है, लेकिन जैन साहित्य की विशालता एवं विविधता को देखते हुए अभी इस कार्य को आटे में नमक जैसा ही समझा जाना चाहिये। राजस्थान के जैन भण्डारों पर इस निबन्ध के लेखक ने कार्य किया है और इन भण्डारों में सुरक्षित साहित्य की विशालता से उसका थोड़ा परिचय भी है, इसलिए कहा जा सकता है कि अब तक हुआ कार्य केवल प्राथमिक सर्वे वर्क ही है जिसे अभी संपन्न नहीं कर सके हैं।

जैनाचार्यो ने उत्तर एवं दक्षिण भारत की सभी भाषाओं में साहित्य-रचना की है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती के अतिरिक्त दक्षिण की तमिल, तैलुगू, कन्नड एवं मलयालम में उनका अपार साहित्य मिलता है। प्राकृत साहित्य के इतिहास के अतिरिक्त अभी तक संस्कृत भाषा में जैनाचार्यों ने जो साहित्य-निर्माण किया है, उसका व्यवस्थित इतिहास कहाँ है? कृतिशः मूल्यांकन तो दूर की बात है, अभी तक तो काव्य, पुराण, चरित्र, अध्यात्म, कथा, चम्पू, ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित, नाटक, संगीत, पूजा, स्तोत्र जैसे प्रमुख विषयों पर जैनाचार्यो ने कितनी एवं किस शताब्दी में रचनाएँ की हैं, इस पर ही कोई कार्य नहीं हुआ है। जैन पुराणों में भारतीय संस्कृति के जो दर्शन होते हैं उसको तो अभी तक विद्वानों ने छुआ तक नहीं है। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने जिस प्रकार 'आदिपुराण में प्रतिपादित भारत' पुस्तक लिखी है, उस प्रकार की पचासों पुस्तकों के लिखे जाने की संभावनाएं अभी गर्भित हैं। भगवत् जिनसेनाचार्य का 'हरिवंश पुराण'; रविषेण का 'पद्मपुराण', आचार्य गुणभद्र का 'उत्तर पुराण,' हेमचन्द्रचार्य का 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुषचरित्र,' भ. सकलकीर्ति के 'आदि पुराण' 'वर्द्धमान पुराण' 'रामपुराण' जैसी कृतियाँ पुराण-साहित्य की बेजोड़ निधियाँ हैं, जिनका मूल्यांकन अभी प्रतीक्षित है। इन पुराणों के माध्यम से न केवल जैन संस्कृति एवं साहित्य की रक्षा हो सकी है; किन्तु उन्होंने भारतीय संस्कृति के अनेक अमूल्य तथ्यों को भी सुरक्षित रखा है। अब तक इन्हें 'पुराण' कहकर ही पुकारा जाता रहा है किन्तु नगण्य समझे जाने वाले पुराणों में संस्कृति, सभ्यता, रहन-सहन, व्यापार, युद्ध, राजनीति जैसे विषयों का कितना गहन विवेचन हुआ है इस ओर किसी का ध्यान नहीं गया है। उसी तरह संस्कृत-साहित्य की अन्य विधाओं के बारे में शोध-कार्य संभव हैं। संस्कृत का 'स्तोत्र-साहित्य' कितना विपुल है, इसका हम अभी अनुमान भी नहीं लगा सके हैं। राजस्थान के जैन-शास्त्र-भण्डारों की ग्रन्थ सूची, पंचम भाग में स्तोत्र-साहित्य के अन्तर्गत हमने ७०० से अधिक पाण्डुलिपियों का उल्लेख किया है। स्तोत्रों में आचार्यो एवं कवियों ने अपनी मनोगत भावनाओं को तो उँड़ेला ही है, साथ ही जन-भावनाओं के अनुसार भी उनकी रचना हुई है। ये कृतियाँ छंद, अलंकार एवं भाषा की दृष्टि से तो उच्चकोटि की रचनाएँ हैं ही किन्तु अध्यात्म, दर्शन, एवं व्यक्ति की दृष्टि से भी इन पर शोध-कार्य किया जा सकता है। आचार्य समन्तभद्र का 'स्वयम्भू-

स्तोत्र', आचार्य अकलंक का 'अकलंक स्तोत्र,' जिनसेन का 'जिनसहस्रनाम,' तथा इसी तरह 'कल्याण मंदिर स्तोत्र,' 'भक्तामर स्तोत्र,' 'एकीभाव स्तोत्र' जैसे स्तोत्र संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं, जिन पर हम सभी को गर्व होना चाहिये।

अप्रभ्रंश-साहित्य पर तो जैन विद्वानों का एकछत्र राज्य है, वास्तव में अपभ्रंश भाषा में रचनाएँ निबद्ध करके जैन विद्वानों ने इस भाषा-साहित्य की रक्षा ही नहीं की वरन् तत्कालीन जनभाषा में रचनाएँ लिखकर उन विद्वानों को ललकारा है, जो भाषा-व्यामोह के चक्कर में पड़कर एक भाषा से चिपके रहे हैं। प्राकृत एवं अपभ्रंश में सभी प्रमुख रचनाएँ जैन विद्वानों की हैं इसलिए इनकी रचनाओं पर जितना भी कार्य होगा वह सभी कार्य जैन संस्कृति का प्रकाशक ही माना जाएगा। अब वह जमाना आ गया है जब हमें महाकवि स्वयम्भू, पुष्पदन्त, वीर, नयनन्दि, रइधू जैसे अपभ्रंश-कवियों एवं आचार्य कुन्दकुन्द एवं नेमिचन्द्र जैसे प्राकृत भाषा के के आचार्यों की जयन्ती अथवा शताब्दि-समारोह मनाने चाहिये, जिससे इन कवियों के जीवन एवं साहित्य पर मात्र विशेष प्रकाश ही नहीं पड़ सके अपितु जन-साधारण को भी इन कवियों की महत्ता का बोध हो सके। जिस प्रकार संस्कृत में महाकवि कालिदास की अपार सेवाएँ हैं, उसी प्रकार प्राकृत भाषा में आचार्य कुन्दकुन्द तथा अपभ्रंश में महाकवि स्वयम्भू एवं पुष्पदन्त के नाम लिया जा सकता है।

हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा में शोध की कितनी आवश्यकता है इस बारे में जैनेतर विद्वानों को तो क्या सम्भवतः स्वयं जैन विद्वानों को भी पूरी जानकारी नहीं है। देश में सर्वप्रथम जैन विद्वान् ही थे जिन्होंने हिन्दी में विभिन्न प्रकार की कृतियाँ लिखकर उसके प्रसार में योग दिया। ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं सदी से ही जैन विद्वानों की मौलिक रचनाएँ मिलने लगती हैं। प्रारम्भ में इन्होंने रास-संज्ञक रचनाओं के रूप में लिखा और फिर काव्य की विविध विधाओं को जन्म दिया। इन कवियों का अपभ्रंश साहित्य भी हिन्दी-साहित्य की पूर्वपीठिका के रूप में ही था, इसलिए देखा जाए तो जैन-विद्वान् ही हिन्दी-भाषा एवं साहित्य के वास्तविक प्रस्तोता थे। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के इतिहास में आज जो एक प्रकार की रिक्तता दीखती है उसका एक प्रमुख कारण यह है कि उस काल में जैन विद्वानों की रचनाओं को कोई स्थान नहीं मिला (वि. संवत् १४०० तक पचासों जैन रचनाएँ हैं, जिनको अब तक स्थान मिलना चाहिये था और जिनका साहित्यिक मूल्यांकन विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिये था)। हिन्दी का आदिकाल तो जैन-विद्वानों का ही काल है जिन्होंने इस भाषा को प्रश्रय ही नहीं दिया वरन् प्राकृत एवं संस्कृत में रचनाएँ निबद्ध करना बन्द करके हिन्दी-भाषा में अपनी लेखन-शक्ति को लगाया। जिस राष्ट्रभाषा पर आज देश को गर्व है, उसकी नींव तो जैन विद्वानों ने अपनी तपस्या एवं लेखन-प्रतिभा से सींची थी। हिन्दी का यह पौधा जब हरा-भरा हो गया और हिन्दी-कृतियों की लोकप्रियता बढ़ने लगी तब कहीं जैनेतर

विद्वानों ने इस भाषा में लिखने का साहस किया, और महाकवि सूरदास, मीरा एवं तुलसीदास जैसे सन्त कवियों ने इस भाषा में भक्ति-साहित्य को निबद्ध करके इसे पंडितों के कोप से बचाया।

जैन विद्वानों की हिन्दी-रचनाएँ आज सैकड़ों-हजारों की संख्या में उपलब्ध हैं लेकिन दुःख की बात तो यह है कि अभी तक उनका सांगोपांग सर्वेक्षण नहीं हो सका है और न ही कोई प्रामाणिक इतिहास ही लिखा जा सका है। इधर राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारों की ग्रंथ-सूचियों के पाँच भाग जब से प्रकाशित हुए हैं, हिन्दी की सैकड़ों रचनाएँ प्रकाश में आयी हैं और कई शोधार्थियों का ध्यान भी उधर गया है।

जबसे विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग द्वारा प्राकृत भाषा पर प्रतिवर्ष सेमिनार आयोजित करने के लिए अनुदान दिया जाने लगा है तब से और भी अधिक विद्वानों का ध्यान जैन साहित्य पर शोध-कार्य करने की ओर गया है। प्राकृत भाषा पर अब तक कोल्हापुर, बम्बई, पूना, गया, अहमदाबाद एवं उदयपुर में स्थानीय विश्वविद्यालयों की ओर से सेमीनार आयोजित हो चुके हैं। लेखक को भी प्रायः इन सभी सेमिनारों में भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ है। अभी उदयपुर विश्वविद्यालय में "भारतीय संस्कृति के विकास में जैनाचार्यों का योगदान" विषय पर एक अत्यधिक उच्चस्तरीय सेमिनार आयोजित हुआ था, जिसमें जैन एवं जैनेतर विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से जैन-साहित्य के योगदान पर निबन्ध ही नहीं पढ़े अपितु उन पर गहन परिचर्चा भी की। □□

वस्तुतः भारतीय संस्कृति के समग्र अध्ययन के लिए जैन ग्रंथों की सामग्री उपयोगी ही नहीं, अनिवार्य भी है। जैन ग्रंथों का अध्ययन तथा जैन परम्पराओं का पूर्ण परिचय प्राप्त किए बिना हिन्दी साहित्य का सच्चा इतिहास भी नहीं लिखा जा सकता।

—डा. शिवमंगलसिंह 'सुमन'
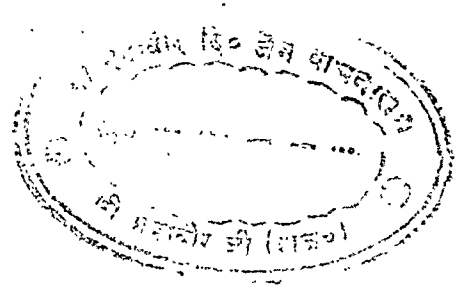
जैनधर्म के विकास में कर्नाटक-साहित्य का योग

महर्षि विद्यानन्द मुनि इसी पुण्यभूमि के हैं; यद्यपि सर्वसंग-परित्याग के वाद प्रान्त, देश, जाति की विवक्षा नहीं रहती है तथापि कर्नाटक राज्य को ऐसी देन का अभिमान तो हो ही सकता है।

□ **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री**

जैन साहित्य की समृद्धि में कर्नाटक प्रांत और कर्नाटक साहित्य ने बहुत योगदान दिया है; स्थापत्य, वास्तु, चित्र-कलाओं एवं कलापूर्ण धर्मायतनों के लिए यह प्रांत प्रसिद्ध है। आज भी श्रवणबेलगोला का गोमटेश्वर, हळेवीड का शांतिनाथ, मूड़विद्री के सहस्रस्तंभ मंदिर, रत्नों की अनर्घ्य प्रतिमाएँ, बेवूर का चेन्नकेशव देवालय आदि को देखकर लोग दंग रह जाते हैं। कला का यह विस्मयपूर्ण दर्शन जगत्-भर को आकर्षित करता है। बेलगाम की कमल बस्ति, वेणूर व कार्कल की बाहुबलि मूर्ति, हुमच पद्मावती का अतिशय, वारंग का जल मंदिर, आज भी यात्रा के स्थान बने हुए हैं।

'षड्खंडागम' सदृश महान् सिद्धान्त-ग्रन्थ के संरक्षण का श्रेय एवं आज के जिज्ञासु बंधुओं को स्वाध्याय के लिए उपलब्ध करने की कीर्ति, इसी प्रान्त को है। अगर वहाँ के धर्म-बन्धुओं ने इसका यत्नपूर्वक जतन नहीं किया होता तो हम अपने बहुत प्राचीन करोड़ों की महत्त्वपूर्ण धरोहर से हाथ धो बैठते जैसे कि आज हमें गन्धहस्ति महाभाष्य का दर्शन दुर्लभ हो रहा है।

कर्नाटक की विशेषता

तीर्थंकरों का जन्म उत्तर भारत में हुआ है तो तीर्थंकरों की वाणी को विशद एवं सरल बनाकर लोककल्याण करने वाले आचार्यों का जन्म हुआ है दक्षिण भारत में। प्रायः कुंदकुंद, अकलंक, पूज्यपाद, समंतभद्र, विद्यानन्दि, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती आदि सभी आचार्य दक्षिण भारत में ही हुए हैं। उनकी जन्मभूमि और कर्मभूमि दक्षिण भारत, विशेषतः कर्नाटक ही रही, इसलिए उत्तर भारत और दक्षिण भारत ने लोकप्रबुद्ध करने का यत्न समान रूप से किया। आधुनिक आचार्य शांति-सागर महाराज आदि मुनियों ने भी दक्षिण भारत में जन्म लेकर ही आज के युग

में मुनिजनों का दर्शन प्राप्त कराया है। पूज्य मुनि विद्यानन्द भी दक्षिण भारत के एवं कर्नाटक प्रान्त के हैं, इसलिए कर्नाटक-साहित्य की परम्परा पर विचार करना यहाँ अप्रासंगिक नहीं है। जिस प्रान्त में मुनिश्री का जन्म हुआ है उस प्रान्त के आचार्य व काव्य-मनीषियों ने उत्तमोत्तम काव्य के सृजन से लोक को सुबुद्ध किया है।

कर्नाटक-साहित्य की प्राचीनता

श्रुति-परम्परा से ज्ञात होता है कि कर्नाटक साहित्य का क्रम बहुत प्राचीन है, इतिहासातीत काल से ही इसका अस्तित्व था। कहा जाता है कि भगवान् आदि प्रभु ने अपनी दोनों पुत्रियों को अक्षराभ्यास व अंकाभ्यास कराया।

इस प्रकरण में आचार्य जिनसेन ने विद्या के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए भगवान् के मुख से विदुषी बनने की प्रेरणा दिलायी है। उसी संदर्भ में आदि प्रभु ने ब्राह्मी व सुंदरी को क्रमशः ब्राह्मी लिपि व अंकशास्त्र का अध्ययन कराया।*

ब्राह्मी देवी को ब्राह्मी लिपि का अभ्यास कराया, अतः वह ब्राह्मी लिपि ही कन्नड लिपि मानी जाती है। ब्राह्मी और कन्नड लिपियों में कुछ अंतर है, अतएव यह लिपि 'हळे कन्नड' (पुराना कन्नड) के नाम से जानी जाती है। हळे कन्नड लिपि में लिखित सैकड़ों प्राचीन ग्रंथ हैं। ताड़पत्र के ग्रंथों में प्रायः यही लिपि है।

यह इतिहासातीत काल का विषय है। हम अन्वेषक विद्वानों पर इसे छोड़े देते हैं; तथापि साहित्य सृजन के युग की दृष्टि से भी कर्नाटक साहित्यकारों का काल बहुत प्राचीन है। बहुत प्राचीन होने से ही हम इसका गुणगान नहीं करते हैं; क्योंकि प्राचीनता गुणोत्कर्ष का कारण नहीं है। साहित्यकारों ने कहा है कि—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं नचापिकाव्यं नवमित्यवद्यम्।
संतः परीक्ष्यान्यतरादजंते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।

प्राचीन होने से ही सब कुछ अच्छे होते हैं यह बात नहीं। नवीन होने से ही कोई निर्दोष होता हैं यह भी नियम नहीं है। विवेकी सज्जन काव्य या साहित्य को

* *इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके,*
अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवीं समर्पया ।।१०३।।
विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकां,
उपादिशल्लिपिं संख्या स्थानं चांकैरनुक्रमात् ।।१०४।।
ततो भगवतो वक्त्रान्निःसृतामक्षरावलीम्
सिद्धं नम इति व्यक्त मंगलां सिद्ध मातृकाम् ।।१०५।।
-*पूर्वपुराण*, पर्व १६.

देखकर उसमें गुण प्रतीत हो तो उसकी प्रशंसा करते हैं, सेवा करते हैं, आदर करते हैं।

इसी प्रकार कर्नाटक-साहित्य की स्थिति है। कर्नाटक-साहित्य की प्राचीनता ही नहीं, महत्ता भी उसमें अपने-आपमें है, इसलिए अन्य साहित्यकारों ने जैन कर्नाटक साहित्य की भी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

राजाश्रय मिला

इन कवियों ने अपनी प्रतिभा-शक्ति का यथेष्ट उपयोग उस समय किया, उसका एक कारण यह भी है कि उन्हें अपने समय में राजाश्रय मिला था, राज्य शासन न करने वाले भी गुणग्राहक थे, अपने आस्थान में ऐसे अनेक कवियों को स्थान देने में वे गौरव समझते थे। राष्ट्रकूट, गंग, पल्लव, चालुक्य, होयसल आदि अनेक राज्यों के शासनकाल में कर्नाटक के इन कवियों ने उनसे प्रोत्साहन प्राप्त किया था, इतना ही नहीं राजाओं को राज्य-शासन के कार्य में भी इन कवियों से मंत्रणा मिलती थी।

राष्ट्रकूट शासक नृपतुंग का समय ९ वीं शताब्दी का है। उसने कन्नड़ में 'कविराज मार्ग' की रचना की है। अपनी रचना में नृपतुंग ने अनेक पूर्वकवियों एवं उनकी कृतियों का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि ९ वीं शती से पहिले भी यह साहित्य अत्यन्त उन्नतावस्था में था, इससे पहिले के सभी ग्रन्थ प्रायः हळे कन्नड (पुराना कन्नड) में बनाये जाते थे। 'कविराज मार्ग' में भी ग्रंथकार ने कुछ हळे कन्नड ग्रंथों का उल्लेख किया है। अनेक प्राचीन कवियों का भी उल्लेख इसमें है। नृपतुंग ने अपने ग्रंथ में श्रीविजय, कवि परमेश्वर, पंडित चंद्र, लोकपाल आदि कवियों का स्मरण किया है।

महाकवि पंप ने भी पूज्यपाद समंतभद्र का अपने ग्रंथों में स्मरण किया है। समंतभद्र और पूज्यपाद का समय तीसरी-पांचवीं शताब्दियाँ मानी जाती हैं; अर्थात् वे बहुत प्राचीन आचार्य हैं। पूज्यपाद और समंतभद्र के ग्रंथों की टीका भी हळे कन्नड में है। इससे भी इस भाषा की प्राचीनता सिद्ध हो सकती है।

कविपरमेष्ठी की कृति कर्नाटक में ही होनी चाहिये। लगता है कविपरमेष्ठी ने त्रिषष्टिशलाका पुरुषों के चरित्र का चित्रण कन्नड भाषा में किया होगा, इसलिए बाद के आचार्यों ने उस कवि का नाम आदर के साथ लिया है।

भगवज्जिनसेन आचार्य ने भी उक्त ग्रंथ से लाभ उठाया होगा इसीलिए वे लिखते हैं कि—

स पूज्यः कविभिर्लोके कवीनां परमेश्वरः
वागर्थ संग्रहं कृत्स्नं पुराणं यः समग्रहीत् ।।

—पूर्वपुराण प्र. अ. ६०.

शब्दार्थ-संग्रह से युक्त चतुर्विशति तीर्थंकर पुराण को जिन्होंने अपनी विद्वत्ता से संग्रह किया ऐसे कविपरमेष्ठी लोक में कवियों के द्वारा पूज्य हैं।

इसी प्रकार आचार्य गुणभद्र ने भी कवि परमेष्ठी की प्रशंसा इस प्रकार की है—

कविपरमेश्वर निगदित गद्यकथा मात्रकं पुरोश्चरितं
सकल छंदोलंकृतिवक्ष्यं सूक्ष्मार्थ गूढपदरचनम् ।।

अर्थात् आचार्य जिनसेन व गुणभद्र के सामने कविपरमेष्ठी द्वारा रचित त्रिपष्टिशलाका पुरुषों का चरित्र गद्यकाव्य में अवश्य होगा; अर्थात् यह कविपरमेष्ठी उनसे कितने प्राचीन हैं यह निश्चित नहीं कहा जा सकता है। फिर भी हम पंप-युग से कर्नाटक-साहित्य की निश्चित भूमिका को व्यक्त कर सकते हैं; अतः उस महाकवि के काल से ही कर्नाटक काव्य-सृष्टि का हम यहाँ दिग्दर्शन करायेंगे।

पंप महाकवि

कर्नाटक-साहित्य पंप महाकवि के आदिकाव्य से समृद्ध हुआ है। कर्नाटक-साहित्य का नाम लेने पर पंप का, पंप का नाम लेने पर कर्नाटक-साहित्य का स्मरण हो जाता है। पंप ने गद्यपद्यपथ चंपूकाव्य से ही अपनी काव्य-सृष्टि का श्रीगणेश किया है। पंप का समय ९४१ ई. माना जाता है। इसने एक धार्मिक व दूसरा लौकिक ऐसे दो काव्यों की रचना की है; जिनके नाम हैं— 'आदिपुराण' और 'पंप भारत'। ये दोनों अजोड़ चंपूकाव्य हैं। इसके पूर्वज वैदिक धर्मावलंबी थे, परंतु इसके पिता अभिराम देव ने जैनधर्म से प्रभावित होकर जैनधर्म को ग्रहण किया; इसलिए पंप के जीवन में जैनधर्म के ही संस्कार रहे।

'आदिपुराण' की कथावस्तु भगवज्जिनसेनाचार्य के महापुराणांतर्गत आदि-जिनेश-चरित है तथापि इसकी शैली स्वतंत्र है। संस्कृत महापुराण के समान ही इसमें भी यत्र-तत्र प्रसंगोपात्त धर्म का भी विवेचन है। भोग व योग का सामंजस्य साधते हुए ग्रंथकार ने सर्वत्र भोग-त्याग का ही संकेत किया है।

दूसरा ग्रंथ पंप चरित या पंप भारत है। विषय भारत है। अपने समय के प्रसिद्ध राजा अरिकेसरी को अर्जुन के स्थान पर रखकर उसकी प्रशंसा की है। कर्नाटक में यह आद्यकवि माना जाता है। जैन व जैनेतर विद्वानों में इसके काव्यों के प्रति परमादर

है। उत्तरकालवर्ति ग्रंथकारों ने भी पंप का बहुत आदर के साथ स्मरण किया है। आगे जाकर कवि नागचंद्र ने स्वयं का अभिनव पंप के नाम से उल्लेख किया है इससे भी इसकी महत्ता सहज ही समझ में आती है।

कवि पोन्न

पंप के बाद पोन्न का नाम सादर उल्लेखनीय है। यह करीब ई. ९५० में हुआ है, इसने दो धार्मिक एवं एक लौकिक काव्य की रचना की है। लौकिक काव्य भुवनैक रामाभ्युदय अनुपलब्ध है, शांतिनाथ पुराण महत्त्वपूर्ण काव्य है, जिनाक्षरमाला स्तोत्र-ग्रंथ है। इसे कवि-चक्रवर्ती, उभयभाषा-चक्रवर्ती आदि उपाधियाँ थीं, उत्तर-वर्ती ग्रंथकारों ने इसका भी सादर स्मरण किया है। इसके द्वारा रचित शांतिनाथ पुराण से प्रभावित होकर दान चिंतामणि अतिमब्बे ने उसकी १००० प्रतियों का लिखा-कर वितरण किया।

कवि रन्न

पोन्न के बाद कविरन्न का क्रम है। यह करीब ९९३ ई. में हुआ सामान्य वैश्य कासार कुल में उत्पन्न होने पर भी उद्दाम पांडित्य को इसने पाया था। अपनी प्रतिभा से अनेक उत्तम ग्रंथों की रचना इसने की थी। इसके द्वारा लिखित अजित-नाथ पुराण एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

परशुरामचरित, चक्रेश्वर-चरित अनुपलब्ध हैं। यह भी कर्नाटक-साहित्य-गगन का एक गणनीय नक्षत्र है।

पंप, रन्न एवं पोन्न कर्नाटक-साहित्य के रत्नत्रय कहलाते हैं। इसी से इनके महत्त्व का पता लग सकता है।

कवि चावुंडराय–

चावुंडराय अथवा चामुंडराय राचमल्ल का सेनापति तथा मंत्री था। वीर होते हुए भी कलाप्रिय था। अपनी माता की प्रेरणा से श्रवणबेलगोला के विशालकाय भगवान् बाहुबलि की मूर्ति का निर्माण इसी ने कराया था, यह करीब क्रि. श. ९६१ से ९८ तक था। इसने संस्कृत में चारित्रसार नामक ग्रंथ की रचना की है। उसी प्रकार कन्नड में चतुर्विशति तीर्थंकर चरित्र की रचना की जो चामुंडराय-पुराण के नाम से प्रसिद्ध है। यह गद्य-ग्रंथ है। इसी प्रकार शिवकोटी ने वड्डाराधने नामक गद्य-ग्रंथ की रचना की है, जो उपलब्ध है; चामुंडराय की अन्य भी कृति होगी, परंतु उपलब्ध नहीं है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत-चक्रवर्ती से इसने अध्यात्म-बोध प्राप्त किया था।

इसी युग में अन्य भी बहुत से कवि हो गये हैं जिनके द्वारा कर्नाटक-साहित्य-संसार समृद्ध हुआ है।

ज्योतिष-शास्त्र के प्रणेता श्रीधराचार्य

इनका समय ११ वीं शताब्दी का मध्य था। इन्होंने ज्योतिष-संबंधी 'जातक तिळक' नामक ग्रंथ की रचना की है, जिसमें जातक (जन्मपत्र) संबंधी सूक्ष्म विचार किया गया है।

दिवाकर नंदी

ये करीब ई. १०६१ में हुए, इन्होंने भगवान् उमास्वामी-विरचित तत्त्वार्थसूत्र पर कन्नड तात्पर्यवृत्ति लिखी है, जो अत्यन्त मनोज्ञ है।

कवि शांतिनाथ

इनका समय करीब १०६८ ई. है। इन्होंने कन्नड में सुकुमार चरित्र की रचना की है। ये अत्यन्त प्रौढ़ कवि थे, इनको अनेक सम्माननीय उपाधियाँ प्राप्त थीं।

अभिनव पंप नागचन्द्र

करीब १२ वें शतमान के आदि में नागचन्द्र नामक महान् विद्वान् हुआ, जिसने पद्मचरित या रामकथा-चरित की रचना की है। इस रामायण को पंप रामायण भी कहते हैं। वस्तुतः यह रामायण महाकवि पंप-विरचित नहीं है; परन्तु यह कवि अभिनव पंप के नाम से प्रसिद्ध था, अतः वह रामायण भी पंपरामायण के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस उदात्त कवि ने विजयपुर में एक मल्लिनाथ जिन-मंदिर का निर्माण कराया, जिसकी स्मृति में उसने मल्लिनाथ पुराण की रचना की। यह भी पठनीय है।

कवियित्री कन्ति

इसी युग में कान्ति नाम की एक कवियित्री हुई है। इसके द्वारा विरचित अनेक ग्रंथ की उपलब्ध नहीं है तथापि 'कंति पंप की समस्याएँ' इस नाम से प्रश्नोत्तर रूप से समस्या-पूर्ति रूप काव्य मिलता है, जिसे देखने पर मालूम होता है कि यह प्रौढ़ कवियित्री थी।

नमसेन

करीव बारहवें शतमान के आदि में कर्नाटक भाषा के चंपूकाव्य में बहुत बड़ी रचना इसने की है। धर्मामृत इसकी रचना है। पदलालित्य, दृष्टांत-प्रचुरता, विनोद विशेष इसके काव्य की विशेषता है। १४ आश्वासों से युक्त इस ग्रंथ में अष्टांग

व पंच अणुव्रतों की व्याख्या कथापूर्वक की गयी है। स्वाध्याय करने वालों को बहुत प्रभावित करती हैं ये कथाएँ। इस युग का यह महान् काव्य-मनीषी हुआ।

राजादित्य

बारहवें शतमान के प्रारंभिक भाग में ही यह कवि हुआ है। इसने गणित-शास्त्र पर रचना की है। गणित-शास्त्र पर ही इसकी अधिक अभिरुचि प्रतीत होती है।

कीर्तिवर्म

सन् ११२५ ई. में यह कवि हुआ है। वैद्यक शास्त्र के अंगभूत गोवैद्य पर इसने लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि पशु-वैद्य के विषय में भी जैन ग्रंथकारों की अच्छी गति थी। आयुर्वेद विषयक ग्रंथ तो जैनाचार्यों ने लिखा ही है।

कर्णपार्य

करीब ११४० ई. में यह कवि हुआ है। इसने कन्नड में सुंदर रूप से नेमिनाथ पुराण की रचना की है, जो सर्वप्रिय हो गया है।

नागवर्म

यह १२ वें शतमान के मध्यभाग में हुआ है। इसकी न्याय, व्याकरण-साहित्य पर अच्छी गति थी। इसने काव्यावलोकन, अभिधान वस्तुकोष, कर्णाटक भाषाभूषण एवं छंदः शास्त्र आदि रचना की है। अन्य ग्रंथ भी होंगे, परन्तु अनुपलब्ध हैं।

सोमनाथ

यह करीब ११५० ई. में हुआ है। इसने कल्याण कारक नामक कन्नड वैद्यक ग्रंथ की रचना की है। शायद यह पूज्यपाद-कृत कल्याणकारक की कर्नाटक व्याख्या है। आयुर्वेद के संबंध में जैनाचार्यों ने जिन ग्रंथों का निर्माण किया उनका नाम विशेषतः कल्याणकारक ही रखा गया, क्योंकि उससे जगत् का कल्याण हुआ।

इसी प्रकार इस बारहवें शतमान में वृत्त विद्यास (११६०) ने शास्त्रसार की रचना की। नेमिचन्द्र (११७०) ने लीलावती व नेमिनाथ पुराण की रचना की है। लीलावती एक सुंदर चंपू ग्रन्थ है। इसके बाद बोधण देव ने स्तुतिस्तोत्रादि विषयक ग्रंथों की रचना की है। करीब ११८२ ई. में अग्गल देव नामक कवि हुआ जिसने चन्द्रप्रभ पुराण की रचना की है। सन् ११९५ में आचण्णा कवि ने वर्धमान पुराण लिखा है जिसमें भगवान् महावीर के चरित्र के संबंध में सांगोपांग विवेचन है।

१२०० ई. में बंधुवर्म नामक ग्रंथकार हुआ; जिसने हरिवंशाभ्युदय नामक पौराणिक ग्रंथ एवं जीव संबोधन नामक आध्यात्मिक ग्रंथ की रचना की है। जीव-संबोधन में आत्महित को दृष्टि में रखकर आत्मा को संसार से पार होने के लिए

जागृत किया गया है। बारहवीं शती के आदि में ही पार्श्वनाथ नामक कवि हुआ जिसने पार्श्वनाथ पुराण की रचना की है। करीब १२३५ ई. में गुणवर्म ने पुष्पदंत पुराण व चंदनाष्टक की रचना की है; इसी काल में कमलभव नामक कवि हुआ जिसने शांतीश्वर पुराण की रचना की है, जिसमें बहुत सुंदर रूप में भगवान् शांतिनाथ का चरित्र चित्रित किया है। इस शती के मध्यभाग में महाबल कवि हुआ, जिसने नेमिनाथ पुराण की रचना की है।

इन सब ग्रंथकर्ता, कृतिकर्ताओं का यहाँ नामोल्लेख मात्र किया है। इनको तत्कालीन व उत्तरकालीन विद्वानों ने अनेक उपाधियों से विभूषित किया है, इनका विशेष परिचय देने से एक स्वतंत्र ग्रंथ हो जाएगा अतः यहाँ उनका दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। यदि विस्तृत परिचय देखना हो तो श्री आ. कुंथु सागर ग्रंथमाला से प्रकाशित पंप-युग के जैन कवि, यह पुस्तक देखें। पंप के बाद करीब ४०० वर्षों में ही ये सब कवि हुए हैं जिन्होंने पंप का आदरपूर्वक स्मरण ही नहीं किया है; अपितु अनुकरण भी किया है। इसलिए इन्हें पंप युग के कवि कहते हैं जो सार्थक है।

कवि-चक्रवर्ती जन्न

जन्न महाकवि कहलाता था। कवि-चक्रवर्ती उसकी उपाधि थी। ई. सन् ११७० से १२३५ के बीच जन्न महाकवि ने अपनी महान् कृति के द्वारा कर्नाटक को उपकृत किया था। इसने अपनी कृति यशोधर चरित में अपने रचना-कौशल का दर्शन कराया है। पदलालित्य, भाव-प्रभाव, कल्पना-कौशल इसके काव्य की विशेषता है। इस काव्य का विषय यशस्तिलक चंपू मूल संस्कृत काव्य का है। यशोधर महाराज के चरित्र को कर्म-विधान के विचित्र रूप के द्वारा प्रदर्शित कर कवि ने संसार की असारता का दर्शन कराया है। जन्न महाकवि ने यशोधर चरित को वही स्थान प्राप्त है जो संस्कृत साहित्य में यशस्तिलक चंपू को प्राप्त है, इतना कहने से इसके काव्य की महत्ता समझ में आ जाएगी।

इसी प्रकार अनेक ग्रंथकार उभय भाषा कोविद हुए हैं। उनकी संस्कृत एवं कन्नड में अच्छी गति थी। इसलिए वे उभय भाषाचक्रवर्ती कहलाते थे, उनमें से हस्तिमल्ल का नाम समादर के साथ लिया जा सकता है। हस्तिमल्ल ने कन्नड में भी आदि-पुराण की रचना की है। संस्कृत में संहिता, नाटक व ग्रंथों की रचना की है।

१४ वें शतक में भास्कर कवि ने जीवंधर चरित को एवं कवि बोम्मरस ने सनत्कुमार चरित्र एवं जीवंधर चरित की रचना की है। इसके बाद १५ वें शतक में भी अनेक कर्नाटक कवियों ने अपनी रचनाओं से इस साहित्य-क्षेत्र को समृद्ध किया है। १६ वें शतक के प्रारंभ में मंगरस कवि ने सम्यक्त्व कौमुदी, जयनृप काव्य, नेमीश जिन संगति, प्रभंजन चरित व सूपशास्त्र आदि ग्रंथों की रचना की। इसी

प्रकार साळ्व कवि ने भारत व दोड्डय ने चंद्रप्रभचरित का निर्माण लगभग इसी समय किया है।

महाकवि रत्नाकर

१६वीं शती में यह प्रतिभावंत कवि हुआ है। इसका परिचय इस लेख में नहीं दिया तो हमारा लेख अधूरा रह सकता है। हमारे लिए यह प्रिय कवि है। इसके द्वारा सांगत्य छंद में रचित भरतेश्वर वैभव नामक शृंगार-आध्यात्मिक ग्रंथ १० हजार छंदों में विरचित है। इसीसे सांगत्य-युग का प्रारंभ होता है। सांगत्य कन्नड में एक विशिष्ट कर्णमधुर गेय छंद है। कवि ने इस ग्रंथ में भोग-योग का सामंजस्य कर अंत में एक का त्याग व दूसरे का ग्रहण करने का विधान किया है। इसका समय १५५७ ई. माना जाता है। भरतेश वैभव को इसने भोग विजय, दिग्विजय, योग विजय, मोक्ष विजय व अर्ककीर्ति विजय के नाम से पंचकल्याणों में विभक्त किया है। इस आध्यात्मिक कथा के नायक आदि प्रभु के आदि पुत्र भरतेश हैं जो तद्भव मोक्षगामी हैं। कथा को आध्यात्मिक व शृंगारिक ढंग से वर्णन करने की कवि की अनूठी शैली है। कर्नाटक के घर-घर में यह पढ़ा जाता है। लेखक द्वारा इसका हिन्दी अनुवाद हुआ है, उस पर से गुजराती व मराठी अनुवाद भी हो चुके हैं। भारतीय साहित्य अकादमी के अन्तर्गत अंग्रेजी अनुवाद भी हो रहा है। भारतीय गौरव ग्रंथों में यह एक है। इसने रत्नाकर, अपराजित व त्रिलोक नामक तीन शतकों की भी रचना की है, जो केवल आध्यात्मिक विषय का प्रतिपादन करते हैं। कुछ आध्यात्मिक भजनों का भी निर्माण इसके द्वारा हुआ है।

इसके बाद सांगत्य छंद में ग्रंथ-रचना करने वालों का मार्ग प्रशस्त हो गया है। उन कवियों का यहाँ हम उल्लेख मात्र करते हैं। बाहूबलि कवि ने (१५६०) नागकुमार चरित, पायण्ण व्रतिने (१६०६) सम्यकत्व कौमुदी, पंचबाण ने (१६१४) भुजबलि चरित्र की रचना की है। इसी प्रकार चंद्रम कवि ने (१६४६) कार्कल गोम्मट चरित, धरणी पंडित ने (१६५०) विज्जण चरित, नेमि पंडित ने (१६५०) सुविचार चरित, चिदानंद ने (१६८०) मुनिवंशाभ्युदय, पद्मनाभ ने (१६८०) जिनदत्त राय चरित्र, पायण्ण कवि ने (१७५०) रामचंद्र चरिते, अनंत कवि ने (१७८०) श्र. बे. गोम्मट चरित, धरणी पंडित ने वरांग चरित, चंद्र सागर वर्णी ने (१८१०) रामायण, चारु पंडित ने भव्यजन चिंतामणि एवं इसी समय देवचंद्र ने राजवली कथाकोष की रचना की है। पंप का युग चंपू-युग के नाम से प्रसिद्ध है तो रत्नाकर के युग को सांगत्य-युग के नाम से निस्संदेह पुकार सकते हैं। सचमुच, ये दोनों साहित्य-जगत् के युगपुरुष हैं।

विभिन्न विषयों को जैन साहित्यकारों की देन

नृपतुंग द्वारा विरचित कविराज मार्ग से जैन कवियों की साहित्य-सेवा पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। छंद, अलंकार, वैद्य, ज्योतिष, सिद्धांत, न्याय, व्याकरण,

आयुर्वेद, निमित्त, शकुन आदि सर्व विपयों पर कर्नाटक साहित्यकारों ने ग्रंथ-निर्माण किया है। सैकड़ों ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हैं। इसमें हमारे समाज का प्रमाद ही कारण है; परंतु यह मात्र सत्य है कि हमारे पूर्वज विद्वान् सर्वविपयों में प्रभुत्व रखते थे। उनकी कृतियों से हम इस विपय का अनुमान कर सकते हैं।

नागवर्म ने छंदोदधि नामक छन्द-ग्रन्थ की रचना की। अन्य नागवर्म ने कर्नाटक भापा-भूपण नामक व्याकरण-ग्रंथ की रचना की। इसी प्रकार अलंकार विपयक काव्यावलोकन, कोप-विपयक वस्तु-कोप भी अवलोकनीय है। भट्टाकलंक का शब्दानुशासन, केशिराज का मणिदर्पण, साळ्व का रसरत्नाकर (आयुर्वेद), देवोत्तम का नानार्थ रत्नाकर, शृंगार कवि का कर्नाटक संजीवन, आदि ग्रंथ विविध विपयों के उल्लेखनीय ग्रन्थ है। इसी प्रकार ज्योतिप, वैद्यक व सामुद्रिक विपयों के भी ग्रंथों की रचना इन कवियों द्वारा हुई है। शिवमारदेव का हस्त्यायुर्वेद, देवेंद्र मुनिका वातग्रह चिकित्सा, चंद्रराज का मदन-तिलक, जन्न का स्मर-तंत्र, चामुंडराय का सामुद्रिक शास्त्र, जयवंधु नंदन का सूप-शास्त्र, अर्हद्दास का शकुन शास्त्र भी उल्लेखनीय हैं। इससे ज्ञात होता है कि साहित्य के सर्व अंगों को कर्नाटक के साहित्यकारों ने हृष्ट-पुष्ट किया है।

इस तरह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि कर्नाटक-साहित्य, केवल प्राचीनता की दृष्टि से ही नहीं, महत्ता की दृष्टि से भी आज सर्वोत्तम है। आज जैन जैनेतर समाज इसीलिए जैन साहित्य को वहुत आदर से देखता है। विश्वविद्यालयों की उच्चतर कक्षाओं में विशेपतः जैन साहित्य के भाग को ही विद्यार्थियों को अध्ययन करने के लिए दिया जाता है।

प्रायः सभी ग्रन्थकारों ने ग्रंथ के प्रमेय का प्रतिपादन करते हुए यत्र-तत्र जैन धर्म के अनुकरणीय तत्त्वों का उपदेश दिया है। सर्वसाधारण के जीवन में वे तत्त्व कितने हितकर हैं, इस वात को अच्छी तरह प्रतिविंवित कराया है; अतः जैनधर्म के विकास में अन्य भापा के साहित्यकारों का जैसा योगदान रहा है, उसी प्रकार कर्नाटक साहित्यकारों का भी वहुत वड़ा योगदान रहा है।

महर्पि विद्यानन्द मुनि इसी पुण्य भूमि के हैं। यद्यपि सर्वसंग-परित्याग करने के वाद प्रान्त, देश, जाति की विवक्षा नहीं रहती है, तथापि कर्नाटक प्रान्त को ऐसी देन का स्वाभिमान तो हो ही सकता है। ○○○

जो दे व्यर्थ को अर्थ
वही सिद्ध, वही समर्थ

—क. ला. सेठिया

मध्यप्रदेश का जैन पुरातत्त्व

वीरसिंगपुर-पाली में सिद्धबाबा के नाम से ज्ञात ऋषभनाथ प्रतिमा खुले मैदान में तमाम ग्रामवासियों द्वारा पूजी जाती है।

☐ बालचन्द्र जैन

जैन पुरातत्त्व में मध्यप्रदेश बहुत धनी है। इसके गाँवों में यत्र-तत्र जैन अवशेष बिखरे पड़े हैं। मुक्तागिरि, मक्सी, ऊन, बावनगजा, सिद्धवरकूट, सोनागिर, पपौरा, रेशन्दीगिरि, द्रोणगिरि, अहार जैसे विख्यात और महत्त्वपूर्ण क्षेत्र इसी भू-भाग में स्थित हैं, जिनकी धर्म-यात्रा भारत के विभिन्न प्रदेशों के यात्रिक हजारों की संख्या में प्रति वर्ष किया करते हैं।

मध्यप्रदेश में प्राचीनतम जिन-प्रतिमाएँ विदिशा में प्राप्त हुई हैं। विदिशा प्राचीनकाल में न केवल सांस्कृतिक अपितु राजनैतिक कारणों से भी अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण रहा है। गुप्तवंशीय सम्राटों के समय में विदिशा के निकटवर्ती प्रदेश में भार-तीय कला का अनूठा विकास हुआ। गुप्तकाल में विदिशा का प्रदेश जैनों का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, इसके पुरातात्त्विक प्रमाण अब एकाधिक प्राप्त हो चुके हैं। उदयगिरि की गुफा क्रमांक २० में उत्कीर्ण भित्ति-लेख से स्पष्ट है कि कुमारगुप्त के राज्यकाल में इस गुफा में भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा का निर्माण कराया गया था। विदिशा के ही एक मुहल्ले में हाल में प्राप्त तीन तीर्थंकर प्रतिमाओं की चरण-चौकी पर उत्कीर्ण लेखों ने यह सिद्ध कर दिया है कि महाराजधिराज श्री रामगुप्त के आदेश से वहाँ कई जिन-प्रतिमाओं का निर्माण हुआ था। दो प्रतिमाओं पर क्रमशः चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्त के नाम पढ़े गये हैं। मध्यकाल में भी विदिशा का क्षेत्र जैनों का प्रमुख केन्द्र बना रहा। ग्यारसपुर और बडोह पठारी में जैन पुरातत्त्व की सामग्री आज भी विद्यमान है। विदिशा के जिला-संग्रहालय में एकत्र की गयीं जैन प्रतिमाओं में से यक्षी 'अम्बिका' की मध्यकालीन प्रतिमा एक उत्कृष्ट कला-कृति है।

गुना, शिवपुरी, ग्वालियर और दतिया जिले के कई स्थान प्राचीन जैन कला-कृतियों से समृद्ध हैं। तुमैन (प्राचीन तुम्ववन) में लगभग ६५० ईस्वी की पार्श्व-नाथ प्रतिमा प्राप्त हुई है। कदवाहा के निकटवर्ती ईदौर नामक ग्राम में कई भव्य

शिल्पकृतियाँ उपेक्षित पड़ी हुई हैं। नरवर की सैकड़ों जिन-प्रतिमाएँ अब शिवपुरी के जिला-संग्रहालय में प्रदर्शित, अथवा सुरक्षित हैं। नरवर से ही प्राप्त एक पट्ट में चतुर्विंशति तीर्थंकरों की सलांछन प्रतिमाएँ बनी हुई हैं, जो अपने प्रकार की अनूठी कृतियाँ हैं। ग्वालियर का किला चारों ओर से विशाल तीर्थंकर-प्रतिमाओं से समन्वित है। तोमरवंशी राजाओं के राज्यकाल में निर्मित उन प्रतिमाओं से गोपाचल गढ़ पुण्यभूमि बन गया है।

मालवा की भूमि में जैनत्व का खूब प्रचार-प्रसार हुआ था। अवन्ती और उज्जयिनी का उल्लेख जैन ग्रंथों में सम्मान के साथ मिलता है। परमार-वंश के नरेशों के समय में मालवा में स्थान-स्थान पर जिन-मंदिरों का निर्माण हुआ, जिनमें से कई तो आज तक विद्यमान हैं। भोजपुर के प्राचीन मंदिर में राजा भोज के राज्यकाल में निर्मित उत्तुंग प्रतिमाएँ दर्शनीय हैं। भोपाल के ही निकट स्थित समसगढ़ के जैन मंदिरों में प्राचीन जैन-पुरातत्व सामग्री का विपुल संग्रह है। ऊन के जैन-मंदिरों का उल्लेख बहुधा किया जाता है। धारा नगरी की सुज्ञात सरस्वती की प्रतिमा को अनेक विद्वानों ने जैन सरस्वती का रूपांकन स्वीकार किया है।

बुंदेलखण्ड के गाँव-गाँव में प्राचीन स्थापत्य के नमूने देखने को मिलते हैं। चन्देरी किसी समय जैन मूर्ति एवं स्थापत्य-कला का एक समृद्ध केन्द्र था। आज भी वह उतना ही महत्त्वपूर्ण है। बूढ़ी चंदेरी के प्राचीन जिन-मंदिरों की बहुत-सी प्रतिमाएँ अब चन्देरी के शिल्प-मण्डप (स्कल्प्चर शेड) में लाकर जमा की गयी हैं। चन्देरी के निकटवर्ती गुहा मंदिरों में तेरहवीं शताब्दी की उत्तुंग तीर्थंकर-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। उसी प्रदेश में थुबौन तीर्थक्षेत्र है, जिसकी वंदना के लिए प्रतिवर्ष हजारों यात्री आते हैं।

खजुराहो धर्म-समवाय का एक विशिष्ट केन्द्र रहा है। वहाँ शैवों और वैष्णवों के मंदिरों के साथ जैन-मंदिरों का भी निर्माण किया गया था। उन मंदिरों में से ५७ देवालय आज भी विद्यमान हैं। शान्तिनाथ मंदिरों का अब प्राचीन रूप तो नहीं बचा पर उस मन्दिर में एकत्रित कला-सामग्री चन्देल-कालीन जैन-वैभव का परिचय दे सकने में समर्थ है। देवलिकाओं के गर्भ-गृह की बाह्य पट्टी पर जिन-माता के स्वप्नों का रूपांकन खजुराहो की विशेषता है। शान्तिनाथ मंदिर में ही क्षेत्रपाल की कायरूप प्रतिमा जैन प्रतिमा-विज्ञान के अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

खजुराहो के पार्श्वनाथ मंदिर की शिल्पकृतियों की उत्कृष्टता सभी कला-पारखियों ने एक स्वर में स्वीकार की है। आदिनाथ मंदिर में यक्ष-यक्षियों की विभिन्न

मूर्तियाँ जैन-देववाद के अध्ययन में विशेष सहायक हैं। चन्देल राजाओं के राज्यकाल में बुंदेलखण्ड में जैनों के कई केन्द्र स्थापित हो गये थे, इसका प्रमाण भिन्न-भिन्न स्थानों में प्राप्त अवशेषों में मिलता है। छतरपुर के निकट ऊर्दमऊ में चन्देलकालीन जैन मंदिर है, जिसमें सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ की उत्तुंग किन्तु भव्य प्रतिमा विराजमान है। ऊर्दमऊ की कुछ मनोरम प्रतिमाएँ अब छतरपुर में डेरापहाड़ी के मंदिरों में लाकर स्थापित की गयी हैं। अहार और अजयगढ़ की जैन-पुरातत्त्व सामग्री चन्देलकालीन जैन-कला के अध्ययन के लिए विपुल न्यास समुपस्थित करती है। नौगांव के निकट स्थापित शासकीय संग्रहालय में चन्देलकालीन जैन-प्रतिमाओं का संग्रह है। उन प्रतिमाओं में से कई एक पर तात्कालीन लेख भी उत्कीर्ण हैं। इन लेखों का संग्रह प्रकाशित किया जाना आवश्यक है। पन्ना के निकट मोहेन्द्रा में बहुत-सी जैन प्रतिमाएँ अरक्षित अवस्था में बिखरी पड़ी बतायी जाती हैं। थोड़ी-सी जैन प्रतिमाएँ पन्ना के छत्रसाल पार्क में भी एकत्र की गयी हैं।

रीवा और शहडोल का बहुत-सा इलाका त्रिपुरी के कलचुरि राजवंश के साम्राज्य का अंग रहा है। कलचुरि राजाओं की धर्म-सहिष्णु नीति के फलस्वरूप कलचुरि साम्राज्य के विभिन्न केन्द्रों में जैन मंदिरों का निर्माण हुआ था। बीरसिंगपुर-पाली में सिद्धबाबा के नाम से ज्ञात ऋषभनाथ प्रतिमा खुले मैदान में तमाम ग्रामवासियों द्वारा पूजी जाती है। शहडोल के मंदिर में भी कुछ प्राचीन मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। सतना के निकट रामवन के संग्रहालय में आसपास के स्थानों से संगृहीत जैन-शिल्प सुरक्षित हैं। मैहर-नागौद क्षेत्र की जैन कृतियाँ भी उल्लेखनीय हैं। नागौद के निकटवर्ती एक स्थान से प्राप्त अम्बिका की भव्य प्रतिमा इलाहाबाद के संग्रहालय में सुरक्षित है। उस प्रतिमा में अम्बिका के साथ अन्य तेईस शासन-यक्षियों की भी प्रतिमाएँ हैं जिनके नीचे उनके नाम उत्कीर्ण हैं।

कलचुरि काल में जबलपुर जिले के तेवर (प्राचीन त्रिपुरी), कारीतलाई, बिलहरी, बहुरीबंद आदि स्थान प्रसिद्ध जैन केन्द्र रहे। कारीतलाई की अनेक जैन प्रतिमाएँ अब रायपुर के संग्रहालय में प्रदर्शित हैं जबकि बिलहरी और तेवर के जैन शिल्प के नमूने जबलपुर के संग्रहालय में देखे जा सकते हैं। बहुरीबंद की शान्तिनाथ प्रतिमा पर तत्कालीन लेख उत्कीर्ण हैं। टोला ग्राम की जैन प्रतिमाएँ भी अब प्रकाश में आ चुकी हैं। सिवनी जिले में लखनादौन, छपारा और घुनसौर में सुन्दर जैन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। नरसिंहपुर के निकट बरहठा की तीर्थंकर प्रतिमाएँ विशाल एवं भव्य हैं।

छत्तीसगढ़ में मल्लार, रत्नपुर, सिरपुर, आरंग, राजिम, नगपुरा और कवर्धा आदि स्थानों में जैन पुरातत्त्व का विपुल संग्रह है। रत्नपुर के कलचुरि राजाओं के राज्य-

काल में निर्मित आरंग का जैन मंदिर आज भी दर्शनीय है। दक्षिण कोसल की प्राचीन राजधानी श्रीपुर (आधुनिक सिरपुर) में प्राप्त पार्श्वनाथ प्रतिमा रायपुर के संग्रहालय में प्रदर्शित है। नगपुरा (जिला दुर्ग) की पार्श्वनाथ प्रतिमा अति सुन्दर और आकर्षक है पर उपेक्षित दशा में पड़ी हुई है। मल्लार में ऊँची-ऊँची तीर्थंकर प्रतिमाएँ हैं। रत्नपुर की कुछ जिन-प्रतिमाएँ रायपुर के संग्रहालय में सुरक्षित हैं पर शेष वहीं ग्राम में यत्र-तत्र पड़ी हुई हैं। आवश्यकता इस बात की है कि तमाम जैन-सामग्री का व्यवस्थित सर्वेक्षण और उनकी सुरक्षा का उचित प्रबन्ध किया जाए।

मध्यप्रदेश कई सांस्कृतिक भूखण्डों का एक मिला-जुला प्रदेश है। यहाँ प्राचीन काल में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न राजवंशों ने राज्य किया था, इसलिए मध्य-प्रदेश की कला में स्थानीय वैशिष्ट्य के दर्शन होते हैं। □□

दुःख यदि ना पावे तो

दुःख यदि ना पावे तो दुःख तोमार घुचवे कवे ?
विषके विषेर दाह दिये दहन करे मारते हवे ।।
ज्वलते दे तोर आगुन टारे, भय किछु ना करिस तोर,
छाई हये से निभवे जरवन ज्वलवे ना आरकभे तवु ।।

—रवीन्द्रनाथ

दुःख पायेगा नहीं, तो दुःख तेरा जायेगा कैसे ?
मारना होगा विष को विष की ज्वाला से दग्ध करके ।।
ज्वाला दुःख की भड़कती है, तो भड़कने दे, उसका क्या भय;
राख होकर ठण्डी पड़ जाएगी वह, और फिर कभी नहीं भड़केगी ।

प्राचीन मालवा के
जैन सारस्वत और उनकी रचनाएं

मालवा में जैन सारस्वतों की कमी नहीं रही है। यदि अनुसंधान किया जाए तो जैन सारस्वतों और उनके ग्रन्थों पर एक अच्छी सन्दर्भ-पुस्तक लिखी जा सकती है।

—डा. तेजसिंह गौड़

मालवा भारतीय इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। साहित्य के सम्बन्ध में भी यह पिछड़ा हुआ नहीं रहा है। कालिदास-जैसे कवि इस भूखण्ड की ही देन हैं। प्राचीन मालवा में जैन विद्वानों की भी कमी नहीं रही है। प्रस्तुत निवन्ध में मालवा से सम्वन्धित जैन विद्वानों के संक्षिप्त परिचय के साथ उनकी कृतियों का भी परिचय देने का प्रयास किया गया है। इनके सम्बन्ध में सामग्री जहाँ-तहाँ विखरी पड़ी है। तथा आज भी जैनधर्म से सम्वन्धित कई ग्रंथ ऐसे हैं जो प्रकाश में नहीं आये हैं, फिर भी उपलव्ध जानकारी के अनुसार जैन सारस्वत और उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :

१. **आचार्य भद्रवाहु :** आचार्य भद्रवाहु के विषय में अधिकांश व्यक्ति जानकारी रखते हैं। ये भगवान् महावीर के पश्चात् छठवें थेर माने जाते हैं। इनके ग्रंथ "दसाउ" और "रस निज्जुत्ति" के अतिरिक्त कल्पसूत्र का जैनधार्मिक साहित्य में वहुत महत्त्व है।

२. **क्षपणक :** ये विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे। इनके रचे हुए न्यायावतार दर्शनशुद्धि, सन्मतितर्कसूत्र और प्रमेयरत्नकोप नामक चार ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। इनमें न्यायावतार ग्रंथ अपूर्व हैं। यह अत्यन्त लघु ग्रंथ है; किन्तु इसे देखकर 'गागर में सागर' की कहावत याद आ जाती है। ३२ श्लोकों में इस काव्य में क्षपणक ने सारा जैन न्यायशास्त्र भर दिया है। न्यायावतार पर चन्द्रप्रभ सूरि ने 'न्यायावतार निवृत्ति' नामक विशद टीका लिखी है।

३. **आर्यरक्षित सूरि :** आपका जन्म मन्दसौर में हुआ था। पिता का नाम सोमदेव तथा माता का नाम रुद्रसोमा था। लघु भ्राता का नाम फल्गुरक्षित था, जो स्वयं भी आर्यरक्षित सूरि के कहने से जैन साधु हो गया था। पिता सोमदेव स्वयं एक अच्छे

विद्वान् थे। आर्यरक्षित की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर पिता के द्वारा हुई फिर वे आगे अध्ययनार्थ पाटलिपुत्र चले गये। पाटलिपुत्र से अध्ययन समाप्त कर उनका जब दशपुर-आगमन हुआ तो स्वागत के समय माता रुद्रसोमा ने कहा : "आर्यरक्षित, तेरे विद्याध्ययन से मुझे तब सन्तोष एवं प्रसन्नता होती जब तू जैन दर्शन और उसके साथ ही विशेषतः दृष्टिवाद का समग्र अध्ययन कर लेता।"

माँ की मनोभावना एवं उसके आदेशानुसार आर्यरक्षित इक्षुवाटिका गये जहाँ आचार्य श्री तोसलीपुत्र विराजमान थे। उनसे दीक्षा-ग्रहण कर जैन दर्शन एवं दृष्टि-वाद का अध्ययन किया। फिर उज्जैन में अपने गुरु की आज्ञा से आचार्य भद्रगुप्त-सूरि एवं तदनंतर आर्यवज्रस्वामी के समीप पहुँच कर उनके अन्तेवासी बनकर विद्याध्ययन किया।

आर्यवज्रस्वामी की मृत्यु के उपरान्त आर्यरक्षित सूरि १३ वर्ष बाद तक युग-प्रधान रहे। आपने आगमों को चार भागों में विभक्त किया : (१)करणचरणानुयोग, (२)गणितानुयोग, (३) धर्मकथानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग। इसके साथ ही आचार्य आर्यरक्षित सूरि ने अनुयोगद्वार सूत्र की भी रचना की, जो कि जैन दर्शन का प्रति-पादक महत्त्वपूर्ण आगम माना जाता है। यह आगम आचार्यप्रवर की दिव्यतम दार्श-निक दृष्टि का परिचायक है।

आर्यरक्षित सूरि का देहावसान दशपुर में वीर निर्वाण संवत् ५८३ में हुआ।

४. **सिद्धसेन दिवाकर :** पं. सुखलालजी ने श्री सिद्धसेन दिवाकर के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है: "जहाँ तक मैं जान पाया हूँ, जैन परम्परा में तर्क का और तर्क-प्रधान संस्कृत वाङ्मय का आदि प्रणेता है सिद्धसेन दिवाकर।" उज्जैन के साथ इनका पर्याप्त सम्बन्ध रहा है। इसकी कृतियाँ इस प्रकार हैं : १. "सन्मति प्रकरण" प्राकृत में है। जैन दृष्टि और मन्तव्यों को तर्क-शैली में स्पष्ट करने तथा स्थापित करने में जैन वाङ्मय में यह सर्वप्रथम ग्रंथ है, जिसका आश्रय उत्तरवर्ती सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर विद्वानों ने लिया है। सिद्धसेन दिवाकर ही जैन परम्परा का आद्य संस्कृत स्तुतिकार हैं। २. 'कल्याण मंदिर स्तोत्र' ४४ श्लोकों में है। यह भगवान् पार्श्वनाथ का स्तोत्र है; इसकी कविता में प्रसाद गुण कम और कृत्रिमता एवं श्लेष की अधिक भरमार है। परन्तु प्रतिभा की कमी नहीं है। ३. 'वर्धमान द्वात्रिंशिका स्तोत्र' ३२ श्लोकों में भगवान् महावीर की स्तुति है। इसमें कृत्रिमता एवं श्लेष नहीं है। प्रसादगुण अधिक है। इन दोनों स्तोत्रों में सिद्धसेन दिवाकर की काव्यकला ऊंची श्रेणी की पायी जाती है। ४. 'तत्वार्थाधिगम सूत्र की टीका" बड़े-बड़े जैनाचार्यों ने की है। इसके रचनाकार को दिगम्बर सम्प्रदाय वाले "उमास्वामिन्" और श्वेता-म्बर सम्प्रदाय वाले "उमास्वाति" बतलाते हैं, उमास्वाति के ग्रंथ की टीका सिद्धसेन दिवाकर ने बड़ी विद्वत्ता के साथ लिखी है।

५. जिनसेन : ये आदिपुराण के कर्त्ता श्रावकधर्म के अनुयायी एवं पंचस्तूपान्वय के जिनसेन से भिन्न हैं। ये कीर्तिषेण के शिष्य थे।

जिनसेन का "हरिवंश" इतिहास-प्रधान चरित-काव्य-श्रेणी का ग्रंथ है। इस ग्रंथ की रचना वर्धमानपुर (वर्तमान बदनावर, जिला धार) में की गयी थी। दिगम्बर कथाकोश सम्प्रदाय के कथा-संग्रहों में इसका तीसरा स्थान है।

६. हरिषेण : पुन्नाट संघ के अनुयायियों में एक दूसरे आचार्य हरिषेण हुए। इनकी गुरु-परम्परा मौनी भट्टारक श्री हरिषेण भारतसेन, हरिषेण इस प्रकार बैठती है। अपने कथा-कोश की रचना इन्होंने वर्धमानपुर या वढ़वाण (वदनावर) में विनायकपाल राजा के राज्यकाल में की थी। विनायकपाल प्रतिहार वंश का राजा था, जिसकी राजधानी कन्नौज थी। इसका ९८८ वि. सं. का एक दानपात्र मिला है। इसके एक वर्ष पश्चात् अर्थात् वि. सं. ९८९ शक सं. ८५३ में कथाकोश की रचना हुई। हरिषेण का कथाकोश साढ़े बारह हजार श्लोक परिमाण का वृहद् ग्रंथ है।

७. मानतुंग : इनके जीवन के सम्बन्ध में अनेक विरोधी मत हैं। इनका समय ७ वीं या ८ वीं सदी के लगभग माना जाता है। इन्होंने मयूर और बाण के समान स्तोत्र-काव्य का प्रणयन किया। इनके भक्तामर स्तोत्र का श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदाय वाले समान रूप से आदर करते हैं। कवि की यह रचना इतनी लोकप्रिय रही कि इसके प्रत्येक अन्तिम चरण को लेकर समस्यापूर्त्यात्मक स्तोत्र काव्य लिखे जाते रहे। इस स्तोत्र की कई समस्या-पूर्तियाँ उपलब्ध हैं।

८. आचार्य देवसेन : माघ सुदि १० वि. सं. ९९० को धारा में निवास करते हुए पार्श्वनाथ के मंदिर में "दर्शनसार" नामक ग्रंथ समाप्त किया। इन्होंने "आराधनासार" और "तत्वसार" नामक ग्रंथ भी लिखे हैं। "आलापपद्धति", "नयचक्र" ये सब रचनाएँ आपने धारा में ही लिखीं अथवा अन्यत्र यह रचनाओं पर से ज्ञात नहीं होता है।

९. आचार्य महासेन : ये लाड़ वागड़ संघ के पूर्णचन्द्र थे। आचार्य जयसेन के प्रशिष्य और गुणाकरसेन सूरि के शिष्य थे। इन्होंने ११ वीं शताब्दी के मध्य भाग में "प्रद्युम्न-चरित" की रचना की। ये मुंज के दरबार में थे तथा मुंज द्वारा पूजित थे। न तो इनकी कृति में ही रचना-काल दिया हुआ है और न ही अन्य रचनाओं की जानकारी मिलती है।

१०. अमितगति : ये माथुर संघ के आचार्य और माधवसेन सूरि के शिष्य थे। वाक्पतिराज मुंज की सभा के रत्न थे। विविध विषयों पर आपके द्वारा लिखी गयीं रचनाएँ उपलब्ध हैं १. सुभाषित रत्न संदोह की रचना वि. सं. ९९४ में हुई। इसमें

३२ परिच्छेद हैं, जिनमें प्रत्येक में साधारणतः एक ही छन्द का प्रयोग किया गया है। इसमें जैन नीति-शास्त्र के विभिन्न दृष्टिकोणों पर आपाततः विचार किया गया है, साथ-साथ ब्राह्मणों के विचार और आचार के प्रति इसकी प्रवृत्ति विसंवादात्मक है। प्रचलित रीति के ढंग पर स्त्रियों पर खूब आक्षेप किये गये हैं। एक पूरा परिच्छेद वेश्याओं के सम्बन्ध में है। जैनधर्म के आप्तों का वर्णन २८ वें परिच्छेद में किया गया है। ब्राह्मण धर्म के विषय में कहा गया है कि वे उक्त आप्तजनों की समानता नहीं कर सकते, क्योंकि वे स्त्रियों के पीछे कामातुर रहते हैं, मद्य सेवन करते हैं और इन्द्रियासक्त होते हैं। २. धर्मपरीक्षा बीस साल अनन्तर लिखा गया है। इसमें भी ब्राह्मण धर्म पर आक्षेप किये गये हैं और अधिक आख्यान-मूलक साक्ष्य की सहायता ली गयी है। ३. पंचसंग्रह विक्रम संवत् १०७३ में मसूतिकापुर (वर्तमान मसूदाविलोदा) में जो धार के समीप है, लिखा गया था। ४. उपासकाचार, ५. आराधना सामयिक पाठ, ६. भावनाद्वात्रिंशतिका, ७. योग-सार प्राकृत (जो उपलब्ध नहीं है)।

११. माणिक्यनंदी : धार के निवासी थे और वहाँ दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते थे। इनकी एकमात्र रचना 'परीक्षामुख' नामक एक न्याय-सूत्र ग्रंथ है, जिसमें कुल २०७ सूत्र हैं। ये सूत्र सरल, सरस और गंभीर अर्थद्योतक हैं।

१२. नयनंदी : ये माणिक्यनंदी के शिष्य थे। इनकी रचनाएँ हैं : १. 'सुदर्शन चरित्र' एक खण्डकाव्य है जो महाकाव्यों की श्रेणी में रखने योग्य है। २. सकल विहिविहाण एक विशाल काव्य है। इसकी प्रशस्ति में इतिहास की महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की गयी है। इसमें कवि ने ग्रंथ की रचना में प्रेरक हरिसिंह मुनि का उल्लेख करते हुए अपने से पूर्ववर्ती जैन-जैनेतर और कुछ समसामयिक विद्वानों का भी उल्लेख किया है। समसामयिकों में श्रीचन्द, प्रभाचन्द्र, श्री श्रीकुमार का उल्लेख किया है।

राजा भोज तथा हरिसिंह के नामों के साथ वच्छराज और प्रभु ईश्वर का भी उल्लेख किया है। कवि ने वल्लभराज का भी उल्लेख किया है, जिसने दुर्लभ प्रतिमाओं का निर्माण कराया था। यह ग्रंथ इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व का है। कवि के उक्त दोनों ग्रंथ अपभ्रंश भाषा में हैं।

१३. प्रभाचन्द्र : माणिक्यनंदी के शिष्यों में प्रभाचन्द्र प्रमुख रहे। माणिक्यनंदी के 'परीक्षामुख' नामक सूत्र ग्रंथ के कुशल टीकाकार थे। दर्शन-साहित्य के अतिरिक्त वे सिद्धान्त के भी विद्वान थे। आपको भोज के द्वारा प्रतिष्ठा मिली थी। इन्होंने कई विशाल दार्शनिक ग्रंथों के निर्माण के साथ-साथ अनेक ग्रंथों की रचना की। इनके ग्रंथ इस प्रकार हैं : १. प्रमेय कमलमार्तण्ड : एक दार्शनिक ग्रंथ है जो कि

माणिक्यनंदी के 'परीक्षामुख' की टीका है। यह ग्रंथ राज भोज के राज्यकाल में लिखा गया, २. न्यायकुमुदचन्द्र : न्याय-विषयक ग्रन्थ है, ३. आराधना कथाकोश : गद्य ग्रंथ है, ४. पुष्पदंत के महापुराण पर टिप्पण, ५. समाधितंत्रटीका (ये सब राजा जयसिंह के राज्यकाल में लिखे गये), ६. प्रवचन सरोजभास्कर, ७. पंचास्तिकायप्रदीप, ८. आत्मानुशासन तिलक, ९. क्रियाकलापटीका, १०. रत्नकरण्डटीका, ११. वृहत स्वयम्भू स्तोत्र टीका, १२. शब्दाम्भोज टीका। ये सब कब और किसके राज्यकाल में रचे गये कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इन्होंने देवनंदी की तत्वार्थवृत्ति के विषम पदों का एवं विवरणात्मक टिप्पण लिखा है। इनका समय ११ वीं सदी का उत्तरार्ध एवं १२ वीं सदी का पूर्वार्ध ठहरता है।

इनके नाम से अष्टपाहुड़ पंजिका, मूलाचार टीका, आराधना टीका आदि ग्रंथों का भी उल्लेख मिलता है, जो उपलब्ध नहीं हैं।

१४. आशाधर : संस्कृत साहित्य के अपारदर्शी विद्वान् थे। ये मांडलगढ़ के मूल निवासी थे। मेवाड़ पर मुसलमान बादशाह शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमणों से त्रस्त होकर मालवा की राजधानी धारा में अपनी स्वयं एवं परिवार की रक्षार्थ अन्य लोगों के साथ आकर बस गये। ये जाति के बघेरवाल थे। पिता सल्लक्षण एवं माता का नाम श्री रत्नी था। पत्नी सरस्वती से एक पुत्र छाहड़ हुआ। इनका जन्म वि. सं. १२३४-३५ के आसपास अनुमानित है। ये नालछा में ३५ वर्ष तक रहे और उसे अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया। **रचनाएँ :** १. सागारधर्मामृत : सप्त व्यसनों के अतिचार का वर्णन। श्रावक की दिनचर्या और साधक की समाधि व्यवस्था आदि इसके वर्ण्य विषय हैं; २. प्रमेयरत्नाकर : स्याद्वाद विद्या की प्रतिष्ठापना, ३. भरतेश्वराभ्युदय : महाकाव्य में भरत के ऐश्वर्य का वर्णन है। इसे सिद्धचक्र भी कहते हैं क्योंकि इसके प्रत्येक सर्ग के अंत में सिद्धिपद आया है; ४. ज्ञानदीपिका, ५. राजमति विप्रलम्भ-खण्डकाव्य; ६. आध्यात्म रहस्य, ७. मूलाराधना टीका, ८. इष्टोपदेश टीका, ९. भूपाल चतुर्विशतिका टीका, १०. आराधनासार टीका, ११.अमरकोष टीका, १२.क्रियाकलाप, १३. काव्यालंकार टीका, १४. सहस्रनाम स्तवन सटीक, १५. जिनयज्ञ कल्प सटीक-यह प्रतिष्ठा सारोद्धार धर्मामृत का एक अंग है। १६. त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र सटीक; १७. नित्य महोद्योत-अभिषेकपाठ स्नान शास्त्र, १८. रत्नत्रय विधान, १९. अष्टांग हृदयीद्योतिनी टीका-वाग्भट्ट के आयुर्वेद ग्रंथ अष्टांग हृदयी की टीका, २०. धर्मामृत-मूल और २१. भव्य कुमुदचन्द्रिका (धर्मामृत पर लिखी गयी टीका)।

१५. श्रीचन्द्र : ये धारा के निवासी थे। लाड़ बागड़ संघ और बलात्कारगण के आचार्य थे। इनके ग्रंथ इस प्रकार हैं : १. रविषेण कृत पद्मरचित पर टिप्पण; २. पुराणसार; ३. पुष्पदंत के महापुराण पर टिप्पण (उत्तरपुराण पर टिप्पण);

४. शिवकोटि की भगवतीआराधना पर टिप्पण । पुराणसार संवत् १०८० में, पद्मचरित की टीका वि. सं. १०८७ में उत्तरपुराण का टिप्पण वि. सं. १०८० में राजा भोज के राज्यकाल में रचा । टीकाप्रशस्तियों में श्रीचन्द्र ने सागरसेन और प्रवचनसेन नामक दो सैद्धान्तिक विद्वानों का उल्लेख किया है, जो धारा निवासी थे। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उस समय धारा में अनेक जैन विद्वान और आचार्य निवास करते थे। इनके गुरु का नाम श्रीनंदी था।

१६. **कवि दामोदर :** विक्रम संवत १२८७ में ये गुर्जर देश से मालवा में आये और मालवा के सल्लखणपुर को देखकर संतुष्ट हो गये। ये मोड़ोत्तम वंश के थे। पिता का नाम कवि माल्हण था, जिसने दल्ह का चरित्र बनाया था। कवि के ज्येष्ठ भ्राता का नाम जिनदेव था। कवि दामोदर ने सल्लखणपुर में रहते हुए पृथ्वीधर के पुत्र रामचन्द्र के उपदेश एवं आदेश से तथा मल्हपुत्र नागदेव के अनुरोध से नेमिनाथ चरित्र वि. सं. १२८७ में परमारवंशीय राजा देवपाल के राज्य में बनाकर समाप्त किया।

१७. **भट्टारक श्रुतकीर्ति :** ये नंदी संघ बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छ के विद्वान् थे । त्रिभुवनमूर्ति के शिष्य थे । अपभ्रंश भाषा के विद्वान् थे। आपकी उपलब्ध सभी रचनाओं में अपभ्रंश भाषा के पद्धाडया छन्द में रची गयी है। इनकी चार रचनाएँ उपलब्ध हैं: १. हरिवंश पुराण जेरहट नगर के नेनिमाथ चैत्यालय में संवत् १५५२ माघ कृष्ण पंचमी सोमवार के दिन हस्त नक्षत्र के समय पूर्ण किया; २. धर्म-परीक्षा : इस ग्रंथ को भी संवत् १५५२ में बनाया। क्योंकि इसके रचे जाने का उल्लेख अपने दूसरे ग्रंथ परमेष्ठि प्रकाशसार में किया है; ३. परमेष्ठिप्रकाशसार : इसकी रचना वि. सं. १५५३ की श्रावक गुरुपंचमी के दिन मांडवगढ़ के दुर्ग और जोरहट नगर के नेमिश्नर जिनालय में हुई; ४. योगसार : यह ग्रंथ संवत् १५५२ मार्गसर महीने के शुक्ल पक्ष में रचा गया। इसमें गृहस्थोपयोगी सैद्धान्तिक बातों पर प्रकाश डाला गया है। साथ में कुछ चर्चा आदि का भी उल्लेख किया गया है।

१८. **कवि धनपाल :** मूलतः ब्राह्मण थे। लघु भ्राता से जैनधर्म में दीक्षित हुए। पिता का नाम सर्वदेव था। वाक्पतिराज मुञ्ज की विद्वत्सभा के रत्न थे। मुञ्ज द्वारा इन्हें 'सरस्वती' की उपाधि दी गयी थी। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। मुंज के सभासद होने से इनका समय ११ वीं सदी में निश्चित है। इन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे, जो इस प्रकार हैं :

१. पाइअलच्छी नाममाला–प्राकृतकोश, २. तिलकमंजरी : संस्कृत गद्यकाव्य, ३. अपने छोटे भाई शोभन मुनिकृत स्तोत्र, ग्रंथ पर संस्कृत टीका, ४. ऋषभ पंचा-शिका-प्राकृत, ५. महावीर-स्तुति, ६. सत्यपुरीय, ७. महावीर-उत्साह-अपभ्रंश और ८. वीरथुई।

१९. मेरुतुंगाचार्य : इन्होंने अपना प्रसिद्ध ऐतिहासिक सामग्री से परिपूर्ण ग्रन्थ प्रवन्ध-चिन्तामणि वि. सं. १९३१ में लिखा। इसमें पाँच सर्ग हैं। इसके अतिरिक्त विचारश्रेणी, स्थविरावली और महापुरुप चरित या उपदेशशती जिसमें ऋपभदेव, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्धमान तीर्थकरों के विपय में जानकारी है, की रचना की।

२०. तारणस्वामी : तारण पंथ के प्रवर्तक आचार्य थे। इनका जन्म पुहुपावती नगरी में सन् १४४८ में हुआ था। पिता का नाम गढ़ा साव था। वे दिल्ली के वादशाह वहलोल लोदी के दरवार में किसी पद पर कार्य कर रहे थे। आपकी शिक्षा श्री श्रुतसागर मुनि के पास हुई। आपने कुल १४ ग्रंथों की रचना की, जो इस प्रकार हैं: १. श्रावकाचार, २. मालाजी, ३. पंडित पूजा, ४. कलम वत्तीसी, ५. न्याय समुच्चयसार, ६. उपदेशशुद्धचार, ७. त्रियंगीसार, ८. चौवीस ठाना, ९. नमल पाहु, १०. मुन्न स्वभाव, ११. सिद्ध स्वभाव, १२. स्वात का विशेप, १३. छद्मस्थ वाणी और १४. नाममाला।

२१. मंत्रिमण्डन : मंत्रीमण्डन झांझण का प्रपौत्र और वाहड़ का पुत्र था। यह चहुँमुखी प्रतिभावान था। मालवा के सुलतान होशंग गौरी का प्रधानमंत्री भी था। इसके द्वारा लिखे गये ग्रंथों का विवरण इस प्रकार है: १. काव्य मण्डन : इसमें पांडवों की कला का वर्णन है; २. शृंगार मण्डन : यह शृंगार रस का ग्रंथ है, इसमें १०८ श्लोक हैं; ३. सारस्वत मण्डन : यह सारस्वत व्याकरण पर लिखा गया ग्रंथ है, इसमें ३५०० श्लोक हैं; ४. कादम्वरी मण्डन : यह कादम्वरी का संक्षिप्तीकरण है, जो सुलतान को सुनाया गया था। इस ग्रंथ की रचना सं. १५०४ में हुई थी; ५. चम्पूमण्डन : यह ग्रंथ पांडव और द्रोपदी के कथानक पर आधारित जैन संस्करण है, रचना-तिथि सं. १५०४ है; ६. चन्द्रविजय प्रवन्ध : इस ग्रंथ की रचना-तिथि सं. १५०४ है। इसमें चन्द्रमा की कलाएं, सूर्य के साथ युद्ध और चन्द्रमा की विजय आदि का वर्णन है; ७. अलंकारमण्डन : यह साहित्य-शास्त्र का पांच परिच्छेद में लिखित ग्रंथ है। काव्य के लक्षण, भेद और रीति, काव्य के दोप और गुण, रस और अलंकार आदि का इसमें वर्णन है। इसकी रचना-तिथि भी संवत् १५०४ है; ८. उपसर्गमण्डन : यह व्याकरण रचना पर लिखित ग्रंथ है; ९. संगीतमण्डन : संगीत से सम्वन्धित ग्रंथ है; १०. कविकल्पद्रुमस्कन्ध : इस ग्रंथ का उल्लेख मण्डन के नाम से लिखे ग्रंथ के रूप में पाया जाता है।

२२. धनदराज : यह मण्डन का चचेरा भाई था। इसने शलकत्रय (नीति, शृंगार और वैराग्य) की रचना की। नीतिशतक की प्रशस्ति से विदित होता है कि ये ग्रंथ उसने मंडपदुर्ग में सं. १४९० में लिखे।

अति विस्तार में न जाते हुए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मालवा में जैन सारस्वतों की कमी नहीं रही है। यदि अनुसंधान किया जाये तो जैन सारस्वतों और उनके ग्रंथों पर एक अच्छी संदर्भ पुस्तक लिखी जा सकती है। ☐☐

इस अंक के लेखक

वासुदेव अनन्त मांगळे : मुनिश्री विद्यानन्दजी के शिक्षा-गुरु; श्री शान्तिसागर, छात्रावास शेडवाल, जि. बेलगांव (कर्नाटक)।

वीरेन्द्रकुमार जैन : कवि, कथाकार, संपादक; गोविन्द निवास, सरोजिनी रोड, विले पारले (पश्चिम), बम्बई-५६।

उमेश जोशी : कवि, पत्रकार, साहित्य-संगम फीरोजाबाद के संस्थापक एवं अध्यक्ष।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' : संस्मरणकार; 'नया जीवन' (मासिक) के संपादक; विकास लिमिटेड रेलवे रोड, सहारनपुर (उ. प्र.)।

नरेन्द्र प्रकाश जैन : वक्ता; आचार्य पी. डी. जैन इण्टर कॉलेज, संपादक, 'पद्मावती सन्देश' (मासिक); १०४ नई बस्ती, फीरोजाबाद (आगरा), उ. प्र.

डा. दरबारीलाल कोठिया : जैन तत्वज्ञ; रीडर दर्शनशास्त्र, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी; अध्यक्ष, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्; चमेली कुटीर, १/१२८, डुमराव कॉलोनी, अस्सी, वाराणसी-५ (उ. प्र.)।

मिश्रीलाल जैन : कवि, कहानीकार; एडवोकेट; पृथ्वीराजमार्ग, गुना (म. प्र.)।

श्रीमती रमा जैन : अध्यक्षा, भारतीय ज्ञानपीठ; ६, सरदार वल्लभभाई पटेल मार्ग, नई दिल्ली-२१।

कल्याणकुमार जैन 'शशि' : आशुकवि; वैद्य, जैन फार्मेसी, रामपुर (उ.प्र.)।

डा. अम्बाप्रसाद 'सुमन' : समीक्षक, भाषाविद्; डी. लिट्.; अध्यक्ष हिन्दी विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़; ८/७, हरिनगर, अलीगढ़ (उ.प्र.)।

देवेन्द्रकुमार शास्त्री : अपभ्रंश के विद्वान्, लेखक; सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, शासकीय महाविद्यालय, नीमच; शंकर मिल के सामने, नई बस्ती, नीमच (म. प्र.)।

गजानन डेरोलिया : पत्रकार; श्रीमहावीरजी, जि. सवाई माधोपुर (राजस्थान)।

डा. निजाम उद्दीन : लेखक, समीक्षक; अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इस्लामिया कॉलेज, श्रीनगर (कश्मीर) ।

नाथूलाल शास्त्री : प्राचार्य सर हुकुमचन्द दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय, इन्दौर; संपादक 'सन्मति-वाणी'; मोतीमहल, सर हुकुमचन्द मार्ग, इन्दौर-२ (म. प्र.) ।

रघुवीरशरण 'मित्र' : कवि, पत्रकार; २०४ ए, कला भवन, पुलिस स्ट्रीट, सदर मेरठ (उ. प्र.) ।

डा. ज्योतीन्द्र जैन : नृतत्वशास्त्री (एन्थ्रापोलॉजिस्ट), 'भारत में जैन कला और संस्कृति' पर प्रलेखन-कार्य में संलग्न; वर्तमान पता : वीरेन्द्रकुमार जैन, गोविन्द निवास, सरोजिनी रोड, विले पारले (पश्चिम), बम्बई-५६ ।

स्व. डा. नेमिचन्द्र जैन शास्त्री : ज्योतिष एवं जैनवाङ्मय के विद्वान्, भू. पू. अध्यक्ष संस्कृत तथा प्राकृत विभाग, एच. डी. जैन महाविद्यालय, आरा (विहार), 'तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा' नामक मरणोपरान्त प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ के रचयिता।

डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल : लेखक; निदेशक जैन साहित्य शोध संस्थान, महावीर भवन, सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर-३ ।

माणकचन्द पाड्या : समाजसेवी; कोषाध्यक्ष, श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर; मंत्री, श्री जैन सहकारी पेढ़ी मर्यादित, इन्दौर, १०/२, मल्हारगंज, इन्दौर-२ ।

जयचन्द जैन : कवि; ४२, शान्तिनगर, रेल्वे रोड, मेरठ ।

बाबूलाल पाटोदी : राजनीतिज्ञ, समाजसेवी, वक्ता; मंत्री, श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर; ७०।३, मल्हारगज, इन्दौर-२ ।

पद्मचन्द्र जैन शास्त्री : प्राकृत के विद्वान्, प्राचार्य प्राकृत विद्यापीठ, पचकुला (हरियाणा) ।

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री : लेखक; संपादक 'जैनबोधक' (मराठी), 'जैनगजट' (हिन्दी); कल्याण भवन, पूर्व मंगलवार (पेठ) सोलापुर-२ (महाराष्ट्र) ।

नईम : नवगीतकार; सहायक प्राध्यापक हिन्दी विभाग, शासकीय महाविद्यालय, देवास; राधागंज, देवास (म. प्र.) ।

भानीराम 'अग्निमुख' : लेखक; सहायक संपादक 'अणुव्रत'; अणुव्रत कार्यालय, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नईदिल्ली-१।

माणकचन्द कटारिया : लेखक; संपादक 'कस्तूरबा-दर्शन'; कस्तूरबाग्राम, जि. इन्दौर (म. प्र.)।

मुनि रूपचन्द : जैनदर्शन के चिन्तक; द्वारा : भानीराम 'अग्निमुख', दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नईदिल्ली-१।

डा. नरेन्द्र भानावत : लेखक; प्राध्यापक जयपुर विश्वविद्यालय, संपादक 'जिनवाणी'; सी.-२३५-ए, तिलकनगर, जयपुर (राजस्थान)।

डा. महावीरसरन जैन : प्राध्यापक एवं अध्यक्ष हिन्दी और भाषा-विज्ञान विभाग, जवलपुर विश्वविद्यालय, जवलपुर।

धन्नालाल शाह : पत्रकार; हाथीखाना, भोपाल।

सरोजकुमार : कवि, वक्ता; प्राध्यापक हिन्दी विभाग, गुजराती महाविद्यालय, इन्दौर; ६८, वीर सावरकर मार्केट, इन्दौर।

भवानीप्रसाद मिश्र : कवि; संपादक, सर्वोदय (साप्ताहिक), गांधीमार्ग (त्रैमासिक), १९, राजघाट कॉलोनी, नई दिल्ली-१।

दिनकर सोनवलकर : कवि; सहायक प्राध्यापक, शासकीय महाविद्यालय, जावरा; जी-३, स्टक क्वार्टर्स, जावरा (रतलाम)।

जयकुमार 'जलज' : कवि, लेखक, भाषाविद्; प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, शासकीय महविद्यालय, रतलाम; सहयोग भवन, पावर हाउस रोड, रतलाम (म. प्र.)।

डा प्रेमसागर जैन : लेखक, समीक्षक; अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दिगम्बर जैन कॉलिज, बड़ौत (उ. प्र.)।

डा. प्रेमसुमन जैन : लेखक; प्रवक्ता, प्राकृत-संस्कृत विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय; ३४ अशोक नगर, उदयपुर (राजस्थान)।

नेमीचन्द पटोरिया : लेखक; ७७ पथरिया घाट स्ट्रीट, कलकत्ता-६।

बालचन्द्र जैन : पुरातत्त्ववेत्ता; उपसंचालक, पुरातत्त्व एवं संग्रहालय पूर्वी क्षेत्र, मध्यप्रदेश; रानी दुर्गावती संग्रहालय, जवलपुर (म. प्र.)।

डा. तेजसिंह गौड़ : लेखक; छोटा बाजार, उन्हेल (उज्जैन)।

☐

विज्ञापनदाता

१. ध्रांगध्रा केमिकल वर्क्स लि., वम्वई
२. मध्यप्रदेश लघु उद्योग निगम, भोपाल
३. दि नन्दलाल भंडारी मिल्स, इन्दौर
४. पी. पी. प्रोडक्ट्स, अलीगढ़ (उ. प्र.)
५. माधोलाल सुवालाल जैन, मेरठ
६. गुलावचन्द वसन्तकुमार, भोपाल
७. श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर
८. दि हीरा मिल्स लिमिटेड, उज्जैन
९. श्री जैन सहकारी पेढ़ी मर्यादित, इन्दौर
१०. टी. सोनी गारमेन्टस, इन्दौर
११. लोक स्वास्थ्य संचालनालय (परिवार नियोजन) मध्यप्रदेश, भोपाल
१२. मध्यप्रदेश स्टील इण्डस्ट्री, इन्दौर
१३. रामगोपाल चिरंजीलाल, इन्दौर
१४. उद्योग संचालनालय, मध्यप्रदेश, भोपाल
१५. भेरूलाल कपूरचन्द एण्ड कम्पनी, इन्दौर
१६. दी विनोद मिल्स कम्पनी लिमिटेड, उज्जैन
१७. दी इन्दौर मालवा युनाइटेड मिल्स लि., इन्दौर
१८. दी यूनाइटेड ट्रान्सपोर्ट केरियर, इन्दौर
१९. दी वैंक ऑफ राजस्थान लि., जयपुर
२०. रीगल इंडस्ट्रीज, इन्दौर
२१. दीपक इंजीनियरिंग कारपोरेशन, जयपुर
२२. सूचना तथा प्रकाशन संचालनालय, मध्यप्रदेश, भोपाल

२३. किशोर कम्पनी, इन्दौर

२४. पाटोदी एंड कम्पनी, इन्दौर
नरेन्द्र पाटोदी एंड कम्पनी, इन्दौर
नविता ट्रेडिंग कम्पनी, इन्दौर

२५. होटल शीशमहल, इन्दौर

२६. मित्तल उद्योग, इन्दौर

२७. दि स्वदेशी कॉटन एंड फ्लोअर मिल्स लिमिटेड, इन्दौर

२८. पर्यटन संचालनालय, मध्यप्रदेश, भोपाल

२९. कल्याणमल मिल्स , इन्दौर

३०. हुकमचन्द फ्लोअर मिल्स, सीतापुर (उ. प्र.)

३१. अहिंसा मन्दिर, दिल्ली

३२. होटल शाकाहार, दिल्ली

३३. भारतीय ज्ञानपीठ, नईदिल्ली

३४. श्रमण जैन भजन प्रचारक संघ, दिल्ली

३५. अशोक मार्केटिंग लिमिटेड, दिल्ली

३६. 'इलेक्ट्रा' परतापुर (मेरठ)

३७. न्यू मर्चेन्ट सिल्क मिल्स, इन्दौर

३८. भारत कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज लिमिटेड, बिरलाग्राम, नागदा (म. प्र.)

३९. फूलचन्द सेठी, दीमापुर (नागालैण्ड)

४०. नन्दलाल मांगीलाल जैन, दीमापुर (नागालैण्ड)

४१. चुन्नीलाल किशनलाल सेठी, दीमापुर (नागालैण्ड)

४२. मदनलाल सेठी, दीमापुर (नागालैण्ड)

४३. रायबहादुर चुन्नीलाल एंड कम्पनी, दीमापुर (नागालैण्ड)

४४. दीमापुर प्रोविजन स्टोर्स, दीमापुर (नागालैण्ड)

४५. हीरालाल कन्हैयालाल सेठी एण्ड सन्स, दीमापुर (नागालैण्ड)

४६. मोतीलाल डूंगरमल, दीमापुर (नागालैण्ड)

४७. राधाकिशन बालकिशन मुछाल, इन्दौर
कमल कम्पनी, इन्दौर
टेक्स्टाइल ट्रेडर्स, इन्दौर
राधाकिशन बालकिशन मुछाल एण्ड कम्पनी, देहली

४८. रामदास रामलाल, इन्दौर

४९. दीनानाथ एण्ड कम्पनी, इन्दौर
नरेन्द्रकुमार प्रकाशचन्द्र एण्ड कम्पनी, इन्दौर
सरस्वती ट्रेडिंग कम्पनी, इन्दौर

५०. रतनचंद कोठारी, इन्दौर
कोठारी एण्ड कम्पनी, इन्दौर
सुरेश एण्ड कम्पनी, इन्दौर

५१. मोहनलाल रामचन्द्र आगार, इन्दौर
कैलाशचन्द्र मोहनलाल आगार, इन्दौर

५२. श्रीमंत दानवीर सिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन ट्रस्ट, विदिशा (म. प्र.)

५३. लाला अजितप्रशाद जैन जौहरी, देहली

५४. सांड कम्पनी, इन्दौर
पेरामाउन्ट ट्रेडर्स, इन्दौर
जेठमल वख्तावरमल एण्ड कम्पनी, इन्दौर
व्लेंकेट ट्रेडिंग कम्पनी, इन्दौर

५५. राधाकिशन काशीराम, इन्दौर

५६. रतनलाल नानूराम, इन्दौर
सामरिया कम्पनी, इन्दौर
प्रेम टेक्स्टाइल, इन्दौर

५७. नवीनचंद एण्ड सन्स, इन्दौर
अनिल टेक्स्टाइल एजेन्सी, इन्दौर

५८. हिन्दुस्तान ऑक्सीजन एण्ड एसेटीलेंस कम्पनी, चिकम्बरपुर (गजियावाद)

५९. सुरेशकुमार चांदमल, इन्दौर

६०. नवयुग सीमेंट प्रॉडक्ट्स, इन्दौर

६१. अश्वनि एण्टरप्राइजेज, मेरठ
पैंव (इण्डिया), परतापुर (मेरठ)

६२. सेठ हीरालाल घासीलाल काला, इन्दौर

६३. शाह फतेचन्द मूलचन्द पाटनी, इन्दौर
फेशन फेब्रिक विक्री लि., इन्दौर
सुमतिप्रकाश सुशीलकुमार, इन्दौर

६४. रमेशचन्द्र मनोहरलाल वाहेती, इन्दौर
घनश्याम एण्ड कम्पनी, इन्दौर

६५. राधाकिशन झँवर, इन्दौर

६६. सिधुराम लछमनदास, इन्दौर
खेमचन्द गणेशदास, इन्दौर
गणेशदास राजकुमार, इन्दौर
गणेशदास सिधुराम, इन्दौर

६७. लखमीचन्द मुछाल, इन्दौर

६८. गम्भीरमल गुलाबचन्द, इन्दौर

६९. पवनकुमार एण्ड कम्पनी, दिल्ली

७०. घूमीमल विशालचन्द, दिल्ली

७१. श्री दिगम्बर जैन वीर पुस्तकालय, श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

७२. गिरधर ग्लास वर्क्स, फीरोजाबाद

७३. हरकचन्द रतनचन्द सेखावत, इन्दौर

७४. भगवानदास शोभालाल जैन, सागर

७५. नेतराम एण्ड सन्स, आगरा
हीरालाल एण्ड कम्पनी, आगरा

७६. भोजराज खेमचन्द भाटिया, इन्दौर

७७. गोधाराम छबीलदास, इन्दौर

७८. विनयकुमार एण्ड कम्पनी, इन्दौर

७९. नवलमल पुनमचन्द, इन्दौर

८०. दि राजकुमार मिल्स लि., इन्दौर

८१. श्री महावीर इंजीनियरिंग वर्क्स, बड़ौत

८२. महेन्द्रकुमार एण्ड सन्स, मेरठ

८३. दि हुकमचन्द मिल्स लि., इन्दौर

८४. गोयल एग्रीकल्चरल इण्डस्ट्री, बड़ौत

८५. बड़ौत इण्डस्ट्रीज, बड़ौत

८६. एस. कुमार एण्टरप्राइजेज (सिनफेक्स) प्रा.लि., बम्बई

८७. श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

□□

पारिवारिक जीवन का सच्चा सुख

अपने बच्चों को

सुखी स्वस्थ और हँसते-खेलते देखने में है

बच्चों को चाहिए

पौष्टिक भोजन, अच्छे कपड़े तथा अच्छी शिक्षा

और

यह सब संभव है, नियोजित परिवार में

बच्चों की संख्या दो या तीन से अधिक न हो

पारिवारिक सुख के लिए

भविष्य की समृद्धि के लिए

परिवार नियोजन कार्यक्रम अपनाइए

परिवार कल्याण के लिए

आज ही अपने निकट के

प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र

की ओर

जाइए

○ ○

लोक स्वास्थ्य संचालनालय (परिवार नियोजन) मध्यप्रदेश द्वारा प्रसारित

सू.प्र.सं./769/74-स.

'एक घूंट पानी के लिए तरसकर मरने वाले के शव पर सहस्र कलशों का पानी उलीचना जैसे व्यर्थ है, वैसे समय चले जाने पर किया जाने वाला पुरुषार्थ भी फलशून्य हो जाता है।

—मुनि विद्यानन्द

आत्म-निर्भरता के पथ पर मध्यप्रदेश के मजबूत कदम

अगले पांच वर्षों में हमारे प्रमुख लक्ष्य

☐ अनाज का उत्पादन 113 लाख टन से बढ़ाकर 158 लाख टन।

☐ सिंचाई का प्रतिशत 8.3 से बढ़ाकर 23 प्रतिशत।

☐ बिजली-उत्पादन-क्षमता 757.5 मेगावाट से बढ़ाकर 1060 मेगावाट करना।

साथ ही—

- *प्रत्येक जिले में कम से कम दो उद्योग।*
- *पैंतीस प्रतिशत ग्रामीण जनता को बिजली की सुविधा।*
- *एक हजार से अधिक आबादी वाले गांवों को सड़क से जोड़ना।*
- *ग्यारह वर्ष तक की आयु वाले सभी बालकों को शिक्षा सुविधा।*
- *प्रत्येक समस्यामूलक ग्राम में पीने के पानी की व्यवस्था भी हमारा लक्ष्य है।*

एकता, सहयोग और श्रम ही सफलता का मूल मंत्र है

(सूचना तथा प्रकाशन संचालनालय, मध्यप्रदेश भोपाल द्वारा प्रसारित)

सू. प्र. सं. ७६९५७४-अ

जैसे सहस्र-छिद्र चालनी से पानी निकल जाता है, वैसे ही इन्द्रिय-वशवर्ती का आयुष्य समाप्त हो जाता है।

—मुनि विद्यानन्द

समय : चिन्तामणि, कामधेनु

समय चिन्तामणि है, कामधेनु है, वांछित धन है। उससे कुछ भी मांगो पा जाओगे। समय श्रमाग्नि में तपकर सुवर्ण वन जाता है, अवसर की सीपी में गर्भ धारण कर मुक्ताफल हो जाता है, दुरधिगम समुद्र को मथकर रत्नराशि निकाल लाता है। संसार में जो कुछ किया गया है तथा किया जा सकता है, वह समय द्वारा ही सम्भव है।

—मुनि विद्यानन्द

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

- अध्ययन-मनन-तपोनिधि क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी के अनेक वर्षीय निष्ठायुक्त अनवरत परिश्रम की अप्रतिम देन ;
- शब्दकोशों तथा विश्वकोशों की परम्परा में अपूर्व, अद्वितीय, अतिविशिष्ट; सर्वथा व्यवस्थित नितान्त वैज्ञानिक दृष्टिकोणयुक्त एवं निर्मम वस्तुपरक दृष्टिशीलता का उदाहरण;
- चार खण्डों में, सुपर रायल अठपेजी आकार के लगभग ३००० पृष्ठों के इस महाकोश का भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशन ज्ञानजगत् में एक स्मरणीय घटना गिनी-मानी जायेगी;
- इस कोश में जैन तत्वज्ञान, आचारशास्त्र, कर्मसिद्धान्त, भूगोल, ऐतिहासिक तथा पौराणिक व्यक्ति, राजपुरुष एवं राजवंश, आगमशास्त्र और शास्त्रकार, धर्म तथा दार्शनिक समुदाय आदि से सम्बन्धित—
- ६००० से अधिक शब्दों और २०००० से अधिक विषयों का इस प्रकार सांगोपांग विवेचन किया गया है कि संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा में लिखित प्राचीन जैन वाङ्मय के समस्त मूल सन्दर्भ, उद्धरण एवं उनका हिन्दी अनुवाद सब एक साथ सामने आ जाये;
- फलतः यह कोश अनुसन्धाता विद्वानों, मनीषियों, प्रवक्ताओं, लेखकों एवं स्वाध्याय-प्रेमियों तथा साधारण पाठकों तक के लिए एक यथार्थ एवं विशिष्ट सन्दर्भ-सागर ग्रन्थ बन उठा है;
- जहाँ एक ओर यह दार्शनिक-सैद्धांतिक और भौगोलिक विषयों की प्रामाणिक विस्तृत सामग्री प्रस्तुत करता है, विभिन्न विषयों की सम्पुष्टि के लिए नाना शास्त्रीय प्रमाण तथा यत्र-तत्र बिखरे विशाल शास्त्रीय ज्ञान का क्रमबद्ध सार एक स्थल पर संकलित कर लाता है;
- वहीं दूसरी ओर किसी भी कारण से उलझन में पड़े जिज्ञासु-साधक को प्रकाश एवं समता प्रदान करता है और दार्शनिक जगत् में फैले विभिन्न मन्तव्यों को एक सूत्र में पिरोकर एक अखण्ड सुविशाल समायोजित तत्व का दर्शन कराता है।
- ३००० पृष्ठों के रूप में ज्ञान और शोध का, युग-युगों के चिन्तन और दर्शन का यथार्थ महासागर; तीन सौ से अधिक सारणियों एवं अनेक-अनेक मनोहारी चित्रों से सम्पन्न चारों खण्डों का मूल्य २१०रु. मात्र; समय रहते अपनी प्रति प्राप्त कर लें।

भारतीय ज्ञानपीठ, बी / ४५-४७ कॅनॉट प्लेस, नयी दिल्ली-११०००१

जहाँ महावीर ने जन्म लिया वहाँ वैशाली नहीं है, वह विशाल वैशाली हमारे हृदय में है। पावापुरी में सरोवर हमारा निर्मल मन है। सच्चा निर्वाणोत्सव हमें यहीं मनाना है; और महावीर के कामों को, उपदेशों को अपने तथा औरों के जीवन में उतारना है।

—मुनि विद्यानन्द

स्वतंत्रता का स्थान

जैसे सूर्य के पीछे प्रकाश आता है, बादलों के साथ-साथ विद्युत् स्फुरण होता है और जल के साथ शीतलता चली आती है, वैसे ही स्वाधीनता के साथ सभ्यता, संस्कृति, आत्मगौरव, शक्ति और सर्वगुण-सम्पन्नता के समूह चले आते हैं। शरीर में जो स्थान प्राणों का है, वही संसार में स्वतंत्रता का है।

—मुनि विद्यानन्द

ज्ञानवान् सर्वज्ञ हो जाता है। जिस विषय का स्पर्श करता है, वह उसे अपनी गाथा स्वयं गाकर सुना देता है। दर्पण में जैसे बिम्ब दिखता है वैसे ही उसकी आत्मा में सब कुछ झलकने लगता है।

—मुनि विद्यानन्द

ज्ञान : प्रतिक्षण नूतन

ज्ञान की पिपासा कभी शान्त नहीं होती। ज्ञान प्रतिक्षण नूतन है, वह कभी जीर्ण या पुराना नहीं पड़ता। स्वाध्याय, चिन्तन, तप, संयम, ब्रह्मचर्य आदि उपायों से ज्ञान-निधि को प्राप्त किया जाता है।

—मुनि विद्यानन्द

अहिंसा का उदय

'कृषि और ऋषि' तथा 'जिओ और जीने दो' संस्कृति का यशोगान कृतयुग से लेकर आज के विज्ञान-युग तक होने लगा है। संस्कृति के बिना मनुष्य 'मत्स्य' न्याय से ऊपर कहाँ उठ पाता है? अहिंसा का उदय श्रमण संस्कृति की भावधारा से हुआ है। ज्ञान मार्ग पर प्रेरणा के पाठ संस्कृति द्वारा लिखे हुए हैं। चिन्तन और ध्यान की गहराइयाँ संस्कृति के स्व-समय में ही पा सकते हैं। विश्व की संपूर्ण संपदाओं के प्रति अमोह, अनासक्ति, संस्कृति से प्राप्त सम्यग्दृष्टि का परिणाम है।

—मुनि विद्यानन्द

१९७४

राष्ट्र का मूल धन : श्रेष्ठ मानव

राष्ट्र को कल-कारखानों से, कोलतार-लिपी हुई सड़कों से, गगनचुम्बी भवनों से, निर्माण-पथ पर अग्रसर नहीं माना जा सकता। उसका मूलधन तो श्रेष्ठ मानव है। वह मानव जो सत्य, अहिंसा, अद्रोह, लाभ-हानि में समदर्शी है, जो विश्व के सुख-दुःख में सहभागी है। सबका प्यारा, सबसे न्यारा है। स्वरूपाचरणनिष्ठ, जिससे संसार सुखमय हो, परलोक सुगम हो, मुक्ति-पथ प्रशस्त हो।

—मुनि विद्यानन्द

सात्विकता : जीवन का समतल

जो महान् होना चाहता है, दीर्घ जीवन की कामना करता है, कुछ कर दिखाने का संकल्प रखता है, उसे सात्विक होना होगा। सात्विकता जीवन का वह समतल है, जिस पर प्रगति के पदचिह्न आसानी से अंकित किये जा सकते हैं।

—मुनि विद्यानन्द

स्वयं चलकर बतायें

हम भगवान राम के अनुयायी हैं, इक्ष्वाकुवंशी हैं, मनु के वंशधर हैं। इन्हीं वंशों के अनुरूप हम चलते आये हैं, चल रहे हैं, चलते जाएँगे, और आगे चलने के लिए देश को, दुनिया को सन्देश देते रहेंगे, स्वयं चलकर बतायेंगे।

—मुनि विद्यानन्द

समय के साथ खेलनेवालों से समय भी खेलता है, किन्तु समय की धूप (आतप) के साथ लगी हुई छाया को देखकर जो प्रकाश का समय रहते उपयोग कर लेते हैं, उन्हें अंधकार घिरने पर अकृतित्व, अभाव और अपनी अस्तित्व-समाप्ति का भय नहीं रहता ।

—मुनि विद्यानन्द

समय के साथ खेलनेवालों से समय भी खेलता है, किन्तु समय की धूप (आतप) के साथ लगी हुई छाया को देखकर जो प्रकाश का समय रहते उपयोग कर लेते हैं, उन्हें अंधकार घिरने पर अकृतित्व, अभाव और अपनी अस्तित्व-समाप्ति का भय नहीं रहता।

—मुनि विद्यानन्द

तोप

जैन दर्शन का मुख्य विषय है विचार में अनेकान्त, आचार में अहिंसा, वाणी में स्याद्वाद तथा प्रत्येक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व।

—मुनि विद्यानन्द

शरीर-मनुष्य, आचरण-मनुष्य

शरीर से मनुष्य होना अलग बात है और आचरण से मनुष्य होना अलग बात है। आज प्रायः शरीर-मनुष्य तो अति संख्या में हैं कि सरकार को उनके उदरपूरण के लिए विदेशों से अन्न-याचना करनी पड़ती है, परन्तु उनमें आचारवान् मनुष्य बहुत अल्प संख्या में हैं। जब आचारवान् अधिक होंगे, तब राष्ट्र सर्वतोमुखी उन्नति करेगा। गण-पूरकों ने कभी विजय प्राप्त नहीं की।

—मुनि विद्यानन्द
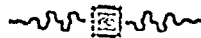
चरित्र खेत, सद्धर्म बीज

भारत धर्मभूमि है। अनादि काल से यहाँ के धर्म-कृपक अपने चरित्र के खेत में धर्म के बीज बोते आये हैं। भारतीयों के चतुर्विध पुरुपार्थ में प्रथम पुरुपार्थ धर्म है। यहाँ धर्म को उत्कृष्ट मंगल, पवित्र आचारांग, न्याय का आधार, जीवन की गन्तव्य दिशा, आदरणीयता का प्रमुख अंग, चिन्तन का सर्वोच्च आधार, वरेण्य, स्वस्तिप्रद, कल्याणकृत तथा परम सम्मान्य माना है।

—मुनि विद्यानन्द

विश्वधर्म-प्रवर्तक महान् आध्यात्मिक संत

मुनिश्री विद्यानन्दजी महाराज

के पावन चरणों में

शत-शत नमन

लखमीचन्द मुछाल

म. तु. क्लॉथ मार्केट, इन्दौर सिटी (म. प्र.)

तार : 'क्लाथ'

फोन : ३१४०५

जो चिन्तन के समुद्र पी जाते हैं, स्वाध्याय की सुधा का निरन्तर आस्वादन करते रहते हैं, संयम पर सुमेरु के समान अचल-स्थिर रहते हैं, वे ज्ञान-प्रसाद के अधिकारी होते हैं।

—मुनि विद्यानन्द

'तप मनुष्य को सभी क्षेत्रों में समुन्नति देता है और उसे मनुज बनाता है; परन्तु तप से रहित को पतन का मार्ग ही देखना पड़ता है। 'तप' की विलोम स्थिति 'पत' है, जिसका अर्थ है पतन। अपने परिश्रम का परिणाम गुंजा और मणि दोनों में यदि मिल सकता है, तो कौन बुद्धिमान मणि छोड़कर गुंजा ग्रहण करना चाहेगा ?'

—मुनि विद्यानन्द

जो समय का मूल्य रखता है, समय उसका सम्मान करता है और जो समय खो देता है वह समय में खो जाता है।

—मुनि विद्यानन्द

अहिंसा, माता की गोद के समान समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करने वाली है।

—मुनि विद्यानन्द

मन, वचन और काय-संयम से ज्ञान का अकम्प दीपक जलता है। जो इन तीनों को त्रिवेणी-संगम नहीं दे सकता, उसके चंचल मन की आंधियां ज्ञान-दीपक को बुझाने का प्रयत्न करती रहती हैं। सद-असद का विवेक ज्ञान द्वारा ही संभव है।

—मुनि विद्यानन्द